कृति और कृतिकार

[बाणभट्ट की आत्मकथा के संदर्भ में]

लेखक
डा० सरनामसिंह शर्मा 'अरुण', जयपुर
हिन्दी-विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय,

विजय बुक डिपो
चौड़ा रास्ता, जयपुर

प्रकाशक :
विजय बुक डिपो
चौड़ा रास्ता
जयपुर

प्रथम संस्करण
जनवरी १९५५

मुद्रक :
नवल प्रिंटिंग प्रेस
चौड़ा रास्ता
जयपुर

लेखकीय

डा. हजारीप्रसाद द्विवेदी ने बाणभट्ट की आत्मकथा के रूप में हिन्दी-जगत् को एक अद्भुत साहित्यिक रत्न प्रदान किया है जिसके विविध पहलुओं में विविध प्रकार की ज्योति जगमगा रही है। इस रत्न के प्रकाश में चतुर पाठक अनेक प्रकार की गुत्थियाँ सुलझा सकता है।

मैंने इस कृति को जितनी बार पढ़ा उतने ही बार मुझे अधिकाधिक आनन्द का अनुभव हुआ और मैंने इसे जिस पहलू से देखा उसी ने मुग्ध कर लिया। अनेक पहलुओं से इसे देख कर मैंने जो विचार समय-समय पर संकलित किये हैं वही इस कृति में संगृहीत हैं। इसी कारण संग्रह के अनुबन्ध में आवृत्तियाँ-सी दृष्टिगोचर होती हैं, जिनका होना स्वाभाविक है। न तो मेरा यह विचार था कि मैं इस कृति पर कुछ लिखूँगा और न ही मैं अपने विचारों को पुस्तक का रूप देने के लिए कभी उत्कण्ठ था।

बार-बार पढ़ने से आत्मकथा ने मेरे विचारों को प्रेरित किया और अनेक लेख लिख डाले। बहुत से लेख तैयार हो जाने पर उन्हें पुस्तकाकार करने की लालसा बन गयी हुई और कुछ कतर-ब्योंत करके मैंने प्रस्तुत ग्रन्थ का रूप तैयार कर लिया।

इस ग्रन्थ के तैयार करने में मैं अपने आत्मप्रीत विद्यार्थियों की प्रेरणा का आभार स्वीकार किये बिना नहीं रह सकता क्योंकि उनके पीछे पड़े बिना मेरे प्रयत्न इस दिशा में प्रेरित न हुए होते। पीछे पड़ने वाले विद्यार्थियों में केशरलाल शर्मा का नाम विशेष-रूप से उल्लेखनीय है। शर्माजी के स्वार्थ ने और उनकी जिज्ञासा-वृत्ति ने जिस 'साहित्यिक परमार्थ' को प्रेरित किया उसे मेरा 'ब्रह्म' कभी भुला नहीं सकता है।

बाणभट्ट की आत्मकथा' हमारे विश्वविद्यालय के वातावरण में बहुचर्चित रही है। सम्बन्धित चर्चा में मेरे बोध को नये-नये परिपार्श्व मिलते रहे हैं। आलोचना के एक अंक ने तो मेरे विचारों को बहुत ही भड़का दिया। कुछ अच्छे अंशों को मैंने उद्धृत भी कर दिया है। 'ऐतिहासिक आधार' में इस प्रभाव को स्पष्टतः अनुभव किया जा सकता है।

मैं आचार्य द्विवेदीजी के प्रति आभार व्यक्त किये बिना नहीं रह सकता जिनके संपर्क ने मुझे उनकी स्वाभाविक और चारित्रिक विशेषताओं से परिचित करा दिया। यदि मैं डा० द्विवेदी के जीवन और स्वभाव से परिचित न होता तो सम्भवतः इतनी गहराई में डूब कर इसकी थाह न ले पाता। उन्हीं के मुख से उनके जीवन का परिचय पाकर और उन्हीं के पास रहकर उनके स्वभाव की आह्लादकता का लाभ उठाकर विचारों की इस बेढ़ी गठरी को मैं उन्हीं को समर्पित करता हूँ।

अरण्य कुटीर, जयपुर
२४-१०-६४

—लेखक

अनुक्रमणिका

१	आत्मकथा का प्रयोजन	१
२	स्वरूप-निर्णय	५
३	कथा-वस्तु	१६
४	रचना-शिल्प	२६
५	ऐतिहासिक आधार	३३
६	वस्तु-विन्यास और घटनाएं	४१
७	लेखक की आत्मकथा का अंश	४३
८	वातावरण	५७
९	जीवन-दर्शन	६६
१०	समाज-चित्रण	७६
११	प्रेम का स्वरूप	९६
१२	नारी का महत्त्व	१०३
१३	साधना तथा नारी	१०६
१४	नारी विषयक कुछ समस्याएं	११५
१५	प्रमुख पात्रों का मूल्यांकन	१२१
१६	शैली का प्रसंग	१३५
१७	भाषा-शैली	१४४
१८	कृति की विशेषताएँ	१५०
१९	कृतिकार की औपन्यासिक सिद्धियां	१५६
२०	कृतिकार की विशेषताएं	१६८
२१	उपसंहार	१७४

१ आत्म कथा का प्रयोजन

आलोचक के सामने सहसा यह प्रश्न उपस्थित होता है कि डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी बाणभट्ट की आत्मकथा लिखने के लिए क्यों प्रेरित हुए ? ध्यान रखने की बात है कि साहित्यकार अपने हृदय—अपनी अनुभूतियों को अनावृत करने के लिए सदैव लालायित रहता है। अपने भावों को कथायित करके वह किसी बड़े तोष को प्राप्त करता है। साधारणतः सभी लोग अपनी मानसिक सम्पत्ति की अभिव्यक्ति करके तुष्ट होते हैं किन्तु सभी के पास कला-शक्ति नहीं होती है। साहित्यकार के पास कला-शक्ति होने से उनके भाव व्यक्त होने के लिए अधिक मचलते और उद्वेलित होते हैं। जिसको पांडित्य का वरदान प्राप्त हो जिसका मस्तिष्क और हृदय उर्वर हो कला जिसकी सहचरी हो वह अपने अन्तर के अनावरण के लोभ का संवरण नहीं कर सकता। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी पंडित हैं विद्वान् हैं, उनका मस्तिष्क और हृदय सम्पन्न है। इन गुणों के अतिरिक्त वे एक महान् कलाकार हैं, फिर वे अपने अन्तर की सञ्चित निधि को प्रकाश न देते, यह उनके लिये कभी सम्भव न था।

अन्यत्र यह कहा गया है कि आचार्य द्विवेदी बाणभट्ट के बड़े प्रशंसक रहे हैं। जो बाण अनेक गुणों में आचार्यजी से मिलता है जिसकी निर्विकार मस्ती उनकी मौजी मस्ती से मिलती है और जिसके पांडित्य से वे अभिभूत हो चुके हैं उसकी शैली के प्रति उनका कितना आदर रहा होगा यह बात कहने की नहीं वरन् उनकी शैली को देख कर समझने की है। बाण की शैली हिन्दी में क्यों नहीं लाई जा सकती, आचार्य द्विवेदीजी ने 'आत्म कथा' में मानों इसी आशय को व्यक्त करने वाला उत्तर दिया है। कहने की आवश्यकता नहीं कि 'आत्मकथा' की गद्य-शैली बाण की शैली से बहुत मिलती है। बाणभट्ट की गद्य शैली के जो तीन रूप या स्तर मिलते हैं वही 'आत्मकथा' में भी द्विवेदीजी की गद्य-शैली के मिलते हैं। अतएव बाण की गद्य-शैली को हिन्दी में उतार दिखाने की चाह यदि आचार्यजी के मन में रही हो तो आश्चर्य नहीं।

पंडितजी के निबन्धों भाषणों और वार्ताओं को पढ़-सुन कर कुछ ऐसा भी प्रतीत होता है कि उनको वर्णनों के प्रति विशेष मोह है। बाणभट्ट के वर्णनों में रस आने के कारण वर्णनों में उनकी रुचि बन गई है। वर्णनों में शैली को जो छूट मिलती है वह अन्यत्र कठिन है। वर्णन दोनों ही प्रकार के होते हैं—एक तो दृश्यों या उत्सवों के वर्णन और दूसरे मनोदशा के निरूपक वर्णन। दोनों के माध्यम से बुद्धि और हृदय की निगूढ़ सम्पत्ति को प्रकाश में आने का अवसर मिलता है। समाज धर्म कला राजनीति आदि

के सम्बन्ध में लेखक को अपना मत व्यक्त करने की स्वतन्त्रता मिलती है। 'आत्मकथा' को देखकर यह प्रमाणित हो जाता है कि अध्ययन और मनन से ही नहीं वरन् समाज से संकलित अनुभवों के आधार पर लेखक ने अपने कुछ सिद्धान्त तैयार किये हैं और 'आत्म कथा' के वर्णनों में उनको व्यक्त करने का अवसर प्राप्त किया है। लेखक की वर्णन-प्रियता आत्मकथा में अपने चरमोत्कर्ष को पहुँच गई है।

कुछ लोगों का खयाल है कि आचार्यजी 'वर्णन-लोलुप' हैं। मेरा विचार है कि 'वर्णन-लोलुपता' कोई दोष नहीं है। साहित्य में वर्णन अपना स्थान रखते हैं। वे परिस्थितियों (भौगोलिक एवं सामाजिक) का परिचय कराते हैं और किसी कथा या प्रबन्ध को पोषक तत्त्व प्रदान करते हैं। रसास्वादन की भूमिका वर्णनों में ही विशेषरूप से तैयार हो सकती है। 'आत्मकथा के वर्णनों को पढ़कर ऊबने के स्थान पर पाठक उनकी बहुतों में सहयता जाता है उनको इति उनमें रमती है। ऐसे वर्णनों के प्रति लोलुपता का भाव किसी लेखक के लिए साधुवाद अर्जित कर सकता है। लेखक को वर्णन-लोलुप कहने से आलोचना को सम्मान नहीं मिल सकता। वर्णन-लोलुप कोई हो सकता है किन्तु वर्णनों को भावों से पुष्ट और भाषा से चमत्कारपूर्ण बना देना आसान बात नहीं है। इस काम के लिए शक्ति और क्षमता चाहिये और शक्ति का परिचय या प्रमाण मिलना चाहिये। यत एव शक्तिशाली साहित्यकार ही वर्णनों के बल से हर्षचरित की कुछ पंक्तियों के भाव को इतनी बड़ी 'आत्मकथा' के रूप में साकार कर सकता है। मैं समझता हूँ 'वर्णन लोलुप' न कह कर लेखक को 'कलाप्रिय' या 'कलाविद' मान लेना ही उचित है।

बाणभट्ट की आत्मकथा' को कथा देने में कुछ अंश हर्षवर्धन के युग का भी है। हर्षवर्धन का युग भारतीय स्वर्ण-युग की सीमा है। जिस प्रकार गुप्त-काल में संस्कृति और कला को गौरव मिला उसी प्रकार हर्ष-काल में भी उनको गौरव मिला। दोनों युगों ने अलग-अलग दो साहित्यिक स्तम्भों को जन्म दिया। गुप्तकाल को जैसा गौरव कवि कुल शिरोमणि महाकवि कालिदास ने दिया वैसा ही गौरव हर्षकाल को महाकवि बाण ने दिया। दोनों अपने-अपने युग के साहित्याकाश के चमकते तारे हैं; वरन् यह कह देना भी अनुचित न होगा कि दोनों ही भारतीय साहित्यकारों के उन्नत भाल की भास्वर मुकुट मणियाँ हैं। आचार्य द्विवेदी दोनों के प्रशंसक हैं, किन्तु दोनों के रचना-क्षेत्र भिन्न हैं। एक काव्य और नाटक के क्षेत्र में अद्वितीय है और दूसरा गद्य-कथा और रोमांस के क्षेत्र में। दोनों ही अपनी-अपनी शैली के प्रणेता हैं।

ऐसा कहना तो बड़ा भारी अनर्थ होगा कि डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी कवि नहीं हैं क्योंकि उनकी संस्कृत कविताएँ मैंने, किसी कवि-सम्मेलन में न सही चलते-फिरते या घर पर विश्राम के समय अथवा आमोद-वार्ता के समय सुनी हैं। हिन्दी में भी वे कविता करते होंगे मुझे ज्ञात नहीं। किन्तु 'आत्मकथा' के अनेक वर्णन काव्य-रस से आपूर्ण हैं। कविता भावों का कलात्मक निरूपण है तो अवश्य ही 'आत्मकथा' कविता

के दुर्लभ गुणों से सम्पन्न है। इसलिए लेखक को एक ओर तो आकर्षण रहा बाणभट्ट की गद्य-शैली के प्रति और दूसरी ओर हर्ष के युग की ओर रहा। युग और बाण की शैली ने बाण के प्रति लेखक के आकर्षण को द्विगुणित कर दिया।

इन बातों के अतिरिक्त लेखक और बाण के व्यक्तित्व में बहुत साम्य है। दोनों के आकार-प्रकार, वेष-भूषा बोल-चाल रीति-रिवाज और आचार-पद्धति में बहुत साम्य है। भाव-साम्य दोनों को बहुत निकट ले आता है। दोनों की जन्म-भूमि उस दिशा से सम्बन्ध रखती है जहाँ के ब्राह्मण अपनी निष्ठा के लिए प्रसिद्ध हैं। मैं समझता हूँ कि इस साम्य भाव ने भी डा० द्विवेदी को बाणभट्ट की आत्मकथा लिखने की प्रेरणा दी।

हर्षवर्धन अखण्ड भारत का अन्तिम चक्रवर्ती सम्राट था। उसी के पश्चात् भारत की अखण्डता का विघटन होने लग गया। विदेशियों ने भारत पर आक्रमण का तांता लगा दिया और इधर देश की दबी हुई विरोधी शक्तियाँ भी उभरने लगीं। इस युग के बाद भारत दासता की दिशा में बढ़ता चला गया और इस कृति के रचना-काल तक देश उस दासता से मुक्त न हुआ जिसका बीजारोपण हर्ष के शासन के पश्चात् ही होने लग गया था। यह युग एक देश-भक्त की दृष्टि से ही स्मरणीय नहीं है, वरन् एक साहित्य-प्रेमी की दृष्टि से—एक महान् कलाकार की दृष्टि से भी बड़ा महत्त्वपूर्ण है, जिसमें बाण-जैसा अद्वितीय गद्य-शैलीकार उत्पन्न हुआ। अतएव बाणभट्ट के साथ यह युग भी स्मरणीय है। बाणभट्ट की आत्मकथा मेरी दृष्टि में बाण से सम्बन्धित एक महान् स्मारक है जो हर्ष के उस युग का भी स्मरण दिलाता है जिसमें अनेक वर्णों और धर्मों को स्वतन्त्रता थी और जो भारत की अखण्ड स्वतन्त्रता का अन्तिम काल-स्तम्भ था।

'आत्मकथा' की प्रेरणा के अनेक स्रोतों को खोजते हुए यह न भुला देना चाहिये कि कलाकार और जादूगर में बहुत साम्य होता है। दोनों सामाजिकों के कुतूहल बढ़ाने की रुचि रखते हैं। जिस प्रकार जादूगर अपने खेलों से दर्शकों को दंग करना चाहता है, उसी प्रकार कलाकार अपने साहित्यिक खेलों से अपने पाठकों को चकित कर देना चाहता है इस रुचि के पीछे आत्म-तोष और यश की इच्छा तो रहती ही है, साथ ही उसकी चमत्कार प्रियता भी बलवती होती है। डा० द्विवेदी की इस कलाकृति की प्रेरणा के सम्बन्ध में उनकी चमत्कार-प्रियता को भुलाया नहीं जा सकता। कलाकार वह है जो अपनी एक छोटी से छोटी बात को सुन्दर और मोहक बनाकर प्रस्तुत कर सके। यों तो अभिव्यक्ति सामान्य से सामान्य व्यक्ति के पास भी होती है किन्तु वाग्विदग्धता हर किसी की बपौती नहीं होती। वह किसी को प्रकृति के वरदान के रूप में मिलती है और किसी को अनुकरण और अभ्यास से ही प्राप्त हो जाती है। 'आत्मकथा' के लेखक को वाग्विदग्धता प्रकृति के वरदान के रूप में प्राप्त हुई है और इसका उपयोग अपनी रचनाओं में उसने अपने पाठकों को प्रभावित चकित और विस्मित करने के लिए किया है। लेखक ने इस

कृति में जिस साहित्यिक छल का उपयोग किया है, वह भी उसकी चमत्कारिणी प्रवृत्ति का ही एक अंग है।

बाण के सम्बन्ध में राहुल सांकृत्यायन की कटूक्तियों से मर्माहत होकर भी बाण भट्ट के आचरण की प्रतिरक्षा के लिए लेखक को 'आत्मकथा' लिखने की प्रेरणा मिली। बाण स्वेच्छाचारी था नटी-नर्तकियों के साथ रहता था, पुमक्कड़ था नाटकाभिनयों में रुचि रखता था काम कलाविद् था और इतर अनेक कलाओं का मर्मज्ञ भी था, किन्तु इन सब बातों से उसकी लम्पटता सिद्ध नहीं होती। उसके आचरण भ्रष्ट होने का कोई प्रमाण नहीं मिलता। इस भाव को लेकर आचार्य द्विवेदी को राहुलजी की उक्ति के विरोध में भी 'आत्मकथा' के मैदान में उतरना पड़ा। इन सबके अतिरिक्त पाश्चात्य उपन्यास-साहित्य में भी इस शैली का प्रचलन बहुत लोक-प्रिय बन गया था। हिन्दी-साहित्य में भी इस शैली को प्रवेश मिल गया था। 'शेखर: एक जीवनी' ने उपन्यास-क्षेत्र में एक तहलका मचा दिया था। डा० द्विवेदीजी जो उस समय तक आलोचक के ही रूप में प्रसिद्ध थे, आत्मकथा लिखने के लोभ का संवरण न कर सके। आत्मकथा-शैली के उपन्यास प्रायः ऐतिहासिक पीठिका पर नहीं चल सकते, क्योंकि ऐसे उपन्यास का नायक कोई ऐसा इतिहास-प्रसिद्ध व्यक्ति होना चाहिये जिसकी जीवनी इतिहास में मिल सके। ऐतिहासिक व्यक्ति के सम्बन्ध में जीवन-चरित्र सरलता से लिखा जा सकता है, किन्तु आत्मकथा लिखने के मार्ग में कुछ कठिनाइयाँ प्रस्तुत होती हैं क्योंकि प्राचीन काल में एक तो बहुत कम लोगों ने अपने परिचय दिये हैं, दूसरे आत्मकथा के रूप में किसी ने अपना परिचय नहीं दिया। सच तो यह है कि साहित्य के क्षेत्र में तो आत्मकथा बिल्कुल नहीं लिखा है। संस्कृत में कवियों की आत्मकथा का मिलना तो बहुत दूर की बात है, यहाँ कवि-जीवन-परिचय भी बहुत कम मिलता है। बाण ने 'हर्ष-चरित्' में अपना थोड़ा-सा परिचय देकर अपने सम्बन्ध में जानने के लिए पाठकों की जिज्ञासा को मैदान उपस्थ कर दिया है। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने सारी पाठकों की इस जिज्ञासा के शमन के लिए और उपन्यास की नवीन विधा को हिन्दी में स्थापित करने के लिए 'बाणभट्ट की आत्मकथा' लिखी है। यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि आत्मकथा अपने आप में अपूर्ण होती है और बाणभट्ट के सम्बन्ध में यह प्रसिद्ध है कि उसकी सभी साहित्यिक कृतियाँ अपूर्ण हैं। इसलिए 'बाणभट्ट की आत्मकथा' की आड़ में लेखक की सफल उपन्यास-कला सफल हो जाती है।

२. स्वरूप-निर्णय

'बाणभट्ट की आत्मकथा' नाम लेखक की अपनी जीवनी होने की सूचना देता है। इससे यह प्रकट होता है कि यह बाणभट्ट की आत्मकथा है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि बाणभट्ट ही इसका लेखक है। कथा के यशस्वी सम्पादक डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इस कृति को 'अभिनव कृति' कह कर प्रशस्त किया है। इससे दो संकेत ग्रहण किये जा सकते हैं: एक तो यह कि संस्कृत-साहित्य में आत्मकथा लिखने की इस प्रकार की कोई परम्परा नहीं थी और यदि यह बाणभट्ट की आत्मकथा है तो संस्कृत-साहित्य में सचमुच बाणभट्ट का यह एक अभिनव प्रयोग है; दूसरा संकेत यह लिया जा सकता है कि यह कृति हिन्दी का अभिनव साहित्यिक प्रयोग है। इस संकेत के द्वारा स्वयं डाक्टर साहब ने 'बाणभट्ट की आत्मकथा' का पर्याप्त कर दिया है अर्थात् यह एक ऐसी है जिसका उपयोग इसके लेखक ने बड़ी सावधानी से किया है।

सम्पादक महोदय ने भूमिका में सूचना दी है कि बाणभट्ट की आत्मकथा की मूल लिपि आस्ट्रिया वासिनी मिस कैथराइन को जिसको उन्होंने दीदी नाम से अभिहित किया है, योगेश्वर-माया के परिणामस्वरूप उपलब्ध हुई। कथाक्रम से हमें यह सूचना भी मिलती है कि मिस कैथराइन को संस्कृत-हिन्दी का अच्छा अभ्यास था इसलिए उन्होंने संस्कृत की मूल रचना का हिन्दी-अनुवाद बड़ी रुचि के साथ कर डाला।

सचमुच दीदी की कलम एक जादू की कलम रही है अथवा मिस कैथराइन के बुर्के में कलम का कोई सम्भ्रान्त जादूगर छिपा हुआ है, जो न जाने, किस लाज से, किस झिझक से उसके बाहर नहीं आना चाहता। निस्सन्देह कृति की इस रहस्यमयी व्यवस्था ने 'अभिनव प्रयोग' को सार्थक बना दिया है।

इससे बाणभट्ट की आत्मकथा की प्रामाणिकता का प्रश्न इसके पाठक के सामने प्रमुख रूप से आता है, क्योंकि सत्य प्रकाशित हुए बिना नहीं रह सकता और जहाँ गोपन-प्रयत्न किसी उद्दाम को उद्बुद्ध करते हैं वहाँ सत्य-लाभ की चेष्टाएँ भी उद्दाम हो जाती हैं। यह तो लगभग स्पष्ट ही है कि यह रचना प्रामाणिक नहीं है—इसलिए कि उसकी हस्त-लिपि या उसका लेखक (बाणभट्ट) लुप्त है। हाँ, उसको गोपनता की माया का परिणाम अवश्य बतलाया गया है पर वह कहाँ, कैसे और किस रूप में उपलब्ध हुई इस सम्बन्ध में कोई स्पष्ट संकेत नहीं मिलता। उसकी कोई हस्तलिखित प्रति रही होगी, यह बात संदेहास्पद है। 'घोणनद के बालुका-कणों से उठी हुई मर्मभेदी पुकार' ही वास्तव में बाणभट्ट की मूक वाणी है जो लेखक की अन्तर-प्रेरणा है अनुवाद तो केवल बहाना है।

संस्कृत-साहित्य में आत्मकथा की परम्परा नहीं रही है। यह कथा एक सुन्दर साहित्यिक प्रयास है। यदि सातवीं सदी की इस कृति का कहीं कोई अस्तित्व होता तो उसका प्रचार आँधी की भाँति हो जाता क्योंकि वह संस्कृत-साहित्य की एक अभूतपूर्व निधि होती। छिपाने से वह हरगिज़ नहीं छिपती उसका ढिंढोरा पिट गया होता। इसकी पांडुलिपि कैसी थी और उसका क्या हुआ इसका भी कोई पता नहीं चलता। पता तो तब न चलता जबकि उसका कहीं अस्तित्व होता। सच तो यह है कि पांडुलिपि एक हवाई चीज़ है इसीलिए वह बट्टे खाते में डाल दी गई है।

यदि यह मान लिया जाये कि वास्तव में कोई पांडुलिपि रही होगी तो बाणभट्ट की वह कृति संस्कृत में होगी। उसका अनुवाद संस्कृत और हिन्दी का कोई सिद्धहस्त विद्वान् ही कर सकता था ईसाई-हिन्दी के जानकार दीदी कैथराइन से उसके अनुवाद की आशा नहीं की जा सकती। सम्पादक महोदय ने आत्मकथा के वर्णनों के सम्बन्ध में फुटनोट में कादम्बरी आदि के जो संकेत दिये हैं वे बाणभट्ट की शैली का स्मरण कराते हैं अतएव बाणभट्ट जैसे कठिन एवं दुरूह-लेखक की कृति के अनुवाद में जिसमें बड़े-बड़े विद्वान पण्डित विफल हो जाते हैं, दीदी की सफलता की कल्पना नहीं की जा सकती।

जो दीदी हिन्दी-संस्कृत की विदुषी बन गई हैं और उनका भाषाधिकार इस सीमा तक पहुँच गया है कि बाणभट्ट की कृति का हिन्दी में अनुवाद कर डालती हैं उनसे यह भी अपेक्षा की जानी चाहिये कि वे अंग्रेज़ी भी जानती होंगी क्योंकि उस समय भारत में किसी विदेशी का काम अंग्रेज़ी के बिना नहीं चल सकता था। मिस कैथराइन को हिन्दी का ज्ञान भी अंग्रेज़ी के माध्यम से ही हुआ होगा। सामान्यतः मोक्ष और भारत के व्यावहारिक सम्बन्ध अंग्रेज़ी के माध्यम से ही सुरक्षित थे। अंग्रेज़ी ज्ञान की दशा में मिस कैथराइन ने आत्मकथा के अनुवाद का कार्य सम्पादक पर छोड़ा यह आश्चर्य की बात है।

जिस प्रकार बाणभट्ट की अन्य कृतियाँ उत्तराधिकार में उसके पुत्र को मिली थीं, उसी प्रकार आत्मकथा भी मिली होगी, अतएव अन्य कृतियों के साथ वह भी प्रकाश में आनी चाहिये थी; किन्तु उसका प्रकाश में न आना इस कारण की ओर संकेत करता है कि बाणभट्ट ने उसे अपने पुत्र से गुप्त रखा होगा। गोपनीयता की ऐसी बात तो इसमें कुछ है नहीं, अतएव यह भी नहीं माना जा सकता कि आत्मकथा बाण-पुत्र को न मिल कर गोपन-सम्बन्ध से इधर-उधर चली गई।

उपसंहार में सम्पादक के ये वाक्य बड़े महत्वपूर्ण हैं— "अस्सीवर्ष की यवन कुमारी देवपुत्र-नन्दिनी तथा आस्ट्रिया देशवासिनी दीदी ही हैं।" संपादक ने उपसंहार में दीदी का एक वाक्य भी उद्धृत किया है, वह यह है— बाणभट्ट केवल भारत

में ही नहीं होते।" ये दोनों वाक्य निर्णय की ओर जाते हुए पाठक को सहसा दूर खींच ले जाते हैं। सम्पादक का फिर एक प्रश्न पाठक की निर्णयात्मिका बुद्धि को प्रेरित करता हुआ इस प्रकार उठता है—'आस्ट्रिया में जिस नवीन बाणभट्ट का आविर्भाव हुआ था वह कौन था? हाय, दीदी ने क्या हम लोगों के प्रलोभन अपनी उसी कवि-प्रेमी की आँखों से अपने को देखने का प्रयत्न किया था? यह कैसा रहस्य है। दीदी के सिवा और कौन है जो इस रहस्य को समझा दे। मेरा मन उस बाणभट्ट का संधान पाने को व्याकुल है।' इन वाक्यों से यह स्पष्ट है कि आत्मकथा बाणभट्ट की लिखी हुई नहीं है वह तो एक काव्य की कल्पना-मात्र है। आत्मकथा के वातावरण में ऐतिहासिक रङ्ग होते हुए भी इसका लेखक प्राचीन बाणभट्ट नहीं है, वह एक नवीन बाणभट्ट है और उसकी आत्मकथा एक नवीन आत्मकथा है जिसकी प्रामाणिकता की कलई अपने आप ही खुल जाती है।

इसकी अप्रामाणिकता सिद्ध हो जाने पर भी यह प्रश्न अवशिष्ट रह जाता है कि क्या यह दीदी की रचना है? इस प्रश्न की सृष्टि उपसंहार के इन शब्दों से होती है—'हाय दीदी ने——अपने किसी कवि-प्रेमी की आँखों से अपने को देखने का प्रयत्न किया था।' उत्तर में यही कहा जा सकता है कि आत्मकथा दीदी की कृति कदापि नहीं है क्योंकि इसके वर्णन—प्राकृतिक, ऐतिहासिक एवं भावनात्मक—दीदी की शैली के परिचायक न होकर किसी सिद्धहस्त साहित्यकार की कृति हैं, जो यदि बाणभट्ट के नहीं हैं तो वे दीदी के भी नहीं हैं।

फिर इसका सिद्धहस्त विधाता—तीसरा व्यक्ति कौन है? अब वह सामने है, पर्दे के पीछे नहीं है और वे हैं पण्डित हजारीप्रसाद द्विवेदी तथाकथित सम्पादक। यह रचना लेखक की केवल कार्यिणी प्रतिभा की सृष्टि ही नहीं है, अपितु उसकी भावयित्री प्रतिभा का अमोघ वरदान भी है।

लेखक ने अपनी शैली को विशेषता देने के लिए आत्मकथा से अपना स्पष्ट सम्बन्ध व्यक्त नहीं किया, किन्तु सम्बन्ध को समझने के लिए कथामुख और उपसंहार में अनेक संकेत मिल जाते हैं। उनमें से एक यह भी है—'सहृदय पाठकों के लिये यह कार्य छोड़ दिया गया।' इस वाक्य से सम्पादक ने परोक्ष रूप से कथा से अपना सम्बन्ध व्यक्त किया है। 'अनेक मित्रों के आग्रह, अनुरोध और उपेक्षा का ही यह परिणाम है।' यह वाक्य भी इसी सम्बन्ध को प्रमाणित करता है। आत्मकथा के आधार की घोषणा करके भी सम्पादक ने उससे अपना सम्बन्ध व्यक्त किया है। घोषणा इन शब्दों में हुई है—"बाणभट्ट और श्री हर्षदेव के ग्रन्थ कथा के प्रधान स्रोत बीज रहे हैं।' यह विनय-प्रकाशन भी सम्बन्ध की ही स्वीकृति है—'कथा जैसी है वैसी सहृदयों के सामने है।'

इन तर्कों के आधार पर संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि आत्मकथा बाणभट्ट की कृति नहीं है और न यह दीदी केथराइन की ही कृति है। यह डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी की कृति है, पद्य की अभिनव शैली है जिसे कथामुख और उपसंहार ने कुतूहल के परिवेश में रोचक एवं मोहक बना दिया है। आत्मकथा-शैली का प्रयोग अन्य देशों के गद्य-साहित्य में भी हुआ है, किन्तु बाणभट्ट की आत्मकथा की शैली पाठकों को दंग कर देने वाली है। यहाँ प्राचीन बाणभट्ट और नई रहस्यमयी दीदी, दोनों का साक्षात्कार लेखक ने एक ही साथ किया है।

इस रचना के स्वरूप के सम्बन्ध में अब तक विद्वानों में मत भेद बना हुआ है। किसी ने इसे आत्मकथा स्वीकार किया है और किसी ने उपन्यास। स्वर्गीय पंडित रामकृष्ण शुक्ल ने इसे 'गद्य कथा' कहा है जो अपने आप में विवादास्पद है। कुछ तत्वों को देख कर कुछ पाठक इसे इतिहास मानने की भूल भी कर सकते हैं और ऐसी ही भूल के कारण कुछ इसे जीवनी भी कह सकते हैं। अतएव यह निर्णय आवश्यक है कि वास्तव में यह रचना क्या है? इतिहास, जीवनी, गद्य कथा -आत्मकथा या उपन्यास? कुछ पात्रों और वातावरण के आधार पर बाणभट्ट की आत्मकथा को इतिहास मानने की भूल की जा सकती है किन्तु यह इतिहास नहीं है क्योंकि इतिहास का संबंध किसी युग से रहता है किसी व्यक्ति विशेष से नहीं। यह युग के परिवेश में समाज की अनेक प्रवृत्तियों का विवरण प्रस्तुत करता है और युग की सीमाओं में आने वाले प्रमुख व्यक्तियों के उन क्रिया-कलापों का उल्लेख भी करता है जिनका समाज से सीधा सम्बन्ध होता है। प्रस्तुत कृति किसी युग की विवरणिका को प्रमुखता नहीं देती, बल्कि बाणभट्ट को प्रमुखता प्रदान करती है। बाणभट्ट के सम्बन्ध में ही सामाजिक प्रसंग उठ खड़े होते हैं। परोक्ष या अपरोक्ष रूप में बाणभट्ट से चाहे उनका कुछ भी सम्बन्ध हो और उसके व्यक्तित्व के निर्माण में चाहे उनका कितना ही हाथ रहा हो, किन्तु बाणभट्ट के प्रकाश को वे अपनी छाया से आवृत नहीं कर सकते। उनमें से किसी की उपेक्षा करने से बाणभट्ट का कुछ बनता-बिगड़ता नहीं है, केवल उसके जीवन का कोई पहलू अपने प्रकाश को लेकर प्रकाश-पुंज से वंचक हो सकता है और यदि उन प्रसंगों में से बाणभट्ट तिरोहित हो जाता है तो कृति में उनका कोई मूल्य नहीं रहता। इससे स्पष्ट है कि बाणभट्ट की आत्मकथा इतिहास नहीं है।

इसके अतिरिक्त इतिहास युग निरूपण को जो महत्व देता है वह व्यक्तियों को नहीं देता और न उसका कोई व्यक्ति पूरे युग के घटना-चक्र से ही संबद्ध होता है किन्तु बाणभट्ट की आत्मकथा में बाणभट्ट समूचे घटना-चक्र में ओतप्रोत है;- इसलिए भी यह रचना इतिहास नहीं है।

इतिहास घटनाओं को प्रधानता अवश्य देता है, किन्तु उनके तारतम्य का अंकित-

निर्वाह उसमें अनिवार्य नहीं होता। यह तारतम्य-निर्वाह प्रस्तुत कृति में मिलता है। इसका तात्पर्य यह है कि यह कोई इतिहासेतर विधा है।

'आत्मकथा' को इतिहास न मानने का एक कारण यह भी है कि इसमें घटना तिथियों की एकदम उपेक्षा करदी गई है जबकि इतिहास उनकी उपेक्षा नहीं कर सकता

इसके अतिरिक्त इस ग्रन्थ में भावयित्री प्रतिभा का योग है। परिस्थितियों और घटनाओं के भावात्मक कथन अलङ्कारों के सम्बन्ध से कवि-कला को प्रकट कर देते हैं, जिससे कृति का इतिहास-रूप मिट जाता है।

८ वातावरण के अन्तर्गत जिन परिस्थितियों का प्रतिरूपण किया गया है उन सब में प्रामाणिक तथ्यों की पीठिका नहीं है। तुवरमिलिन्द, भट्टिनी, निपुणिका आदि पात्र इतिहास-सम्मत नहीं हैं। साथ ही जिस राजनीतिक आकृति और सामाजिक-व्यवस्था का उल्लेख है वह भी इतिहास-सिद्ध नहीं है और यदि इन्हें प्रमाणित मान भी लें तो भाषण और संवादों का रूप इस कृति को इतिहास से निकाल कर साहित्य के क्षेत्र में ले आता है।

इस रचना की प्रवृत्ति चरित्र चित्रण की ओर रही है किन्तु यह इतिहास की प्रकृति के अनुकूल नहीं है। इतिहास कहीं-कहीं चरित्र-वर्णन तो कर देता है किन्तु चरित्र-चित्रण उसकी परिधि से बाहर की चीज है।

'आत्मकथा' भाव-पीठिका पर प्रतिष्ठित होकर रस-निष्पत्ति की आयोजना करती है जबकि इतिहास वस्तु-संकलन और विश्लेषण करके यथातथ्यात्मकता को ही प्रोत्साहन देता है; परिणामतः वह भाव-व्यवस्था में प्रवृत्त नहीं होता।

इस विवेचन के आधार पर यह स्पष्ट है कि बाणभट्ट की आत्मकथा इतिहास नहीं है।

जीवनी

यदि यह इतिहास नहीं तो क्या जीवनी है? बाणभट्ट की आत्मकथा' नाम से ही पाठक के सामने सहसा दो प्रस्ताव आते हैं—एक तो यह कि बाणभट्ट की लिखी हुई यह उसी की कहानी है और दूसरा यह कि यह नाम संभवतः किसी अन्य व्यक्ति का रखा हुआ है। दूसरे प्रकार का भ्रम 'शेखर: एक जीवनी' जैसे नाम से भी होता है। जिस प्रकार 'शेखर: एक जीवनी' को भ्रम से कोई पाठक 'आत्मकथा' समझ सकता है उसी प्रकार बाणभट्ट की आत्मकथा' को वह भ्रम से एक जीवनी की संज्ञा दे सकता है। वस्तुतः दोनों विधाओं में अतुल अन्तर है किन्तु उन दोनों के साम्य स्तर से ही भ्रम की सृष्टि हो जाती है।

ये दोनों विधाएं बहुत कुछ मिलती हैं। दोनों का लेखक एक पर्यवेक्षक की भांति तथ्यनिरूपण करता है। वह जो कुछ देखता या सुनता है उसको उसी रूप में प्रस्तुत करता है। किसी भी दशा में उसके वस्तु-निरूपण पर कल्पना का रंग नहीं चढ़ना चाहिये। जहां वह चढ़ता है वहां जीवनी या आत्मकथा अपनी सीमा का व्यतिक्रमण करके अपने लक्ष्य से विभ्रष्ट होती चली जाती है। दोनों का लेखक अपनी भावनाओं का पुट देकर वस्तु-निरूपण को अन्तर्वृत्ति के हाथों नहीं सौंप सकता, उदाहरण के लिए, जिस प्रकार जीवनी-लेखक इस प्रकार के वाक्य नहीं लिख सकता—यदि बापू अपने कमरे से बाहर आ गये होते तो चोरों ने उन्हें मार डाला होता उसी प्रकार आत्मकथाकार ऐसे वाक्य नहीं लिख सकता—'यदि संदेह न आता तो मैं मर गया होता', क्योंकि 'क्या हुआ होता' इस प्रश्न के उत्तर में कुछ कहना कल्पना को अधिक प्राधान्य देना है। जो कुछ होता वह तो भविष्य की बात है। जीवनी या आत्मकथा का लेखक कल्पना या अनुमान के नाप-दण्डों से भविष्य के अनुसान्य गर्भ को नहीं नाप सकता।

जीवनी में सत्य अपनी वस्तु-स्थिति में रहता है वह अपने अस्तित्व को कल्पना की उड़ानों के हवाले नहीं कर सकता। जीवनी या आत्मकथा दोनों ही अपनी घटनाओं को किसी सम्प्रयोजन सारतत्त्व में पिरोकर किसी विशिष्ट फलागम की ओर बढ़ाती है। जीवनी और आत्मकथा दोनों में एक-संबद्ध होती हैं जबकि इतिहास अनेक-सम्बद्ध होता है। इसके अतिरिक्त इतिहास घटनाओं को सामने रखकर पात्रों को पीछे रखता है और जीवनी या आत्मकथा चरित-नायक को प्रमुख रखती है; घटनाएं उसके पीछे चलती हैं। जीवनी के नायक अन्य रचनाओं की अपेक्षा अधिक विस्तारवत और स्पष्ट होता है। अनेक साधनों और घटनाओं की बहुलता जीवनी और आत्मकथा में अपना महत्त्व नहीं छोड़ती। जीवनी की सफलता तो इसमें है कि उसमें प्रकट तथ्यों की प्रतिष्ठा होती है और कभी महापुरुष से सम्बन्धित होने पर उसकी सार्थकता भी बढ़ जाती है। उसमें आदर्श चरित्र की व्यवस्था होती है। जीवनी का लक्ष्य वस्तुता के मसालों से चटपटा बनना नहीं है। जीवनी-लेखक को यह अधिकार नहीं होता कि वह अपने नायक के जीवन की यथातथ्यता से दूर हट कर कल्पना के साथ उड़ता फिरे। जीवन को फलगर्भ बनाना उसकी अनधिकार चेष्टा होगी। कथाकार ऐसा कर सकता है। वह अपनी रचना का नायक किसी साधारण व्यक्ति को बनाकर उसे रोचक बनाने के लिए रचनाकारस्व सामग्री और वातावरण की व्यवस्था कल्पना के आधार पर भी कर सकता है। वह अपनी विधायिनी प्रतिभा का उपयोग खुलकर कर सकता है और विस्तारों में मनोनुकूल मुड़ाव दे सकता है किन्तु जीवनी-लेखक को यह अधिकार नहीं है। उसका काम तो एक मुनीम का-सा है जो एनी एनी पर का ब्यौरा रखता है। वह अपने नायक से सम्बन्धित प्रमाणित तथ्यों को अपने शब्दों भर में ढाल देता है। वह नायक के चरित्र या वस्तु-विस्तारों

से छेड़-छाड़ नहीं कर सकता। जीवनी भानुमती का कुनबा नहीं है जिसके जोड़ने में किसी भी ईंट-रोड़े का उपयोग कर लिया जाये। जीवनी के विस्तार अपना स्थान नहीं छोड़ सकते। जीवनी की प्रत्येक पंक्ति में नायक के चरित्र का प्रकाश होता है, अन्यथा उसका मूल्य विवर्जित होजाता है।

जीवनी-नायक के जीवन की घटनाएं प्रमाणित होती हैं जिनके साथ उसकी बौद्धिक हार्दिक एवं व्यावहारिक अनुभूतियाँ भी संचित रहती हैं। नायक के भाव, व्यापार, विचार एवं सम्पर्क का परिवेश लेखक के हाथों में अपनी मौलिकता या स्वतन्त्रता को खो नहीं बैठता।

जीवनी-लेखक अपने नायक के चरित्र के सम्बन्ध में अपनी ओर से नमक-मिर्च नहीं मिला सकता। इसका अभिप्राय यह हुआ कि वह नायक के चरित्र-वर्णन में अपने व्यक्तित्व को नहीं मिला सकता। इस प्रकार नायक का चरित्र अपनी मौलिक स्वतन्त्रता अक्षुण्ण रखता है। यद्यपि ऐसी जीवनियों का मिलना दुष्कर है किन्तु उनके लेखकों से अपेक्षा यही की जाती है कि अपने उद्देश्य की ओर उनकी पहुँच निर्वैयक्तिक हो। यद्यपि इस सम्बन्ध में यह मत भी प्रचलित है कि लेखक नायक के विषय में अपना दृष्टिकोण भी प्रस्तुत कर सकता है और नायक-विषयक तथ्यों की अभिव्यञ्जना उस प्रकार भी कर सकता है जिस प्रकार उनको उसने समझा है। लेखक का यह प्रयास वैयक्तिक कहलाता है।

यह मानी हुई बात है कि जीवनी-नायक कोई महापुरुष होता है। यद्यपि उसके जीवन के तथ्यों के सम्बन्ध में सचाई बरतना सामान्य लेखक के बस की बात नहीं है किन्तु सचाई और तटस्थता के बल से ही जीवनी की सफलता और सार्थकता सुरक्षित रह सकती है। इससे स्पष्ट है कि जीवनी का मौलिक पावन अस्तित्व उसकी वस्तुपरकता है।

जो दो मत जीवनी के सम्बन्ध में हैं वे ही आत्मकथा के सम्बन्ध में भी हैं। फिर भी दोनों में अन्तर है। जीवनी का लेखक नायक से भिन्न होता है, किन्तु आत्मकथा का नायक ही लेखक भी होता है। जीवनी अपनी परिधि में नायक के आचरण इतिवृत्त को समाविष्ट कर सकती है, किन्तु आत्मकथा में यह बात लगभग असम्भव है।

आत्मकथा उत्तम पुरुष में लिखी जाती है और जीवनी अन्य पुरुष में। इस आप-दण्ड के आधार पर यही सिद्ध होता है कि 'बाणभट्ट की आत्मकथा' जीवनी नहीं है क्योंकि वह उत्तम पुरुष में लिखी गई है। जीवनी तो वह इसलिये भी नहीं है कि उसके लेखक और नायक में अभेद दिखलाया गया है।

अर्धकथा

नाम और कुछ लक्षणों से ऐसा आभास मिलता है कि यह रचना आत्मकथा होगी किन्तु यह निर्णय उपन्यास के साथ करने का है और विस्तार लेगा। अतएव यहाँ अर्ध-कथा के सम्बन्ध में विचार कर लेना ही उचित होगा। स्वर्गीय पं० रामकृष्ण शुक्ल

'सिंहावलोकन' इसे 'अर्द्ध कथा' मानते हैं। इसमें जो अपूर्णता का आभास मिलता है सम्भवतः वही शुक्लजी की मान्यता का कारण रहा हो। अपूर्णता का आभास तो इसलिये होता है कि इसको आत्मकथा के फ्रेम में बैठाने का उपक्रम किया गया है। कहने की आवश्यकता नहीं कि आगे वाला प्रतिखण्ड आत्मकथा को अधूरी सिद्ध कर सकता है। स्वयं सम्पादक ने यह कहकर कि 'बाणभट्ट की कादम्बरी की भाँति यह रचना भी अपूर्ण है' पाठकों के भ्रम के लिए पर्याप्त कारण प्रस्तुत कर दिया है। शुक्लजी के भ्रम का एक कारण यह भी हो सकता है। वास्तव में अपनी शैली में यह कृति अधूरी कथा नहीं है। अधूरी-जैसी प्रतीत होना तो इसकी एक विशेषता है, एक कुतूहल की सृष्टि है जो इसको अधिक साहित्यिक सिद्ध करती है।

आत्मकथा या उपन्यास

यदि बाणभट्ट की आत्मकथा इतिहास नहीं जीवनी नहीं और अर्द्धकथा भी नहीं तो क्या 'आत्मकथा' ही है जैसा कि उसके नाम से प्रतीत होता। यह रचना उत्तमपुरुष में है और लेखक और नायक में अभेद भी दिखाया गया है। इस शैली के पर्दे के पीछे इस कृति को 'आत्मकथा' के प्रतिबिम्ब में व्यक्त किया गया है पर वास्तव में यह आत्मकथा नहीं है, क्योंकि इसके विरोध में अन्य तर्कों के साथ एक यह भी है कि इसमें भावनाओं और कल्पनाओं का प्रहरा पुट है। साथ ही इसमें रस-योजना का प्रबल और किसी अदृश्य या अज्ञात की प्रेरणा भी है। इस रचना में जो वर्णन दिये गये हैं उनमें बहुत-से रस-निष्पत्ति की दृष्टि से ही आयोजित किये गये हैं।

घटनाएँ साहित्यिक कथावस्तु के चौखटे में व्यवस्थित हैं। वर्तमान युग की अनेक समस्याओं को इतिहास के फ्रेम में जड़कर सच्चा-जैसा दिखलाने का प्रयत्न भी किया गया है पर इतिहास उन सबका साक्षी नहीं है। चरित्र-चित्रण के प्रति आवश्यक प्रयास भी 'आत्मकथा' को आत्मकथा सिद्ध करने में बाधक होता है। इसके अतिरिक्त कथासूत्र और उपसंहार में जो गुण मिले हैं उनसे भी इस कृति का आत्मकथा होना असिद्ध होजाता है।

पाठकों और आलोचकों के सामने इस अभिनव प्रयोग के कारण अक्सर निर्णय का प्रश्न खड़ा हो जाता है। प्रश्न यह है कि आत्मकथा और उपन्यास में से इसे क्या कहा जाये।

ऊपर संकेत किया जा चुका है कि आत्मकथा के निर्णय का मूलाधार उसका लेखक होता है। वह स्वयं अपने जीवन का व्योरा देता है। उपन्यास का लेखक आसेतर किसी नायक के सम्बन्ध में उसकी रचना करता है, भले ही वह नायक या किसी अन्य पात्र की आत्मा में प्रच्छन्न और परोक्ष रूप से प्रविष्ट रहे। आत्मकथा की भाँति वह उपन्यास में अपने जीवन की कथा प्रत्यक्ष रूप से नहीं कह सकता।।

उपन्यास की अपेक्षा आत्मकथा का लिखना बहुत सरल है क्योंकि उसका कोई

विशेष 'टेक्नीक' नहीं होता, किन्तु उपन्यास का 'टेक्नीक' होता है जिसमें दूसरे के जीवन की झाँकी प्रस्तुत की जाती है। आत्मकथाकार अपने जीवन की सब घटनाओं को चित्रित कर सकता है, किन्तु उपन्यासकार अपने नायक के जीवन की प्रमुख घटनाओं का ही उपयोग करता है—वह केवल उन घटनाओं का उपयोग करता है जो उसकी कृति को सरस और प्रभावशाली बनाएँ। वह अपने नायक के जीवन के मार्मिक स्थलों को छाँटकर उन्हीं की व्यवस्था में उसे सफल बनाने की चेष्टा करता है। अतएव उसका काम सामान्य पर्यवेक्षक का नहीं है, अपितु एक सूक्ष्म द्रष्टा का होता है जिसकी दृष्टि शीघ्र ही मर्मस्थल पर पहुँच जाती है।

उपन्यास के पात्र, स्थान आदि कल्पित भी हो सकते हैं, किन्तु आत्मकथा में कल्पना के लिए कोई अवकाश नहीं होता। यह ठीक है कि उपन्यास की कथावस्तु प्रख्यात भी हो सकती है किन्तु उत्पाद्य और मिश्रित कथावस्तु उपन्यास में कल्पना के स्थान को अधिक निश्चित कर देती है। अधिकांशतः यही देखा जाता है कि उपन्यासों में कल्पित कथा-वस्तु का ही विशेष उपयोग किया जाता है। उपन्यास के रोमांस तत्त्व की सजावट तो कल्पना से ही होती है।

आत्मकथा की वस्तु में विन्यास की समस्या नहीं उठती और न वह कल्पना का ही सहारा लेती है। आत्मकथाकार 'अपनी वस्तु' को कहीं बाहर से नहीं ला सकता। उसकी निर्मिति भूत और वर्तमान की सीमाओं में ही हो सकती है, भविष्यत् से आत्मकथा का कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता।

आत्मकथा की कथावस्तु में इतिहास का अंश हो सकता है, किन्तु वह उसकी सब ऐतिहासिक नहीं होती है। उसमें इतिहास का अंश इसलिए होता है कि उसमें आत्मकथा-कार के अतीत की झाँकी भी रहती है, किन्तु उपन्यास में 'ऐतिहासिक भूत' अनिवार्य नहीं है।

उपन्यास की कथावस्तु का अवसान किसी लक्ष्य में होता है। उसकी सब घटनाएँ उसी की ओर मुड़ती चली जाती हैं। आत्मकथा का अवसान किसी लक्ष्य में नहीं होता अतएव उसकी घटनाओं में किसी लक्ष्य की प्रेरणा से पारस्परिक सम्बन्ध की योजना नहीं दिखाई देती।

कला उपन्यास को सौन्दर्य प्रदान करती है और सुन्दर तात्त्विक योजना ही उसकी सफलता है। उपन्यास इस योजना की उपेक्षा नहीं कर सकता। आत्मकथा कला को उतना ही आश्रय देती है जितना आत्म-विवरण के लिए अपेक्षित होता है। जिस प्रकार कुतूहल और औत्सुक्य उपन्यास में आवश्यक समझे जाते हैं, उस प्रकार आत्मकथा में नहीं समझे जाते, प्रत्युत आत्मकथा में सामान्यतः उनके लिए कोई अवकाश नहीं होता। उपन्यास-

ार के सामने कितनी ही शैलियां हैं। वह उनमें से किसी को अपना सकता है, किन्तु आत्मकथाकार के सामने कोई विकल्प नहीं होता।

आत्मकथा का अन्त कहाँ होना चाहिये, यह उसके लेखक के वश की बात नहीं है। अतः आत्मकथा में किसी नियत उद्देश्य की योजना नहीं हो सकती, किन्तु उपन्यास में एक निश्चित उद्देश्य होता है। जब तक आत्मकथा यथातथ्यता की भूमिका पर प्रतिष्ठित रहती है वह अपने अभिप्राय को पूर्ण करती है अन्यथा उससे विचलित होकर असफल हो जाती है। जो कुछ हुआ है, आत्मकथा तो केवल उसी से सम्बन्धित होती है और उपन्यास 'जो कुछ हो सकता है' उससे भी सम्बन्धित हो सकता है। अतएव 'जो कुछ नहीं हुआ है', उपन्यास के क्षेत्र में वह भी आ सकता है। उपन्यास के नायकादि पात्रों के सम्बन्ध में भी यही बात लागू होती है। उपन्यास के पात्र सम्भवनीयता के गर्भ से भी उत्पन्न हो सकते हैं जबकि आत्मकथा का नायक (अन्य पात्र भी) सत्य-प्रसूत होता है।

आदर्श की दृष्टि से उपन्यासकार उसकी सृष्टि कर सकता है किसी कल्पित आदर्श की स्थापना कर सकता है किन्तु आत्मकथाकार ऐसा करने में असमर्थ होता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आत्मकथा में न तो उपन्यास का सा वस्तु-विन्यास होता है न वह कसावट और उद्देश्य ही। तर्क और उक्तियों की चुस्ती, संवादों की सजीवता, वर्णन की रंगसाजी कल्पना की उड़ान वस्तु का अवसान कुतूहल उत्पन्न करने की चेष्टा और कलाचातुर्य भी उपन्यास की ही विशेषता है।

उपन्यास अपनी काया के विकास के लिए अपना सर्वस्व अपने कर्ता को समर्पित करके उसका मुंह ताका करता है। इतना ही नहीं अपनी सम्पन्नता के लिए भी वह उसी के सामर्थ्य की अभिलाषा रखता है किन्तु आत्मकथा इन सबके प्रति निरासक्ति-भाव रखती है क्योंकि उसकी काया में झूठी माया का कोई योग नहीं होता है।

इस प्रकार आत्मकथा और उपन्यास का स्थूल अन्तर लेखक, कल्पना और उद्देश्य में निहित होता है, जिसमें वस्तु, पात्र, चरित्र-चित्रण शैली देशकाल और उद्देश्य-सभी समाविष्ट हो जाते हैं।

'बाणभट्ट की आत्मकथा' का लेखक बाणभट्ट नहीं है। कल्पनाओं के सम्बन्ध से वह उसकी सही जीवनी भी नहीं है अपितु एक व्यवस्थित वस्तु-विन्यास विगत पात्रों की सीमा में चरित्र की रेखाओं से प्राचीन और अर्वाचीन वातावरण के योग से एक सरल उद्देश्य की झाँकी देता है। झाँकी है पूर्ण और अक्षुण्ण प्रेम की जिसकी तृप्ति और निर्वाह एक समस्या है।

इन सब कारणों से 'बाणभट्ट की आत्मकथा' को आत्मकथा शैली में लिखा हुआ उपन्यास कहना ही अधिक समीचीन है। स्वयं लेखक ने इसे 'बहुत कुछ डायरी शैली' में लिखी हुई अभिनव रचना माना है। ऐसे प्रयोग पाश्चात्य साहित्य में हुए ही हैं और भारतीय साहित्य में भी बहुत हुए हैं। बँगला में स्वर्गीय डा० रवीन्द्रनाथ टैगोर का 'घर

बाहर' इसी शैली में एक सुन्दर साहित्यिक प्रयोग है। हिन्दी-साहित्य में अज्ञेय इलाचन्द्र जोशी, जैनेन्द्र आदि उपन्यासकारों ने भी यदि हू-बहू इस शैली का नहीं तो इससे मिलती-जुलती शैली का प्रयोग किया है।

वर्णनपुष्ट कहानीमात्र

कभी-कभी आलोचक की कलम से यह आवाज भी उठ खड़ी होती है कि 'बाण भट्ट की आत्मकथा' आत्मकथा शैली में लिखी हुई वर्णनपुष्ट कहानीमात्र है। वास्तव में यह आवाज भी अपनी कुछ अहमियत रखती है क्योंकि आज जिस प्रकार उपन्यासकार छोटे-छोटे उपन्यास भी लिखते हैं उसी प्रकार कहानीकार बड़ी-बड़ी कहानियाँ भी लिखते हैं। आज की बड़ी से बड़ी कहानी किसी छोटे से छोटे उपन्यास से बड़ी हो सकती है किन्तु कलेवर के आधार पर इस कृति का परखना उसके साहित्यिक तत्वों की उपेक्षा करना है। उपन्यास और कहानी का कलेवर किसी मौलिक अन्तर को स्पष्ट नहीं कर सकता। दोनों का मौलिक अन्तर संवेदना और घटना से सम्बन्ध रखता है। उपन्यास किसी घटना चक्र को लेकर चलता है और कहानी में उस चक्र के लिए कोई अवकाश नहीं होता। आज की कहानी तो घटना को छोड़कर किसी संवेदना के गर्भ से ही जन्म ग्रहण कर लेती है। फिर भी घटनाप्रधान कहानियों के उदाहरण मिलते हैं, किन्तु अनेक घटनाओंवाली कहानियाँ 'लम्बा घ' के कलंक से मुक्त नहीं कही जा सकतीं। यदि बाणभट्ट की आत्मकथा को 'वर्णनपुष्ट कहानीमात्र' कहा जाये तो यह उसके टेक्नीक के साथ अन्याय होगा। यह मान्यता न केवल उसके साहित्यिक मूल्य की अवमानना होगी अपितु उसके कला-सौन्दर्य की क्रूर उपेक्षा भी होगी।

'इसमें सन्देह नहीं है कि बाणभट्ट की आत्मकथा में जो वस्तु-सूत्र सकलित किये गये हैं उनके जुड़ने से एक छोटा-सा कथानक ही तैयार होता है और यह भी सही है कि इस छोटे से कथानक को वर्णनों का पूरा बल मिला है, किन्तु अनेक समस्याओं के साहचर्य के साथ जिन घटनाओं ने बाणभट्ट के व्यक्तित्व से अपना सम्बन्ध जोड़ा है वे मूल कथा के साथ कुछ प्रसंगों की सृष्टि भी करती चलती हैं। निपुणिका के सम्पर्क से भट्टिनी की दुर्दशा का परिचय पाकर उसकी मुक्ति के लिए बाणभट्ट का प्रयत्न इस कृति की आधिकारिक कथावस्तु है तथा चंडीमंडप प्रयोगशाला एवं महामाया सुचरिता एवं विरतिवज्र कापालिक-क्रिया आदि प्रासंगिक कथाएँ हैं। इन्हीं से सारे उपन्यास का ताना-बाना तैयार हुआ है। वस्तु का यह सम्बन्ध-सूत्र इसको औपन्यासिक रोमांस के पद पर ही प्रतिष्ठित करता है।

इस विवेचन के आधार पर यही निष्कर्ष निकलता है कि 'बाणभट्ट की आत्मकथा' न तो इतिहास है न जीवनी, न अद्ध कथा न आत्मकथा और न वर्णनपुष्ट कहानी ही वरन् एक साहित्यिक आडम्बर के प्रातिभिक स्पर्शों का मनोहर एवं कुतूहलपूर्ण परिणाम है जो स्पष्टत आत्मकथा शैली का रोमांस है जिसमें डायरी शैली का भी कुछ योग है।

नामकरण और उसकी सार्थकता—

अन्यत्र यह निर्णय किया जा चुका है कि 'बाणभट्ट की आत्मकथा' आत्मकथा नहीं है। यह तो एक रोमांस है। फिर इसका यह नाम क्यों रखा गया है? इसका यह नाम रखने का क्या प्रयोजन है और क्या यह नाम सार्थक है? यह प्रश्न बहुत महत्त्व पूर्ण है।

नामकरण के अनेक आधार हैं। किसी रचना का नाम वस्तु, किसी का विषय किसी का पात्र, किसी का स्थान, किसी का फूल और किसी का नामकरण मुख्यार्थ, परिस्थिति या भाव के आधार पर रखा जाता है। इनके अतिरिक्त नामकरण के और भी बहुत से आधार हैं। साकेत पंचवटी पद्मावत रत्नावली, मृगनयनी, टेसू के फूल, रघुवंश प्रियप्रवास रजनीगंधा आदि नाम उक्त आधारों पर ही रखे गये हैं।

प्रस्तुत कृति का नामकरण इसके प्रमुख पात्र बाणभट्ट के नाम पर हुआ है। बाण भट्ट इस कथा का नायक है जिसमें उसके जीवन की घटनाओं का विवरण है, परन्तु इस नाम ने साहित्य जगत में एक भ्रांति पैदा की है। इस नाम से पाठक बड़े असमंजस में पड़ जाता है। इसको कुछ आलोचकों ने कुछ बड़ी बखान से, 'साहित्यिक छल' कहा है किन्तु मैं इसको कवि की प्रतिभा का उत्कर्ष समझता हूँ। वास्तव में डा० द्विवेदी की यह बड़ी भारी सफलता है कि वे कल्पना पर इतिहास का मुलम्मा चढ़ाने में कृतकार्य दिखाई पड़ते हैं। सबसे बड़ी बात तो यह है कि मुलम्मे को हम सोना समझ रहे हैं। मुलम्मा चढ़ाने वाला यह कहता है कि "पहिचानो यह नये ढंग का सोना है।" फिर भी हम उसके रूप पर मुग्ध हो जाते हैं।

'बाणभट्ट की आत्मकथा' लिखकर इसके लेखक ने—

(१) इसकी सफलता का श्रेय बाणभट्ट को दे दिया है,

(२) बाणभट्ट की प्रतिभा के भीतर से आवाज दी है कि इसके बनाने वाले को पहिचानो

(३) पाठकों के भ्रम को विश्वास में परिणित करने के लिए शैली का लाघव पैदा किया है बाणभट्ट की शैली का अनुकरण किया है,

(४) गवेषकों के लिए एक समस्या पैदा कर दी है,

(५) साहित्य को एक अभिनव प्रयोग दिया है, और

(६) आलोचकों के मतभेद के लिए अवसर दिया है।

आत्मकथा-शैली नवीन नहीं है, किन्तु कथावृत्त और उपसंहार के तथाकथित प्रमाणों ने जादूगरी के अंदाज से इस कथा को वास्तव में एक 'अभिनव प्रयोग' सिद्ध कर दिया है। निबन्धों कहानियों जीवनियों और उपन्यासों में ऐसे प्रयोग होते रहे हैं। आत्मकथात्मक निबन्धों में एकमात्र लेखक ही पात्र होता है। उनमें चिन्तन की व्यापार-

मिला होती है तथा कोई उद्देश्य दृष्टिगत नहीं होता। आत्मकथात्मक कहानियों में पात्र तो और भी हो सकते हैं किन्तु उद्देश्य अवश्य होता है। भावना का प्राधान्य और वर्णन-प्राचुर्य अपेक्षाकृत कम होता है। संवेदना लेखक के अन्तर की होती है। जीवनी जब लेखक की अपनी होती है तो वह आत्मकथा बन जाती है किन्तु नायक की कहानी नायक की जबान से वर्णित होने पर एक अन्य शैली का रूप ले लेती है। 'लेखक एक जीवनी' इसी प्रकार की कृति है।

'बाणभट्ट की आत्मकथा' बाणभट्ट की कहानी है, जिसको पं० हजारीप्रसादजी ने लिखा है। उन्होंने 'आत्मकथा' की बात कही है जो इस नामकरण में सार्थक हो रही है। समझनेवाले इसमें यह भी समझ सकते हैं कि बाणभट्ट की आत्मा डा० द्विवेदी में प्रविष्ट होकर अपनी कहानी कह रही है किन्तु मैं यह समझता हूँ कि डा० द्विवेदी बाणभट्ट के अन्तर में प्रवेश करके जो कुछ टटोल लाये हैं उसी को हमारे सामने लिखकर रख रहे हैं। डा० हजारीप्रसाद की द्वारा बाणभट्ट के अन्तर की गवेषणा के दो पहलू हैं एक तो ऐतिहासिक और दूसरा काल्पनिक या अनुमानिक। पहले पक्ष की ऐतिहासिक सामग्री बाणभट्ट की कृतियों या इतिहास के आधार पर जुटायी गयी है और दूसरे प्रकार की सामग्री वातावरण और परिस्थितियों के सम्बन्ध में कल्पना या अनुमान से तैयार की गई है जिसमें लेखक की अपनी अनुभूतियों की भी कुछ प्रेरणा रही है।

नामकरण की उपयुक्तता इसमें है कि वह आकर्षक हो औत्सुक्य या कौतूहल वर्धन तथा विषय या वस्तु से उसका तालमेल भी बना रहे।

'इस नामकरण' में आकर्षण का अभाव नहीं है। बाणभट्ट एक ऐसा व्यक्ति है जिसने कादम्बरी हर्षचरित आदि ग्रन्थों की रचना करके संस्कृत साहित्य की श्रीवृद्धि में अपना अपूर्व योग दिया है। खेद की बात है कि बाणभट्ट अपनी किसी भी कृति को पूर्ण न कर सका। ऐसे व्यक्ति की आत्मकथा का नाम सुनते ही पाठक के कान खड़े हो जाते हैं। सहसा उसके मस्तिष्क में यह विचार कौंध जाता है कि जो व्यक्ति अपनी किसी कृति को पूरी न कर सका क्या वह अपनी आत्मकथा पूरी कर सका होगा? वह यह जानने के लिए उत्सुक हो उठता है कि जो इतना बड़ा कवि था उसके जीवन-पथ का निर्माण किन सूत्रों से हुआ तथा किन-किन परिस्थितियों ने उसके काव्य को अपूर्ण रखवा दिया होगा। इस जिज्ञासा के मूल में यही नाम है अतएव इसका आकर्षण स्पष्ट है। यही बात तो यह है कि औत्सुक्य या कौतूहल के मूल में बाणभट्ट की ऐतिहासिक या साहित्यिक प्रसिद्धि है। जिसके सम्बन्ध में इतिहास भी कुछ अधिक न लिख पाया उसकी आत्मकथा न केवल इतिहास के पन्ने बढ़ानेवाली होगी वरन् उसको नूतन प्रकाश भी देगी। इस कौतूहल को लेकर श्रोता पर पाठक की पुनः सवार हुए बिना नहीं रह सकती।

नामकरण और उसकी सार्थकता—

अन्यत्र यह निर्णय किया जा चुका है कि 'बाणभट्ट की आत्मकथा' आत्मकथा नहीं है। यह तो एक रोमांस है। फिर इसका यह नाम क्यों रखा गया है? इसका यह नाम रखने का क्या प्रयोजन है और क्या यह नाम सार्थक है? यह प्रश्न बहुत महत्त्व पूर्ण है।

नामकरण के अनेक आधार हैं। किसी रचना का नाम वस्तु, किसी का विषय, किसी का पात्र, किसी का स्थान, किसी का युग और किसी का नामकरण मुख्यतः परिस्थिति या भाव के आधार पर रखा जाता है। इनके अतिरिक्त नामकरण के और भी बहुत से आधार हैं। साकेत, पंचवटी, पद्मावत, रत्नावली, मृगनयनी, टेसू के फूल, रघुवंश, प्रियप्रवास, रजनीगंधा आदि नाम उक्त आधारों पर ही रखे गये हैं।

प्रस्तुत कृति का नामकरण इसके प्रमुख पात्र बाणभट्ट के नाम पर हुआ है। बाण भट्ट इस कथा का नायक है जिसमें उसके जीवन की घटनाओं का विवरण है, परन्तु इस नाम ने साहित्य जगत में एक भ्रांति पैदा की है। इस नाम से पाठक बड़े असमंजस में पड़ जाता है। इसको कुछ आलोचकों ने, कुछ रवी बचन से, 'साहित्यिक फ्रॉड' कहा है किन्तु मैं इसको कवि की प्रतिभा का उत्कर्ष समझता हूँ। वास्तव में डा० द्विवेदी की यह बड़ी भारी सफलता है कि वे कल्पना पर इतिहास का मुलम्मा चढ़ाने में कृतकार्य दिखाई पड़ते हैं। सबसे बड़ी बात तो यह है कि मुलम्मे को हम सोना समझ रहे हैं। मुलम्मा चढ़ाने वाला यह कहता है कि 'पहिचानो यह नये ढंग का सोना है।' फिर भी हम उसके रूप पर मुग्ध हो जाते हैं।

'बाणभट्ट की आत्मकथा' लिखकर इसके लेखक ने—

(१) इसकी सफलता का श्रेय बाणभट्ट को दे दिया है,

(२) बाणभट्ट की प्रतिभा के भीतर से आवाज दी है कि इसके बनाने वाले को पहिचानो

(३) पाठकों के भ्रम को विश्वास में परिणित करने के लिए दीदी का साक्ष्य पैदा किया है बाणभट्ट की शैली का अनुकरण किया है

(४) गवेषकों के लिए एक समस्या पैदा कर दी है

(५) साहित्य को एक अभिनव प्रयोग दिया है, और

(६) आलोचकों के मतभेद के लिए अवसर दिया है।

आत्मकथा-शैली नवीन नहीं है किन्तु कथामुख और उपसंहार के तथाकथित प्रमाणों ने जादूगरी के अंदाज से इस कथा को वास्तव में एक 'अभिनव प्रयोग' सिद्ध कर दिया है। निबन्धों कहानियों जीवनियों और उपन्यासों में ऐसे प्रयोग होते रहे हैं। आत्मकथात्मक निबन्धों में एकमात्र लेखक ही पात्र होता है। उनमें चिन्तन की आधार

मिला होती है तथा कोई उद्देश्य दृष्टिगत नहीं होता। आत्मकथात्मक कहानियों में पात्र तो और भी हो सकते हैं किन्तु उद्देश्य अवश्य होता है। भावना का प्राधान्य और वर्णन-प्राचुर्य अपेक्षाकृत कम होता है। संवेदना लेखक के अन्तर की होती है। जीवनी जब लेखक की अपनी होती है तो वह आत्मकथा बन जाती है किन्तु नायक की कहानी नायक की जबान से वर्णित होने पर एक अन्य शैली का रूप ले लेती है। 'मेजर एक जीवनी' इसी प्रकार की कृति है।

बाणभट्ट की आत्मकथा बाणभट्ट की कहानी है, जिसको पं० हजारीप्रसादजी ने लिखा है। उन्होंने 'आत्मसंवेदन' की बात कही है जो इस नामकरण में सार्थक हो रही है। समझनेवाले इससे यह भी समझ सकते हैं कि बाणभट्ट की आत्मा डा० द्विवेदी में प्रविष्ट होकर अपनी कहानी कह रही है किन्तु मैं यह समझता हूँ कि डा० द्विवेदी बाणभट्ट के अन्तर में प्रवेश करके जो कुछ टटोल लाये हैं उसी को हमारे सामने लिखकर रख रहे हैं। डा० हजारीप्रसाद जी द्वारा बाणभट्ट के अन्तर की गवेषणा के दो पहलू हैं, एक तो ऐतिहासिक और दूसरा काल्पनिक या अनुमानिक। पहले पक्ष की ऐतिहासिक सामग्री बाणभट्ट की कृतियों या इतिहास के आधार पर जुटायी गयी है और दूसरे प्रकार की सामग्री वातावरण और परिस्थितियों के सदर्भ से कल्पना या अनुमान से तैयार की गई है जिसमें लेखक की अपनी अनुभूतियों की भी कुछ प्रेरणा रही है।

नामकरण की उपयुक्तता इसमें है कि वह आकर्षक हो औत्सुक्य या कौतूहल वर्धन तथा विषय या वस्तु से उसका तालमेल भी बना रहे।

इस 'नामकरण' में आकर्षण का अभाव नहीं है। बाणभट्ट एक ऐसा व्यक्ति है जिसने कादम्बरी हर्षचरित आदि ग्रन्थों की रचना करके संस्कृत साहित्य की श्रीवृद्धि में अपना अपूर्व योग दिया है। संयोग की बात है कि बाणभट्ट अपनी किसी भी कृति को पूर्ण न कर सका। ऐसे व्यक्ति की आत्मकथा का नाम सुनते ही पाठक के कान खड़े हो जाते हैं। सहसा उसके मस्तिष्क में यह विचार कौंध जाता है कि जो व्यक्ति अपनी किसी कृति को पूरी न कर सका क्या वह अपनी आत्मकथा पूरी कर सका होगा? वह यह जानने के लिए उत्सुक हो उठता है कि जो इतना बड़ा कवि था उसके जीवन-पट का निर्माण किन सूत्रों से हुआ होगा तथा किन-किन परिस्थितियों ने उसके काव्य को प्रचुर रूपता दिया होगा। इस जिज्ञासा के मूल में यही नाम है, अतएव इसका आकर्षण स्पष्ट है। यही बात तो यह है कि औत्सुक्य या कौतूहल के मूल में बाणभट्ट की ऐतिहासिक या साहित्यिक प्रसिद्धि है। जिसके सम्बन्ध में इतिहास भी कुछ अधिक न लिख पाया उनकी आत्मकथा न केवल इतिहास के पन्ने बढ़ानेवाली होगी वरन् उसको नूतन प्रकाश भी देगा। इस कौतूहल को लेकर श्रोता पर पाठक की पूर्ण सवार हुए बिना नहीं रह सकती।

कथामुख में प्रवेश करने पर तो नामकरण का आकर्षण और भी अधिक बढ़ जाता है। दीदी का प्रसंग एक उपन्यास है, जो शीर्षक की सोद्देश्यता तथा महत्ता को कहीं अधिक बढ़ा देता है। उपसंहार वास्तव में कथामुख का ही परिशिष्ट है और वह भी नामकरण के महत्त्व को प्रतिष्ठित करता है।

जो नाम कथावस्तु की यथातथ्यता में विश्वास को दृढ़ कर देता है वह सार्थक है और जो वास्तविकता का साथी नहीं होता, वह सार्थक नहीं होता। बाणभट्ट की आत्मकथा नाम को सुनकर ऐसा बोध होता है कि आत्मकथा का लेखक बाण है। बाण ही नायक है और उसी से सम्बन्धित कथा चलती रहती है। नाम का बस इतना ही काम है और वह इसकी पूर्ति करता है, अतएव सार्थक है।

४ कथा-वस्तु

यह कथा कादम्बरी तथा हर्षचरित के प्रणेता महाकवि बाणभट्ट को कथानायक बना कर अग्रसर हुई है। इसमें लेखक ने बाण के चरित पर प्रकाश डालनेवाली सामग्री का संकलन और उपयोग तो किया ही है साथ ही काल्पनिक प्रसंगों की प्रचुर उद्भावना ने भी उसकी गठन-कला को सहयोग दिया है। हर्षचरित' से पता चलता है कि बाण अपने कौमार्य में ही माता-पिता के संरक्षण से वंचित होकर कुछ-कुछ उच्छृंखल हो गया था। इस अवस्था में उसकी कुछ लेखकप्रसीन चपलताएँ भी संकेतित की गई हैं। बाण को देशाटन का बड़ा चाव था। अनेक देश-देशान्तरों को देखने के लिए उसका कौतूहल बढ़ा और विद्या और सम्पत्ति की थाती होते हुए भी वह घर से निकल पड़ा जिससे वह बड़ों के उपहास का पात्र बना।

वह जिस ब्राह्मण-कुल में उत्पन्न हुआ था उसकी अपनी निष्ठाएँ थीं। फिर भी अपने साथियों में विविध स्तरों और श्रेणियों के लोग सम्मिलित करके उसने अपनी उदारता और सर्वसमता का परिचय दिया। उसकी मण्डली में पुरुष और स्त्री, वैज्ञानिक एवं कलाकार, बौद्ध-भिक्षु तथा जैन-भिक्षु, गृहस्थ एवं परिव्राजक—सभी प्रकार के लोग थे। बाण ने लम्बा देशाटन किया और अपने यात्रा-काल में उसे राजकुलों गुरुकुलों मुनियों और विद्वानों के सम्पर्क में आने का अवसर मिला।

सम्राट् हर्ष के चचेरे भाई कुमार कृष्णवर्धन के आमन्त्रण पर बाण हर्ष की राज-सभा में उपस्थित हुआ। उसका परिचय पाकर सम्राट ने समीपस्थ भासवरुच के पुत्र (भागव गुप्त ?) से कहा—"यह महान् भुजंग है। इससे बाण उद्विग्न हो उठा और अपने कुल और गुणवर्णन के साथ उसने राजा से पूछा—'राजा ने उसकी क्या सम्पदता देखी है ?" "हम लोगों ने ऐसा सुना था" यह कह कर सम्राट् चुप हो गया। उसने सम्भाषण आसन आदि से बाण का सत्कार न करते हुए भी स्निग्ध दृष्टपातों से अपनी अन्तःप्रीति व्यक्त की। अपने निवास पर वापस लौटकर वह फिर सम्राट् के आमन्त्रण पर ही राज-भवन में गया, जहाँ उसे प्रचुर सम्मान प्रेम, विश्वास धन और मित्रोचित परिहास की प्राप्ति हुई।

'हर्षचरित' में बाण ने अपने कुल और स्वभाव का वर्णन करते हुए हर्ष के सम्पर्क का भी विस्तृत वर्णन किया है। इससे यह सरलता से अवगत हो सकता है कि विद्या, काव्य और कला के उपलाभ के साथ बाण को उदार हृदय भी उपलब्ध हुआ था। मानव

की दुर्बलता में अन्तर्निहित महत्ता का भी उसे सम्यक बोध था। 'हर्षचरित' और 'कादम्बरी' के बाण का परिचय प्रेम और सौन्दर्य के आदर्श में भी था, यह बात पाठक भली-भाँति जान सकते हैं।

बाण के गुण, स्वभाव और सदाचारत्व को प्रकाशित करनेके उद्देश्य से ही 'बाण भट्ट की आत्मकथा' की सृष्टि हुई है। बाण हर्ष कुमारकृष्ण, बावक भवु शर्मा एवमी आदि कुछ पात्र इतिहास से अनुमोदित हैं किन्तु इतर पात्रों के साथ अनेक घटनाओं और वर्णनों को कल्पना में ऐतिहासिक वातावरण को प्रकाशित होने का समुचित अवसर मिला है। निपुणिका भट्टिनी महामाया सुचरिता आदि अनेक पात्रों और उनके प्रसंगों की सृष्टि में लेखक की उर्वर कल्पना का सहयोग अविस्मरणीय है। कल्पना ने इतिहास का संयोजन इस प्रकार से किया है कि ऐतिहासिक पात्रों के चरित्र और तत्कालीन वातावरण के चित्रण में कोई असंगति नहीं आने पाई है। अतएव यह कहना अनुचित न होगा कि आत्म कथा के लेखक ने ऐतिहासिक बाण के चरित्र की स्थूल रेखाओं में कल्पना का कलात्मक रंग भर कर उसको पुनरुज्जीवित किया है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि आत्मकथा का केन्द्र बिन्दु बाणभट्ट के व्यक्तित्व में निहित है। जो वात्स्यायन-वंश इतना प्रख्यात था जिसमें बड़े उच्चस्तरीय पंडितों और विद्वानों ने जन्म लिया था उसी में बाण का भी जन्म हुआ।

बाण चित्रभानु भट्ट का पुत्र था। चित्रभानु बड़े कर्मिष्ठ ब्राह्मण थे। वे ग्यारह भाई थे। बाण की माँ का देहावसान बाण के बाल्य-काल में ही हो गया था। बाद में चित्रभानु ने उसका लालन-पालन बड़े स्नेह से किया। बाण अभी १४ वर्ष का ही था कि पिता भी स्वर्गवासी हो गये। उस समय उसके एक चचेरे भाई उद्भुपति ने जो उम्र में बाण से बहुत बड़े थे उसको उस स्नेह से सिंचित किया जो उसने बाल्यकाल में अपनी माता से पाया था। आयु में बहुत बड़े होते हुए भी उद्भुपति बाण के साथ समवयस्क का-सा व्यवहार करते थे। उस पर उद्भुपति का जितना प्रेम था उतना परिवार में उसके ऊपर और किसी का नहीं था। बाण को अनेक अपकर्मों से बचाने में उद्भुपति का विशेष योग था।

उद्भुपति प्रसिद्ध तार्किक थे। वसुभूति नामक बौद्ध भिक्षु को शास्त्रार्थ में उन्होंने ही पराजित किया था। उनकी विद्वत्ता और सुचरित्रता का प्रभाव महाराजाधिराज हर्ष वर्धन पर बहुत पड़ा था। उनके प्रभाव से ही महाराजा एकदम वैदिक मत की ओर प्रवृत्त हो गये थे।

पिता की मृत्यु के बाद उद्भुपति भट्ट की बड़ी अनुकम्पा होते हुए भी बाणभट्ट का नहीं हाल हुआ जो बहुधा बे-माँ-बाप के बच्चों का हुआ करता है। वह आवारा हो गया और नगर-नगर, जनपद-जनपद में बरसों मारा-मारा फिरता रहा। कभी वह नट बना

कभी उसने पुतलियों का नाच दिखाया, कभी नाट्य-मण्डली संगठित की और कभी पुराण वाचक का स्वाँग रचा। उसे दो गुण प्राप्त थे—रूपवान था और यशी भी था। उसके बहुविध कार्य-कलाप को देख कर लोग उसे 'भुजंग' समझने लगे थे।

एक दिन वह घूमता-घामता स्थाण्वीश्वर (थानेसर) नगर में जा पहुँचा। नगर में बड़ी धूमधाम थी। राजमार्ग पर बड़ी भारी भीड़ थी एक बड़ा जुलूस चला जा रहा था उसमें स्त्रियों की संख्या अधिक थी। अनेक नृत्य-गीत होते जा रहे थे। उस जुलूस को बाण-भट्ट चौराहे पर खड़ा होकर बड़े मुग्ध भाव से देखने लगा। भीड़ के दूर निकल जाने पर नगरवासियों से उसे पता चला कि महाराजाधिराज हर्षवर्धन के भाई कुमार कृष्णवर्धन के घर पुत्र-जन्म हुआ है और आज नामकरण-संस्कार होने जा रहा है।

उस समय बाण को अपना जीवन स्मृत हो आया। 'माँ गईं पिता गये और मैं अनाथ हो गया'—यह याद करके बाण का हृदय मचलने लगा। उसे याद आया कि मेरे जीवन में जो कुछ सार है वह मेरे पिता का स्नेह है। उसी से मैं बिगड़ा जी और बना भी। उसे शोक-संताप के अनुभव के साथ आत्म-ग्लानि भी हुई और उसके मन में आया कि पुत्र-जन्म के अवसर पर कुमार कृष्णवर्धन को बधाई दे आऊँ।

इस कामना ने उसे कुमार के भवन की ओर प्रेरित किया। मार्ग में निपुणिका की पान की दुकान थी। निपुणिका ने बाण को पहिचान लिया और उसके पुकारने पर उसने रुक कर देखा तो अपनी नाट्यशाला की निउनिया को देख कर वह विस्मय-विमुग्ध हो उठा। वह बाण को प्यार करती थी। अपने प्यार को ठेस पहुँची देख कर एक दिन वह नाट्य-मण्डली छोड़ कर भाग आई थी। उसके चले जाने पर बाण ने अपनी नाट्य मण्डली तोड़ दी थी।

अपनी विगत कथा कह चुकने के उपरान्त निउनिया ने बाण को बतलाया कि मौखरि-वंश के छोटे महाराज के घर में एक महीने से एक अत्यन्त साध्वी राजकुमारी अपनी इच्छा के विरुद्ध आकर है। फिर उसने डब-डबाई आँखों से कहा— 'भट्ट वह अशोक-वन की सीता है—तुम उसका उद्धार कर अपना जीवन सार्थक करो।' नारी-शरीर को देव मन्दिर समझने वाला सहृदय बाण सहमत हो गया और स्त्री-वेष बना कर निउनिया के साथ राजगृह में पहुँच गया। दोनों के सम्मिलित प्रयास से राजकन्या का (जिसे बाण भट्टिनी कहने लगा था) उद्धार हुआ। बाण को ज्ञात हुआ कि वह विषम समर-विजयी वास्तविक-विमर्दन प्रतापान्त बाहुक देवपुत्र तुवरमिलिन्द की आत्मजा है जो प्रतापान्त दस्युओं से अपहृत होकर दुर्भाग्य के चक्र में पड़ गई है।

प्रसिद्ध बौद्ध आचार्य सुगतभद्र ने भट्टिनी का समाचार जान कर कुमार हर्षवर्द्धन को बुलवाया और उसे समग्र स्थिति से अवगत करा दिया। भट्टिनी को स्थाण्वीश्वर के

राजकुल से इतनी घृणा हो गई थी कि वह राजकुल से सम्बद्ध किसी व्यक्ति के संरक्षण में रहने को तैयार न थी। निपुणिका और बाण के समक्ष राजदण्ड का भय था अतएव भट्टिनी और निपुणिका को लेकर बाण ने मगध की ओर चले जाने का निश्चय कर लिया। कुमार कृष्णवर्धन का सहयोग पाकर एक नौका द्वारा गंगा के मार्ग से बाण मगध की ओर चल दिया। संरक्षण के लिए इन लोगों के साथ चुने हुए मौखरि-वीर थे।

चरणाद्रि दुर्ग से आगे बढ़ने पर ईश्वरसेन (आभीर सामन्त) के सैनिकों को इस पर सन्देह हो गया। नाव को पकड़ने के प्रयत्न में बातों में युद्ध आरम्भ हो गया। इसी समय भट्टिनी गंगा में कूद पड़ी। उसे बचाने के लिए पहले निउनिया और फिर बाण भी कूद पड़ा। बड़ी कठिनाई से बाण भट्टिनी को किनारे पर लाया, किन्तु इस प्रयास में भट्टिनी के परमाराध्य महावराह की मूर्ति गंगा में ही विसर्जित करनी पड़ी। इस संकट-काल में उनको भैरवी महामाया की बड़ी सहायता मिली। निउनिया को खोजता हुआ बाण वज्र तीर्थ पर कात्यायनी देवी के मन्दिर पर मोह-मुग्ध-सा खिंचा हुआ चला आया। वहाँ अघोर घण्ट और वज्रमण्डना ने उसे देवी के समक्ष बलि देने का अनुष्ठान किया। इसी समय भट्टिनी और निपुणिका के साथ महामाया वहाँ पहुँच गई। बाण की रक्षा की और उसे अघोर भैरव की शरण में ले गई। तीन दिन तक बाण संज्ञा-शून्य पड़ा रहा। संज्ञा लौटने पर उसने भट्टिनी और निपुणिका के साथ अपने को अग्रे ईश्वर दुर्ग के आभीर सामन्त सोरि कलेव का अतिथि पाया। इसके पश्चात् बाणभट्ट अकेला ही स्थाण्वीश्वर गया और कुमार कृष्णवर्धन की सहायता से वह राजा के समक्ष पहुँचा। पहले कुछ अवहेलना और उपेक्षा भाव दिखाने के बाद राजा ने बाण को उचित सम्मान दिया और अपना राजकवि नियुक्त कर दिया। कुमार कृष्णवर्धन ने भट्टिनी को स्थाण्वीश्वर ले जाने के लिए बाण से अनुरोध किया और उसे समझाया कि वह भट्टिनी को सम्राज्ञी राज्यश्री का आतिथ्य स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत करे।

बाण के अग्रे ईश्वर लौटने पर उससे यह समाचार पाकर निपुणिका बड़ी उत्तेजित हुई। यह प्रस्ताव भट्टिनी को भी रुचिकर प्रतीत नहीं हुआ। भट्टिनी की वास्तविकता का परिचय पाकर सोरिकलेव ने उसकी एक समारोह में राजकीय सम्मान दिया। उधर आचार्य भर्तृवर्मा का वह पत्र जिसमें यह सन्देश था कि 'प्रत्यन्त वस्तु पुनः आरहे हैं और कन्या के विरह से उदासीन देवपुत्र तुवर मिलिन्द को पुनः युद्धभूमि के लिए प्रोत्साहित करने के लिये उनकी पुत्री का पता लगाया जावे', जन-जन में प्रचारित हुआ। अन्त में यह निश्चय किया गया कि सोरिकलेव के एक सहस्र सैनिकों के साथ भट्टिनी स्वतन्त्र सम्राज्ञी के समान स्थाण्वीश्वर जायें और सशस्त्र एक कोस की दूरी पर अपने स्कन्धावार में रहें।

इसी निश्चय के अनुरूप आचरण किया गया और कुमार कृष्णवर्धन ने भट्टिनी से मिलकर अपने सद्व्यवहार तथा मधुर भाषण से उनके मन के मैल को काट दिया।

कुमार ने ज्ञापित किया महाराज हर्षवर्धन की भगिनी (भट्टिनी) के प्रति अनुचित आचरण का उचित दण्ड मौखरि-वंश के छोटे राजा को अवश्य भोगना पड़ेगा।"

उस समय स्थाण्वीश्वर में उत्साह उमड़ रहा था। उसी समय वहाँ आचार्य भवु पाद भी आगये। उनके और महाराज के भट्टिनी के स्कन्धावार में आने के उपलक्ष्य में बाण ने 'रत्नावली नाटिका' के अभिनय का आयोजन किया। बाणभट्ट स्वयं राजा बना प्रसिद्ध नर्तकी चारुस्मिता रत्नावली बनी और निपुणिका वासवदत्ता की भूमिका में उतरी। बहुत सुन्दर अभिनय हुआ। निपुणिका ने उन्माद बरसा दिया। उसके हर्ष प्रेम और शोक के अभिनय में वास्तविकता थी। अन्तिम दृश्य में जब वह रत्नावली का हाथ राजा (बाण) के हाथ में देने लगी, तो विचलित हो गई। उसके शरीर की एक-एक शिरा शिथिल हो गई। भरतवाक्य समाप्त होते-न-होते वह धरती पर लोट गई। दर्शकों की 'साधु-साधु' की आनन्द ध्वनि से दिगन्त काँप उठा। उसी समय यवनिका के पीछे निपुणिका के प्राण उड़ने की तैयारी कर रहे थे। दौड़ कर भट्टिनी ने उसका सिर अपनी गोद में ले लिया और बहुत कातर होकर चिल्ला उठी, 'हाय भट्ट अभागिनी का अभिनय आज समाप्त हो गया उसने प्रेम की दो दिशाओं को एक सूत्र कर दिया।' यह कहते-कहते भट्टिनी पछाड़ खाकर निपुणिका के मृत शरीर पर लोटने लगी।

निपुणिका का श्राद्ध समाप्त होते ही आचार्य भवु पाद ने बाण को पुष्यपुर जाने का आदेश दिया और तब तक भट्टिनी को स्थाण्वीश्वर में रहने का भी आदेश दिया। इस आदेश को सुन कर भट्टिनी का मुख विवर्ण हो गया और झुकी हुई आँखों को और भी झुका कर वे बाण से बोलीं 'जल्दी ही लौटना।' बाण ने कातर कण्ठ के बाष्परुद्ध वाक्य को प्रयत्नपूर्वक दबा लिया लेकिन उसकी अन्तरात्मा के अतल गह्वर से कोई चिल्ला उठा, "फिर क्या मिलना होगा?"

मूल कथा तो बस इतनी-सी ही है किन्तु इससे सम्बन्ध रखने वाले अनेक प्रसंगों की कल्पना की गई है जिससे न केवल कथा विकसित होती है वरन् वातावरण के निर्माण और चरित्र-वर्णन में सहायता मिलने के साथ-साथ कथा की रमणीयता भी बढ़ती है। उ पिनी में निपुणिका के नृत्य और सौन्दर्य को देख कर उसमें 'मालविका मित्र की मालविका को सामने पाकर बाण का खिलखिलाकर हँस पड़ना उसकी हँसी से आहत होकर निपुणिका का उसके आश्रय से भाग निकलना प्रसिद्ध नर्तकी मदनश्री के यहाँ आश्रय लेना मदनश्री का बाण के प्रति अनुराग धविलक की दुकान पर निपुणिका का वासक-वेश में मद बेचना प्रत्यन्त दस्युओं द्वारा भट्टिनी के अपहरण की कथा महामाया भरवी तथा अघोर भैरव से बाण की भेंट महामाया (राज्यश्री की सखी)

द्वारा राजमहल छोड़ने और चेरवी बनने की कथा का वर्णन, सुचरिता और विरतिवज्र की कथा आदि अनेक प्रसंगों ने इस आत्मकथा को एक उद्देश्य और एक प्रभाव डालने की दिशा में प्रेरित किया है। उपर्युक्त प्रसंग बाण भट्टिनी और निपुणिका से सम्बन्धित होने के कारण मुख्य कथा से पृथक नहीं हैं अथवा यह कहना अनुचित न होगा कि ये मुख्य कथा के ही अङ्ग हैं। वस्तुतः महामाया अघोर भैरव विरतिवज्र और सुचरिता की कथाएं भी कुछ स्वतन्त्र प्रतीत होती हैं किन्तु लेखक ने मूल कथा के साथ उनका ग्रथन बड़ी कुशलता से किया है जिसमें तत्कालीन धार्मिक वातावरण के निर्माण में बड़ी सहायता मिली है।

४ रचना-शिल्प

बाणभट्ट की आत्मकथा रचना-शिल्प, इतिहास, समकालीन जीवन, धर्म और कला की दृष्टि से बड़ी महत्वपूर्ण कृति है। एक छोटे से कथावस्तु के ऊपर इतनी बड़ी रचना का खड़ा कर देना कोई सरल काम नहीं है। इस के बीज लेखक को 'हर्षचरित' के आदि में मिले हैं। इनका आरोपण ऐसे कौशल से किया गया है कि एक रम्य उपवन की सृष्टि हो गई है। हर्षचरित में बाण के प्रारम्भिक जीवन के कुछ सूत्र मिलते हैं, जिनमें उसके वंश का परिचय भी सम्मिलित है। हर्ष के वैभव समय और नैतिक और धार्मिक दृष्टिकोण से सम्बन्धित कुछ वर्णन-सूत्र उसी ग्रंथ में इधर-उधर और भी बिखरे मिल जाते हैं इन सबको सकलित करके आचार्य द्विवेदी जी ने 'बाणभट्ट की आत्मकथा' की नींव डाली है किन्तु इसके निर्माण में कल्पना के जिन सूत्रों से काम लिया गया है वे बड़े कुतूहल वर्धक हैं। कादम्बरी 'रत्नावली', 'हर्षचरित' से वर्णन लेकर कथा के एकत्व को पृथुलता में परिणित करने के लिए भी लेखक की ओर से बड़ा सफल प्रयत्न हुआ है। इस रचना को देखकर लेखक के शिल्पित के सम्बन्ध में चार प्रमुख बातें पाठक के सामने आती हैं —एक तो यह कि लेखक कल्पना का धनी है दूसरी यह कि लेखक कथा के मर्मस्थलों से परिचित है तीसरी बात वर्णन-प्राचुर्य से सम्बन्ध रखती है और चौथी बात जो सबसे अधिक महत्वपूर्ण है वह यह है कि भाषा पर लेखक का अधिकार है।

हर्ष-चरित' के प्रारम्भ में बाण से सम्बन्धित जो सूत्र लेखक के सामने आते हैं वे कल्पना के अभाव में 'बाणभट्ट की आत्मकथा' जैसे किसी बड़े ग्रन्थ की रचना के लिए नितान्त अपर्याप्त थे किन्तु दीदी का प्रसंग, नये पात्रों की उद्भावना धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक वर्णनों की पेशकश और इतिहास को जन-जीवन की सेवा में नियुक्ति—ये कुछ ऐसी बातें हैं जो शीघ्र ही लेखक की कल्पना से सम्बन्ध जोड़ लेती हैं। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि कल्पना कौशल के बिना नितान्त थोथ होन बनी रहती है और कौशल भी कल्पना के योग से ही अपना चमत्कार प्रकट कर सकता है। कभी-कभी कल्पना और कौशल का इतना गहन सम्बन्ध हो जाता है कि दोनों को अलग-अलग करके देखना दुष्कर हो जाता है। यही कारण है कि दीदी के प्रसंग में कल्पना और कौशल का अलग अलग विश्लेषण करना दुष्कर सा प्रतीत होता है। फिर भी इतना तो कहा ही जा सकता है कि कल्पना कौशल की आत्मा है। कौशल दीपशिखा है और कल्पना कौशल को प्रेरित करने वाली शक्ति है। दीदी का प्रसंग और उससे सम्बन्धित छोटे-मोटे उपप्रसंग कल्पना के बिना कौशल के किसी योग से इस रचना की निर्मिति में यह दुर्लभ योग नहीं दे सकते

थे। दीदी (एक नहीं ऐसी दस दीदियाँ) बाणभट्ट की आत्मकथा' को बनाने में कदापि सफल नहीं हो सकती थी यदि शोण के बालुकामय तट पर दीदी को बाणभट्ट की आत्म कथा' की प्राचीन प्रति न मिली होती और उस प्रति का मिलना और न मिलना भी व्यर्थ होता यदि दीदी ने उसके संशोधन और टंकण का का कार्य लेखक को न सौंपा होता अतएव बाणभट्ट की आत्म कथा' जैसी किसी रचना के प्रति पाठकों का विश्वास जमाने के लिए दीदी के साथ अनेक उपप्रसंगों की कल्पना आवश्यक थी। इस प्रसंग की कल्पना न केवल सम्भव है वरन् विश्वसनीय भी है। कथा का उच्च प्रासाद कदाचित् अपूर्ण ही रह गया होता यदि इसमें आत्मकथा की कल्पना न की गई होती।

बाण की आत्मकथा जो 'हर्षचरित' की पंक्तियों के सिवा कहीं भी उपलब्ध नहीं होती है और बारह-तेरह शतियों के गर्भ में जिसको आज तक कोई भी कहीं खोज नहीं पाया है वह सहसा दीदी के हाथ लग जाये यह कैसे विस्मय की बात है। सम्भवतः पाठकों का विश्वास 'बाणभट्ट की आत्मकथा' की सत्ता पर कभी न हो पाता यदि लेखक ने उसकी उपलब्धि का श्रेय अपने आप ले लिया होता। विदेशी महिला की अन्वेषक प्रवृत्ति और उनके अन्वेषणात्मक प्रयत्नों को बाणभट्ट की आत्मकथा' के उपलाभ का श्रेय सौंपकर लेखक मानो विश्वस्त हो गया है कि उसकी कल्पना पर किसी अविश्वास के लिए अवकाश नहीं रहा है।

यदि यह रचना आत्मकथा न होती तो उसका यह स्वरूप पाठक को कभी भी ग्राह्य नहीं हो सकता था। इस अधूरे स्वरूप के लिए कथा के किसी अन्य स्वरूप में कोई अवकाश नहीं था। इसके अतिरिक्त जो बाणभट्ट अपनी किसी रचना को पूर्ण न कर सका वह आत्मकथा को कैसे पूर्ण कर सका इस विस्मयात्मक सन्देह के समन के लिए संभवतः लेखक के पास कोई उत्तर न होता। इस कारण आत्मकथा के रूप में ही इस रचना का पर्यवसान समीचीन समझा गया।

निपुणिका और भट्टिनी के प्रसंग मूल कथा के पट के प्रमुख सूत्र हैं। ये दोनों पात्र कल्पना प्रसूत हैं किन्तु इन दोनों पात्रों का संबन्ध थानेश्वर से हो जाने के कारण वे बाण की ऐतिहासिक यात्रा के एक अङ्ग से बन जाते हैं। यह ऐतिहासिक प्रसिद्धि है कि बाण सम्राट् हर्षवर्धन से मिलने के लिए उनके दरबार में गया था। इसी ऐतिहासिक सूत्र की आड़ में लेखक ने बाणभट्ट के साथ निपुणिका-विमुक्त निपुणिका और भट्टिनी के सबन्ध-सूत्र को तैयार किया है। कल्पना का यह सूत्र भी बहुत प्रौढ़ है क्योंकि इसके बिना दीदी का प्रसंग-सूत्र भी व्यर्थ सिद्ध हुआ होता। यह सूत्र बहुत आगे तक बढ़ा चला जाता है। मैं समझता हूँ आत्मकथा का पर्यवसान इसी सूत्र के किनारे पर होता है।

राज्यश्री भी ऐतिहासिक पात्र है। वह महाराज हर्षवर्धन की बहिन है। उसके [illegible] से भार डाला था। राज्य श्री को प्राप्त करके कहा जाता है, हर्षवर्धन

में उसके साथ शासन की बागडोर संभाली थी। इस सूत्र को कूट-पीट और रंगकर लेखक ने कथा-पट में इस प्रकार विनिविष्ट किया है कि धार्मिक और राजनीतिक वातावरण को व्यक्त होने के लिए पर्याप्त अवसर मिल गया है।

सुचरिता कल्पित पात्र है। इससे मूल कथा के विकास को विशेष योग नहीं मिलता फिर भी धार्मिक और सामाजिक वातावरण को सामने लाने में सुचरिता के प्रसंग का योग विस्मरणीय नहीं है। यों तो और भी कल्पना-सूत्रों ने अपने-अपने ढंग से आत्मकथा के निर्माण में योग दिया है, किन्तु कल्पना के वैभव का अनुमान इन तीन चार सूत्रों से भली भाँति हो सकता है।

लेखक की कल्पना को एक बहुत बड़ा सहारा वर्णनों से मिला है। यह रचना वस्तुतः वर्णन-समृद्ध है। कुछ आलोचकों को यह कहते हुए सुना जाता है कि 'बाणभट्ट की आत्मकथा' वर्णनों के अतिरिक्त है क्या? और वर्णन भी प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों से लिए हुए हैं। मैं उनके मत का आस्वादन नहीं कर सका हूँ। मैं यह स्वीकार करता हूँ कि आत्मकथा वर्णन-पुष्ट कथा है, किन्तु न तो इसके वर्णन ही सर्वत्र हैं और न वर्णन पराये रह गये हैं। जिन वर्णनों को लेखक ने 'कादम्बरी' हर्षचरित् अथवा 'रत्नावली' से लिया है उनको इस प्रकार और ऐसे स्थानों पर आत्मसात् और नियोजित किया है कि वे लेखक की अपनी सम्पत्ति बन गये हैं। संस्कृत साहित्य के प्रचुर भंडार का उपयोग भला किस मध्य-मान्य साहित्यकार ने नहीं किया। सूर, तुलसी केशव बिहारी आदि अनेक कवियों के उदाहरण इस संबन्ध में प्रस्तुत किये जा सकते हैं। जिस प्रकार इन कवियों ने संस्कृत के भंडार का उपयोग किया है उसी प्रकार 'बाणभट्ट की आत्म कथा' के लेखक ने भी किया है। इस कारण आलोचकों का उक्त तर्क आस्वाद्य नहीं है। लेखक ने इन वर्णनों को जो स्थान दिया है और उनसे जिस अवसर पर सेवाएं ली हैं, वह कल्पना-कौशल की सम्मिलित सम्पत्ति है। इनके अतिरिक्त वर्णनों को भाषा की जो प्रांजल सुकुमारता प्राप्त हुई है वह भी लेखक की लेखनी के सौरव के साथ उसकी क्षमता को प्रमाणित करती है।

यहाँ वर्णन-प्राचुर्य दोष नहीं है वरन् गुण है। वर्णन भावों को रूप प्रदान करते हैं, परिस्थितियों का चित्रण करते हैं और दृष्टिकोणों का प्रकटन करते हैं। हृदय और मस्तिष्क की सूक्ष्म सम्पत्ति वर्णनों में व्यक्त होकर ही सौन्दर्य का साक्षात्कार करती है। 'आत्मकथा' के वर्णन केवल वर्णन के लिए नहीं हैं वरन् इनमें चरित्र को चमकाने वाली ज्योति जगती दिखाई पड़ती है जिससे पाठक कहीं सिहरता है कहीं हँसता है कहीं आँसू बहाता है और कहीं उत्साह से उल्लसित होता है। इन वर्णनों में होकर लेखक हमें एक ओर कथा की ओर ले जाता है और दूसरी ओर परिस्थिति या वातावरण की ओर। जो वर्णन चरित्र को प्रस्तुत करते हैं परिस्थितियों का निरूपण करते हैं और

समाज की गति विधि पर प्रकाश डालते हैं वे 'वैभव वर्णन' के लिए कैसे कहे जा सकते हैं।

वर्णन-प्राचुर्य दोष की सीमा में वहाँ पहुँचता है जहाँ लेखक का कौशल विफल हो जाता है जहाँ उसकी कल्पना का दिवाला निकल जाता है और जहाँ उसकी मेधा का प्रकटीकरण हो जाता है। तिल का ताड़ कर देना वहीं पर दोष पूर्ण प्रयोग हो सकता है जहाँ ताड़ के रूप में तिलत्व विनिष्ट हो जाय किन्तु जहाँ 'तिलत्व और 'ताड़त्व' का सम्मिलित स्वरूप सौन्दर्य-श्री का उत्कर्ष बढ़ाने वाला हो वहाँ उसको दूषण कहना क्या उचित नहीं है। 'आख्यायिका' के वर्णनों में जिन छुटीले व्यंग्यों, कठोर प्रसंगों, उत्साह स्फूर्तियों और मधुर परिहास भावनाओं को व्यक्त होने का अवकाश मिला है वे किसी देश और जाति की संस्कृति का प्रकाशन ही नहीं करती अपितु मानव की आत्मीय निजूह लिपि का दोहन भी करती हैं अतएव 'आख्यायिका' के वर्णनों में प्राचुर्य-भाव दोष नहीं, केवल गुण है।

यह कहा जाता है कि प्रबन्ध रचना का सारा दारोमदार कथा के मर्मस्थलों की प्रवणता पर आधृत होता है। लेखक की दोष-शक्ति कथा के उन स्थलों को खोज निकालती है जो महत्त्वपूर्ण होते हैं। कथाकार सारे जीवन को घटना क्रम से चित्रित नहीं कर सकता, अपितु कुछ मर्मस्पर्शिनी घटनाओं को लेकर इस प्रकार का चित्र प्रस्तुत करता है जिससे जीवन की समग्रता आभासित हो जाती है। सभी कथाकार इस कर्म में कुशल नहीं होते प्रस्तुत कुशल कथाकार ही इस कर्म में सफलता प्राप्त करते हैं। आचार्य द्विवेदी जी बड़े कुशल कथाकार हैं। उन्होंने इसी परिपार्श्व में बाणभट्ट के जीवन का चित्र परिकल्पित कर दिया है। बाणभट्ट के आवारापन से प्रारम्भ करके निपुणिका, भट्टिनी सुचरिता आदि के जीवन की झाँकियाँ प्रस्तुत करते हुए लेखक ने जो मर्मस्थल प्रदर्शित किये हैं, वे न केवल बाणभट्ट के आवारापन के औचित्य का परिमार्जन करते हैं वरन् उसकी उदारता, सहृदयता, सहानुभूति, वीरता और काव्य-प्रवणता पर अद्भुत मौलिक प्रकाश भी डालते हैं। अनेक स्थल कथा में ऐसे आते हैं, जहाँ पाठक का शरीर कंटकित हो जाता है। जब निपुणिका भट्टिनी की दयनीयता का वर्णन करती है तब कथा के उस वर्णन में करुणा का साक्षात्कार न करना असंभव हो जाता है। जब बाणभट्ट वेश बदल कर भट्टिनी को बुलाने जाता है तब कुतूहल और उत्सुकता का जो सम्मिलित भाव पाठक के मन में मचलता है वह मर्मस्थल का परिचय देने के लिए पर्याप्त है।

महाराज हर्षवर्द्धन की सभा में या कुमार कृष्णवर्द्धन के सामने बाणभट्ट अपनी जिस निर्भीकता का आश्रय लेता है वह बड़ी लोमहर्षक प्रतीत होती है। सुचरिता और राज्यश्री के जीवन की चरमाभिव्यक्ति जिन घटनाओं में होती है वे भी कथा की लोमहर्षक मर्मस्थलियाँ हैं।

भट्टिनी को भेजने के प्रस्ताव के समय जो वातावरण प्रस्तुत होता है वह भी पाठक के रोंगटे खड़े कर देता है। और तो और, छोटी से छोटी घटना में लेखक ने मर्म स्पर्श की खोज की है। चण्डी मण्डप के परिपार्श्व में साधना-गृह में लेखक ने जिस परिस्थिति का चित्रण किया है उसका परिचय इन शब्दों से मिल सकता है—'उसने कड़क कर पूछा—इस साधना गृह में चोर की भाँति घुसने वाला तू कौन है?' इसका कुछ अनुमान बाणभट्ट के इन शब्दों से भी लगाया जा सकता है—'परदेशी हूँ भावः, अपराध क्षमा हो।

एक दूसरा उदाहरण वज्रतीर्थ का है जहाँ बाणभट्ट विकट परिस्थिति में फँस जाता है। परिस्थिति का अनुमान इन शब्दों से कर सकते हैं—'अघोरभट्ट ने आदेश दिया 'जो तेरा सबसे प्रिय है उसका ध्यान कर।' मुहूर्त भर में भट्टिनी की कोमल कांत मुखच्छवि मेरे सामने उपस्थित हुई। मैं कातरतापूर्वक चीख उठा— मैं भट्टिनी को निर्जन शरकान्तार में छोड़कर बलि होने जा रहा हूँ। इस प्रकार के उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि लेखक ने 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में मर्मस्थलियों का नियोजन बड़ी कुशलता से किया है। वह जानता है कि कथा में किस स्थल पर मन-स्पर्शी वर्णन-चित्र प्रस्तुत करना चाहिये और किस स्थल पर नहीं।

यह तो पहले ही कह दिया गया है कि लेखक भाषा का धनी है। कबीर की भाषा पर अपना मत देते हुए लेखक ने एक स्थान पर लिखा है— कबीर भाषा के डिक्टेटर थे। मैं इस वाक्य का आदर हजारी प्रसाद द्विवेदी के लिए प्रयुक्त कर सकता हूँ। वे भाषा के डिक्टेटर हैं। उनके कोमल से कोमल वाक्य में विलक्षण तीखापन है और उनका छोटे से छोटा वाक्य सीधा मर्म का स्पर्श करता है। इसमें सन्देह नहीं कि कथावत् वर्णन प्राचुर्य कथा के पोषण के लिए है किन्तु इसमें भी सन्देह नहीं कि लेखक का भाषाधिकार भी इस पोषण का प्रेरक है। जो हो कल्पना मर्मस्थलों का परिचय वर्णन-प्राचुर्य और भाषाधिकार सभी दृष्टियों से 'बाणभट्ट की आत्मकथा' अनूठी रचना है।

'आत्मकथा' की कथावस्तु को देखकर पाठक उनकी ऐतिहासिकता और काल्पनिकता के बीच एक उलझन में पड़ सकता है। न तो यह कहा जा सकता है कि उसमें ऐतिहासिक तत्व नहीं है और न यही कहा जा सकता है कि उसमें कल्पना का प्राधान्य नहीं है। इस कृति को 'मिश्र रचना' का नाम देना ही अधिक उपयुक्त है किन्तु यह नहीं भुला देना चाहिये कि वस्तुतः यह एक कल्पना-प्रधान रचना है। यह ठीक है कि बाणभट्ट हर्षवर्द्धन राज्यश्री आदि कुछ पात्रों के साथ कुछ कथा-सूत्र ऐतिहासिक हैं किन्तु सारी कथा बाणभट्ट से सम्बद्ध होती हुई भी निपुणिका और भट्टिनी से संचालित होती है और ये दोनों पात्र काल्पनिक हैं। यदि कल्पना की इन दोनों पुत्रियों को कथा से निकाल लिया जाये तो केवल वही बाणभट्ट-हमारे सामने आयेगा जो हर्षचरित

मे मिलता है; इसलिए कथा भाग का अधिकांश कल्पना की सृष्टि है यह मानना अनुचित नहीं है।

फिर भी यह स्वीकार करना अनुचित नहीं है कि इतिहास के बड़े विरल और क्षीण तंतुओं से इस 'आत्मकथा' के जाल का निर्माण किया गया है। इन क्षीण तन्तुओं में वर्णनों का स्थान भी विस्मरणीय नहीं है। वे वर्णन ऐतिहासिक इसलिए हैं कि उनकी प्रतिष्ठा साहित्य के इतिहास में स्वीकृत की गई है और कुछ वर्णन शुद्ध इतिहास से भी सम्बद्ध हैं।

कथाकार के रूप में बाण कल्पना है किन्तु पात्र के रूप में वह ऐतिहासिक है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि हर्ष भी ऐतिहासिक पात्र है, जिस राज्यश्री का उल्लेख 'हर्षचरित' में आता है वह भी ऐतिहासिक पात्र है किन्तु उसकी कथा को लेखक ने कल्पना से रंगकर आत्मकथा के अनुकूल बना लिया है। कथा में जिस अघोर भैरव का नाम लिया गया है वह 'हर्षचरित' के भैरवाचार्य हैं। प्रभाकरवर्द्धन गृहवर्मा दिवाकर मित्र और चण्डीमण्डप का पुजारी भी ऐतिहासिक पात्र हैं। ऐतिहासिक इस दृष्टि से कि वे 'हर्षचरित' और 'कादम्बरी' में आये हैं। पत्रलेखा आदि एक दो पात्रों को 'आत्मकथा' के लेखक ने नाम बदल कर प्रस्तुत किया है। आश्चर्य नहीं कि पत्रलेखा ही 'आत्मकथा' की भट्टिनी हों। निपुणिका का कोई आधार नहीं है। घटनाओं के आधार पर भी 'बाणभट्ट की आत्मकथा' का पलड़ा कल्पना की ओर ही अधिक झुकता है।

उपर्युक्त विवेचन आलोचक के सामने एक जटिलता प्रस्तुत कर देता है और वह यह कि इस रचना को क्या कहा जाये? यह तो मानी हुई बात है कि इतिहास और साहित्य की एक कसौटी नहीं है। जिस कसौटी पर इतिहास परखा जाता है उस पर साहित्य नहीं परखा जाता। इतिहास और साहित्य के दो अलग-अलग धरातल हैं। भावना, कल्पना और उद्देश्य की एकता प्रबन्ध-काव्य या प्रबन्ध-रचना के अनिवार्य तत्त्व हैं किन्तु इतिहास में ये दोनों ही वर्जित हैं। इनको स्वीकार करके इतिहास साहित्य के क्षेत्र में आये बिना नहीं रहता और साहित्य इनसे विरहित होकर, और जो हो सो हो साहित्य नहीं हो सकता।

किसी मुक्तक रचना में इतिहास अपनी हलकी सी झलकी से ही साहित्य में अपना रंग-जमा सकता है किन्तु प्रबन्ध अपने स्वरूप के विकास एवं निर्माण के लिए इतिहास की झलकियों से अपना काम नहीं चला सकता। ऐसे अनेक उदाहरण हैं जिनमें साहित्य को इतिहास की कसौटी पर परख कर उसकी प्रामाणिकता को बट्टा लगाया गया है। इसमें सन्देह नहीं है कि आप और मैं इतिहास को इतिहास के रूप में प्रतिष्ठा रखना चाहते हैं किन्तु इतिहास को साहित्य में यथावत् सुरक्षित रखने का

कार्य इतिहास को लक्षित किये बिना नहीं किया जा सकता। साहित्य इतिहास के साथ कोई समझौता कर सकता है किन्तु वह भावना कल्पना और उद्देश्य कदापि नहीं छोड़ सकता और इतिहास अपने स्वाभिमान को सुरक्षित रखने के लिए इन पर कभी आश्रित नहीं हो सकता। बस यही कसौटी बाणभट्ट की आत्मकथा की ऐतिहासिकता को परखने में सहायक हो सकती है। यह रचना भावना की पीठिका पर कल्पना और उद्देश्य की प्रेरणा से विकसित हुई है, इसलिए यहाँ इतिहास का स्वाभिमान निश्चित रूप से लक्षित हो गया है। फिर भी इतिहास में इसका पुट न देखना अनुचित होगा। ऐतिहासिकता के पुट को तो साहित्य कहीं भी स्वीकार कर सकता है। नामों और तिथियों के अतिरिक्त, ऐतिहासिकता का पुट घटनाओं और वर्णनों में भी दिया जा सकता है। साहित्यगत वातावरण भी ऐतिहासिक पुट को स्वीकार कर लेता है। ऐतिहासिक पुट की ये पाँच अवस्थाएँ किसी भी साहित्यिक कृति को ऐतिहासिक होने का अधिकार दे सकती हैं, किन्तु इस अधिकार में उद्देश्य की दिशा और कल्पना का स्पर्श रहने के साथ साथ भाव-तरलता भी स्मरणीय है।

बाणभट्ट की आत्मकथा एक समस्यामूलक रचना है। इसकी प्राण-प्रतिष्ठा नारी में है। इसका लक्ष्य उद्धार के मार्ग को प्रशस्त बनाना है। इस उद्धार का एक पक्ष नारी-उद्धार है। नारी की दुर्दशा के विविध पहलुओं को चित्रित करके लेखक ने उसके उद्धार की दिशा का संकेत किया है। जब तक समाज का पुरुष वर्ग अपने को ऊँचा समझता रहेगा तब तक नारी के जीवन को उचित मूल्य नहीं मिल सकता। 'नारी-शरीर' देव-मन्दिर है इस भाव के प्रकट होते ही नारी के कल्याण का मार्ग भासित हो जाता है।

इसके साथ उद्धार का दूसरा पक्ष प्रेमोद्धार है। प्रेम इस युग में अपने रूप और रंग को अधिक तेजी से बदलता जा रहा है। नारी के संबन्ध से उसमें कहीं तो वह आभा मिलनी चाहिये जिसे पावन और उज्ज्वल कह सकते हैं। निपुणिका, भट्टिनी और बाणभट्ट के प्रेम ने इसी आभा की उज्ज्वलता और पावनता की प्रतिष्ठा करके प्रेम के उद्धार का मार्ग प्रशस्त किया है।

उद्धार का तीसरा पक्ष धर्मोद्धार है। धर्म अपने उदार रूप में परमात्मा का सम रूप है किन्तु अपने कुंठित संकीर्ण एवं अवनत रूप में विकृत पंक्तिता से बिल्कुल भिन्न नहीं है। धर्म का दलदल न केवल रूढ़िवादी को फँसा बैठता है, वरन् दूसरे लोग भी उसमें आकर फँसे बिना नहीं रहते। ऐसा धर्म उस छूत की बीमारी के समान भयानक है जो जन-जन में फैलती चली जाती है। धर्म का व्याख्या किसी रूढ़ि में नहीं बाँधी जा सकती और न रूढ़ि से धर्म के उदार स्वरूप को अनावृत्त ही किया जा सकता है। उदार धर्म वह धर्म है जो मनुष्यमात्र के अन्तर्द्वन्द्व को शान्त करके सौहार्द्र और शान्ति

में मिलता है, इसलिए कथा भाग का अधिकांश कल्पना की सृष्टि है, यह मानना अनुचित नहीं है।

फिर भी यह स्वीकार करना अनुचित नहीं है कि इतिहास के बड़े विरल और क्षीण तंतुओं से इस आत्मकथा' के वास का निर्माण किया गया है। इन क्षीण तन्तुओं में वर्णनों का स्थान भी विस्मरणीय नहीं है। ये वर्णन ऐतिहासिक इसलिए हैं कि उनकी प्रतिष्ठा साहित्य के इतिहास में स्वीकृत की गई है और कुछ वर्णन पुरा इतिहास से भी सम्बद्ध हैं।

कथाकार के रूप में बाण कल्पना है, किन्तु पात्र के रूप में वह ऐतिहासिक है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि हर्ष भी ऐतिहासिक पात्र है जिस राज्यश्री का उल्लेख हर्षचरित में आता है वह भी ऐतिहासिक पात्र है किन्तु उसकी कथा को लेखक ने कल्पना से रंगकर आत्मकथा के अनुकूल बना लिया है। कथा में जिस अघोर भैरव का नाम लिया गया है वह 'हर्षचरित' के भैरवाचार्य है। प्रभाकरवर्द्धन दृढ़वर्मा दिवाकर मित्र और चण्डीमण्डप का पुजारी भी ऐतिहासिक पात्र हैं। ऐतिहासिक इस दृष्टि से कि वे हर्षचरित' और कादम्बरी में आये हैं। पत्रलेखा आदि एक दो पात्रों को आत्मकथा' के लेखक ने नाम बदल कर प्रस्तुत किया है। आश्चर्य नहीं कि पत्रलेखा ही आत्मकथा' की भट्टिनी हों। निपुणिका का कोई आधार नहीं है। घटनाओं के आधार पर भी बाणभट्ट की आत्मकथा' का पलड़ा कल्पना की ओर ही अधिक झुकता है।

उपर्युक्त विवेचन आलोचक के सामने एक जटिलता प्रस्तुत कर देता है और वह यह कि इस रचना को क्या कहा जाये? यह तो मानी हुई बात है कि इतिहास और साहित्य की एक कसौटी नहीं है। जिस कसौटी पर इतिहास परखा जाता है उस पर साहित्य नहीं परखा जाता। इतिहास और साहित्य के दो अलग-अलग धरातल हैं। भावना, कल्पना और उद्देश्य की एकता प्रबन्ध-काव्य या प्रबन्ध-रचना के अनिवार्य तत्त्व हैं, किन्तु इतिहास में ये दोनों ही वर्जित हैं। इनको स्वीकार करके इतिहास साहित्य के क्षेत्र में आये बिना नहीं रहता और साहित्य इनसे विरहित होकर, और जो हो सो हो, साहित्य नहीं हो सकता।

किसी मुक्तक रचना में इतिहास अपनी हलकी सी झलकी से ही साहित्य में अपना रंग-जमा लेता है किन्तु प्रबन्ध अपने स्वरूप के विकास एवं निर्माण के लिए इतिहास की झलकियों से अपना काम नहीं चला सकता। ऐसे अनेक उदाहरण हैं जिनमें साहित्य को इतिहास की कसौटी पर परख कर उसकी प्रामाणिकता को घटा लगाया गया है। इसमें सन्देह नहीं है कि आप और मैं इतिहास को इतिहास के रूप में अक्षुण्ण रखना चाहते हैं किन्तु इतिहास को साहित्य में यथावत् सुरक्षित रखने का

मे मिलता है, इसलिए कथा-भाग का अधिकांश कल्पना की सृष्टि है यह मानना अनुचित नहीं है।

फिर भी यह स्वीकार करना अनुचित नहीं है कि इतिहास के बड़े विरल और क्षीण तन्तुओं से इस 'आत्मकथा' के आत्म का निर्माण किया गया है। इन क्षीण तन्तुओं में वर्णनों का स्थान भी विस्मरणीय नहीं है। ये वर्णन ऐतिहासिक इसलिए हैं कि उनकी प्रतिष्ठा साहित्य के इतिहास में स्वीकृत की गई है और कुछ वर्णन पूरे इतिहास से भी सम्बद्ध हैं।

कथाकार के रूप में बाण कल्पना है, किन्तु पात्र के रूप में वह ऐतिहासिक है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि हर्ष भी ऐतिहासिक पात्र है, जिस राज्यश्री का उल्लेख 'हर्षचरित' में आता है वह भी ऐतिहासिक पात्र है किन्तु उसकी कथा को लेखक ने कल्पना से रंगकर आत्मकथा के अनुकूल बना लिया है। कथा में जिस अघोर भैरव का नाम लिया गया है वह 'हर्षचरित' के भैरवाचार्य हैं। प्रभाकरवर्द्धन, दूरवर्ती दिवाकर मित्र और चण्डीमण्डप का पुजारी भी ऐतिहासिक पात्र हैं। ऐतिहासिक इस दृष्टि से कि वे 'हर्षचरित' और कादम्बरी में आये हैं। पत्रलेखा आदि एक दो पात्रों को 'आत्मकथा' के लेखक ने नाम बदल कर प्रस्तुत किया है। आश्चर्य नहीं कि पत्रलेखा ही 'आत्मकथा' की भट्टिनी हों। निपुणिका का कोई आधार नहीं है। घटनाओं के आधार पर भी 'बाणभट्ट की आत्मकथा' का पलड़ा कल्पना की ओर ही अधिक झुकता है।

उपर्युक्त विवेचन आलोचक के सामने एक जटिलता प्रस्तुत कर देता है और वह यह कि इस रचना को क्या कहा जाये? यह तो मानी हुई बात है कि इतिहास और साहित्य की एक कसौटी नहीं है। जिस कसौटी पर इतिहास परखा जाता है उस पर साहित्य नहीं परखा जाता। इतिहास और साहित्य के दो अलग-अलग धरातल हैं। भावना कल्पना और उद्देश्य की एकता प्रबन्ध-काव्य या प्रबन्ध-रचना के अनिवार्य तत्त्व हैं किन्तु इतिहास में ये दोनों ही वर्जित हैं। इनको स्वीकार करके इतिहास साहित्य के क्षेत्र में आये बिना नहीं रहता और साहित्य इनसे विरहित होकर, और जो हो सो हो साहित्य नहीं हो सकता।

किसी मुक्तक रचना में इतिहास अपनी हल्की सी झलकी से ही साहित्य में अपना रंग-जमा लेता है किन्तु प्रबन्ध अपने स्वरूप के विकास एवं निर्माण के लिए इतिहास की झलकियों से अपना काम नहीं चला सकता। ऐसे अनेक उदाहरण हैं जिनमें साहित्य को इतिहास की कसौटी पर परख कर उसकी प्रामाणिकता का बट्टा लगाया गया है। इसमें सन्देह नहीं है कि आप और मैं इतिहास को इतिहास के रूप में अक्षुण्ण रखना चाहते हैं किन्तु इतिहास को साहित्य में यथावत् सुरक्षित रखने का

कार्य इतिहास को खण्डित किये बिना नहीं किया जा सकता। साहित्य इतिहास के साथ कोई समझौता कर सकता है, किन्तु वह भावना कल्पना और उद्देश्य कदापि नहीं छोड़ सकता और इतिहास अपने स्वाभिमान को सुरक्षित रखने के लिए इन पर कभी आश्रित नहीं हो सकता। बस यही कसौटी बाणभट्ट की आत्मकथा' की ऐतिहासिकता को परखने में सहायक हो सकती है। यह रचना भावना की पीठिका पर कल्पना और उद्देश्य की प्रेरणा से विकसित हुई है; इसलिए यहाँ इतिहास का स्वाभिमान निश्चित रूप से खण्डित हो गया है। फिर भी इतिहास में इसका पुट न देखना अनुचित होगा। ऐतिहासिकता के पुट को तो साहित्य कहीं भी स्वीकार कर सकता है। नामों और तिथियों के अतिरिक्त, ऐतिहासिकता का पुट घटनाओं और वर्णनों में भी दिया जा सकता है। साहित्यगत वातावरण भी ऐतिहासिक पुट को स्वीकार कर लेता है। ऐतिहासिक पुट की ये पाँच अवस्थाएँ किसी भी साहित्यिक कृति को ऐतिहासिक होने का अधिकार दे सकती हैं किन्तु इस अधिकार में उद्देश्य की दिशा और कल्पना का स्पर्श रहने के साथ साथ भाव-सरलता भी स्मरणीय है।

बाणभट्ट की आत्मकथा एक समस्यामूलक रचना है। इसकी प्राण-प्रतिष्ठा आदर्श में है। इसका लक्ष्य उद्धार के मार्ग को प्रशस्त बनाना है। इस उद्धार का एक पक्ष नारी-उद्धार है। नारी की दुर्दशा के विविध पहलुओं को चित्रित करके लेखक ने उसके उद्धार की दिशा का संकेत किया है। जब तक समाज का पुरुष वर्ग अपने को ऊँचा समझता रहेगा तब तक नारी के जीवन को उचित मूल्य नहीं मिल सकता। 'नारी शरीर' देव-मन्दिर है, इस भाव के प्रबुद्ध होते ही नारी के कल्याण का मार्ग भासित हो जाता है।

इसके साथ उद्धार का दूसरा पक्ष प्रेमोद्धार है। प्रेम इस युग में अपने रूप और रस को अधिक तेजी से बदलता जा रहा है। नारी के सम्बन्ध से उसमें कहीं तो वह आभा मिलनी चाहिये जिसे पावन और उज्ज्वल कह सकते हैं। निपुणिका भट्टिनी और बाणभट्ट के प्रेम ने इसी आभा की उज्ज्वलता और पावनता की प्रतिष्ठा करके प्रेम के उद्धार का मार्ग प्रशस्त किया है।

उद्धार का तीसरा पक्ष धर्मोद्धार है। धर्म अपने उदार रूप में परमात्मा का [illegible] है किन्तु अपने कुंठित, संकीर्ण एवं अपावन रूप में विकृत पंकिलता से विमुक्त [illegible] नहीं है। धर्म का [illegible] न केवल रूढ़िवादी को फँसा बैठता है वरन् [illegible] भी उसमें आकर फँसे बिना नहीं रहते। ऐसा धर्म उस फूट की बैसाखी के [illegible] तक है जो जन-जन में फैलती चली जाती है। धर्म की [illegible] किसी रूढ़ि में नहीं [illegible] जा सकती और न रूढ़ि से धर्म के उदार स्वरूप को अवाहत ही किया [illegible] है। उदार धर्म वह पथ है जो मनुष्यमात्र के [illegible] को प्राप्त करके [illegible]

प्रदान करता है। न तो धर्म का उद्धार मनुष्य और समाज को किसी पिटे-पिटे मार्ग पर ले चलने में है और न 'अपनी अपनी डफली अपने-अपने गीत' में ही धर्म का स्वरूप सुरक्षित रहता है। भट्टिनी, निपुणिका सुचरिता और भट्ट में जिस भाव का निश्चल आविर्भाव होता है वह धर्म से भिन्न नहीं है। अतएव धर्म का उद्धार उसको विकृतियों और कुण्ठाओं से मुक्त करने में है।

उद्धार का चौथा पक्ष देशोद्धार में निहित दिखाई देता है। देश का उद्धार किसी एक व्यक्ति या वर्ग के हाथों में नहीं सौंपा जा सकता। जब देश का जन-जन इस दिशा में प्रगति करेगा तभी देशोद्धार होगा। वेतन-भोगी सेना क्या कभी देश की रक्षा कर सकती है? इतिहास के उदाहरणों से लेखक ने यह सिद्ध कर दिया है कि वेतन-भोगी सेना जन सहयोग के बिना अशक्त और अक्षम है। कलाकार, साहित्यकार सेवक नर और नारी सबका योगदान देश-रक्षा में अनिवार्य है। साधक-साधिकाओं को भी देश-रक्षा का भार स्वीकार करना चाहिये। साहित्यकार प्रेरणास्पद साहित्य की सर्जना से अपना योग दे सकता है। इसी प्रकार और लोग भी देश की रक्षा में अपना-अपना योगदान देकर देश के सम्मान और गौरव की रक्षा कर सकते हैं।

लेखक का उद्देश्य शिथिल समाज में चेतना फूंकना था और वह उक्त चार उद्धार पक्षों को विधित करके मानों कृत्य-कृत्य हो गया है। इस उद्देश्य की सफलता में उसकी शैली का अपूर्व योग रहा है। 'आत्मकथा' की संकीर्ण-परिसीमाओं में भी लेखक ने जिस नाटकीयता से काम लिया है वह पाठक की रुचि को जाग्रत करने में बड़ी उपयोगी सिद्ध हुई है। इसके अतिरिक्त उसने कथा-अंशों को इधर से उधर और उधर से इधर निकीर्ण करके पाठक के कुतूहल-संवर्धन की अमोघ चेष्टा की है। भाव की रसमय तरलता भावों का प्रवाहपूर्ण अभिव्यंजन व्यंग्यों और हास्यों का सरस पुट और सामान्य वार्तालाप में मस्त विनोद की तरल लहर से लेखक पाठक के मन को खींचता चला जाता है। इस प्रकार कथानक की अद्भुतपूर्व सृष्टि, पात्रों का कुशल चयन वातावरण का प्रभाव चरित्र मोहक चित्र पैदा करके सरल भाषा में जिस उद्देश्य की सम्पूर्ति की गई है वह रचना को सफल बनाने में बड़ा महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ है।

५ ऐतिहासिक आधार

इतिहास की दो धाराएँ दृष्टिगोचर होती हैं—प्रामाणिक इतिहास की धारा तथा भावनात्मक अनुसृत इतिहास की धारा। इन्हीं दो धाराओं में आत्मकथा-गत इतिहास बाद प्रवाहित होता है। सच तो यह है कि कृति के गठन में इसकी इतिहास-प्रसिद्धता का बहुत बड़ा योग है। इतिहास केवल पात्रों और घटनाओं को ही प्रस्तुत नहीं करता है वरन् काल संस्कृति और लोक के दोष का आयताकरण भी करता है।

आत्मकथा के दो रूप होते हैं—एक वास्तविक और दूसरा कलात्मक। कलात्मक आत्मकथा के भी दो रूप दिखाई देते हैं—एक ऐतिहासिक आत्मकथा और दूसरी सम सामयिक। इनमें से किसी भी प्रकार की आत्मकथा लिखने में रचना का गठन प्रतिबद्ध हो जाता है और लेखक को कुछ सीमाओं में आबद्ध होकर काम करना पड़ता है। इससे कथा को जो रूप मिलता है उसमें वर्णन और संवाद का यथा-जरूरी रूप विकसित होता है। इसी रूप में औपन्यासिकता और नाटकीयता का मधुर मिलन होता है। लेखक जिस काल और स्थान में है वह उसी का निरूपण कर सकता है दूसरे स्थान पर क्या हो रहा है और भविष्य में क्या होने वाला है और उसके चरित्र-नायक से दूर क्या कुछ हुआ है—इन प्रश्नों से उसका सीधा संबंध नहीं होता अतएव वह उन्हें अपनी कृति में समाविष्ट नहीं कर सकता जबकि उपन्यास और नाटक में इनके समावेश के लिए पर्याप्त अवकाश होता है।

बाणभट्ट की आत्मकथा में यह बात बड़े प्रधान से विचारने की है। ध्यान रखने का बात है कि दुर्वासा विशाल स्थाणीश्वर में पहुँचने पर अन्तर्धान हो गया है। लेखक ने दाण निपुणिका और भट्टिनी के द्वारा जो घटनाएं कराया है वे थानेश्वर और मगधेश्वर से विशेष सम्बन्ध रखती हैं। भविष्य की घटनाओं की सूचना के लिए नियतिवाद का प्रतिष्ठा में कोई कमी नहीं छोड़ी गई है। इससे स्पष्ट है कि यह रचना—यह आख्यान केवल उपन्यास के लिए नहीं लिखा गया। इसके पीछे काल संस्कृति और लोक-भाव आदि की अनेक पृष्ठभूमियाँ साकार करने का प्रयत्न है।

इस रचना का गठन बड़ा पक्का और जटिल है। इसलिए इसमें पुनः पुनः परिवर्तन की आवश्यकता कम ही होती है; हाँ, जहाँ आवश्यकता हो। इतिहास दृष्टि के कारण पात्रों के विभिन्न पहलू कथा-वस्तु के प्रसंग में आ गिरे गये हैं। लेखक ने इन पहलुओं को प्रकाशित करने के लिए अनेक माध्यम अपनाये हैं जिनमें विश्वास्य सम्भाषण और कलात्मक विवेचन प्रमुख हैं। इतिहास की भूमिका पर अनेक हृदय-स्पर्शी

कला के संस्पर्श से अपने भाषपूर्व का प्रभावरण करते चले जाते हैं। तीन मास के अन्त राल में सात दिन की कथा को केवल कुछ स्थानों से सम्बद्ध करके लेखक ने प्रत्येक युगों के चित्र उतारने के लिए जिस कौशल का परिचय दिया है, उसमें समाहार-क्षमता का विशेष योग है। पार्वती सरस्वती सीता से लेकर भरतमुनि, कालिदास शूद्रक समुद्रगुप्त चन्द्रगुप्त पुष्यमित्र और हर्षवर्धन आदि के युगों का जो चित्र खींचा है उसमें मिथक-युग से लेकर ई० की-सातवीं सदी तक के विशाल काल की झाँकियाँ मिलती हैं। ११ १२ सौ वर्ष का विशाल युग सात दिन की कथा में हिमीभूत करना जादूगर के काम से कम कौशल की बात नहीं है।

यह माना जा सकता है कि इस विशाल काल की परिसीमाओं में चित्रित बाण का समय चरित्र घटित या प्रामाणिक (इतिहाससम्मत) न हो किन्तु 'घटनात्मक इतिहास' के झीने वातावरण में कथायित 'भावनात्मक इतिहास' कलात्मक दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है। युग-जीवन की कथावलि में चाहे ऐसी घटनाओं के लिए कोई स्थान भले ही न रहा हो किन्तु संभावनाओं की प्रतिष्ठा अवश्य होती है। घटनाओं की संभावना में जो प्रवृत्तिमूलकता निहित है वही भावनात्मक इतिहास की दिशा है और वही एक काव्य की आत्मकथा की ऐतिहासिकता है। इसलिए 'बाणभट्ट की आत्म-कथा' में 'घटनात्मक अनुभवों' की गवेषणा इतनी महत्वपूर्ण नहीं है जितनी भाव-कथा की गवेषणा। भाव कथा को पहचानने वाली दृष्टि से ही 'कलात्मक इतिहास' के लेखन की प्रेरणा स्फुरित होती है।

हर्षचरित की कुछ पंक्तियों के सिवा अन्यत्र कहीं भी तो बाण की जीवनी के संकेत नहीं मिलते हैं, इसलिए बाण स्वयं एक चारित्रिक मिथक (myth) है। क्या वह पुष्प में विरही-यक्ष की कल्पना नहीं है? क्या इस मर्यादा में पुरुष-लेख की कल्पना नहीं है? यदि है तो कल्पना-प्रसूत बाण भी शाश्वत है। वह डा० द्विवेदी के भावों में ही नहीं किसी व्यक्ति (भावुक) की कल्पना में जन्म ले सकता है। ऐतिहासिक परिपार्श्व और सांस्कृतिक वातावरण प्राप्त करके बाण किसी भी युग में पुनरुज्जीवित किया जा सकता है। 'आत्मकथा' का बाण इसी प्रकार से पुनरुज्जीवित हुआ है। उसके अमेय क्षोभ-संभार में लेखक का प्रक्षेपण ही नहीं, प्रतिबिम्ब भी है। बाणभट्ट एक ऐसा 'आर्क' है जिसमें तत्कालीन संस्कृति और कला को प्रतिबिम्बित होने का पूर्ण अवसर मिला है। वह जिस परिवेशात्मक या आलोचनात्मक पद्धति का प्रथम लेता है उसमें उसके संस्कृति-प्रवक्ता का का सुदीर्घ रूप निहित है। बाण का प्रवक्तृत्व ही तो सांस्कृतिक इतिहास के रूप को ढालता है।

बाण और हर्ष, दोनों ऐतिहासिक व्यक्ति हैं किन्तु उनसे संबंधित बहुत सी घटनायें काल्पनिक हैं अथवा आत्मकथा की अधिकांश घटनायें अनैतिहासिक हैं। कुमार कृष्ण और महाराज हर्ष घटनात्मक इतिहास के पात्र हैं, किन्तु आत्मकथा में उनके संबंध से

जितनी घटनाएं प्रस्तुत की गई हैं उनमें से बहुतों में इतिहास की सोचना व्यर्थ है फिर भी ऐतिहासिक समस्याओं को काल्पनिक घटनाओं द्वारा चित्रित करने में, उनका प्रमुख योग है। वे 'वर्तमान' के इतिहास को तत्कालीन राजनीति के चित्रपट पर दिखलाते हैं। अग्रहार ब्राह्मणों को भूमि देकर पूर्वीय सीमा पर अशान्ति को थमाना उत्तर की सीमा पर दस्युओं को पराजित करना गुणी लोगों को राजसभा में एकत्र करना आदि वर्णनों में तत्कालीन समस्याओं का प्रतिफलन स्पष्ट है। उनमें तत्कालीन इतिहास है, किन्तु राजनीतिक समस्याओं के अतिरिक्त धार्मिक भावनाएं भी अपने ऐतिहासिक रूप में अवतीर्ण हुई हैं।

(अघोरभैरव सुमतभद्र वसुभूति, वेंकटेश भट्ट आदि की धर्म-भावनाओं के पट पर बौद्ध शैव शाक्त वैष्णव आदि धार्मिक सम्प्रदायों और उनकी साधना-पद्धतियों को रूपायित किया गया है।) लेखक के इस प्रयत्न में 'धर्म का समाजशास्त्रीय रूप' प्रस्तुत करने की चेष्टा स्पष्ट है। भट्टिनी और निपुणिका सामाजिक जीवन में नारी के स्थान की मीमांसा करती हुई अनेक प्रश्न उठाती हैं और वे प्रश्न बड़े क्रान्तिकारी हैं। उन्हीं प्रश्नों में प्रणय भी अपनी समस्या लेकर प्रस्तुत हुआ है।

(इतिहास के चित्रपट पर मूर्ति शिल्प काव्य, चित्र, नृत्य, स्थापत्य आदि से सम्बन्धित कलाओं को अनेक परिस्थितियों में प्रदर्शित किया गया है।) बाण इनमें विशेष रुचि रखता है। वह कला-समीक्षा ज्योतिष राजसभा-व्यवहार आदि में भी निपुण है। अनेक कल्पितसदर्भों में हर्ष-कालीन कलाओं और विद्याओं के रंगीन चित्र प्रस्तुत किये गये हैं। संस्कृति के विविध पक्षों को चित्रित करती हुई बाणभट्ट की आत्मकथा संस्कृति का चित्र-कोष बन गई है। (इस प्रकार यह रचना न केवल घटनात्मक इतिहास को उद्घाटित करती है, वरन् धर्म, कला, राजनीति और नारी-शील के इतिहास को अनेक स्तरों पर सफलता से प्रदर्शित करती है।) बाणभट्ट उस युग को लेकर एक आत्मगत या रोमांटिक इतिहास रचता है; हर्षवर्धन उस युग में लेकर एक वस्तुगत या क्लासिकल इतिहास भोगता है; तथा भट्टिनी एवं निपुणिका कालबोध (इतिहास) की सीमा को तोड़कर शाश्वत जीवन का एक सत्य देती हैं। सारांश यह है कि तीन महीने की अवधि वाली इस कृति में तीन सौ वर्ष और एक बहुरंगी संस्कृति—लोगों की सामाजिक अवस्था, धर्मसाधना, कला-दर्शन, वेशभूषा मानवीय राग, आचार, विचार आदि का समाज हुआ है। और इतना विशाल इतिहास, पारावारिक काल, कला का स्वप्न-दर्शन एक व्यक्ति, हजारी प्रसाद द्विवेदी ने बाणभट्ट की नीली पर्णियों में जोड़ के रहा है।" *

भावात्मक आत्मकथा के लिए भी ऐतिहासिक सामग्री की आवश्यकता है क्योंकि बाणभट्ट अपने किसी भी रूप में सही इतिहास-प्रसिद्ध व्यक्ति है इसलिए इसके विषय में कल्पना को भी इतिहास की परिसीमाओं में ही काम करना पड़ता है। थोड़ा-सा विचार

* देखिये आलोचना त्रैमासिक ३ जनवरी १९६४ पृ० ११३ १४

करने पर आत्मकथा के बाण के तीन परिपार्श्व प्रस्तुत हो सकते हैं—एक तो इतिहास का बाण, दूसरा लेखक की कल्पना का बाण और तीसरा लेखक के व्यक्तित्व में प्रविष्ट बाण। बाण के ये तीनों रूप अलग-अलग नहीं हैं। बाण के इस सम्मिलित स्वरूप की अवतारणा लेखक के मनोलोक में हुई है। संस्कृत-साहित्य के प्रति लेखक की रुचि होने और संस्कृत का विद्वान् होने से उसने कादम्बरी, हर्षचरित आदि का गहन अध्ययन किया है। इससे उसके मानस में बाण के व्यक्तित्व का एक समाहृत रूप उभरा है। उसके व्यक्तित्व में लेखक को अपने व्यक्तित्व की झाँकी भी मिली है। ऐसे बाण के विषय में राहुल जी के कटु शब्दों को सुनकर लेखक के मन में अवश्य ही एक तीव्र प्रतिक्रिया हुई होगी और उसके व्यक्तित्व की प्रतिरक्षा के लिए ही लेखक को अपनी लेखनी सँभालनी पड़ी। इस लेखनी से जो रूप उभर सकता था वह 'आत्मकथा' के बाण के रूप से भिन्न नहीं हो सकता था।

लेखक की दूसरी भावना 'अपने बाण' के सबध में पाठकों को विस्मित और दंग कर देने की भी थी। जिस बाण के सबध में सब विद्वानों को बराबर ज्ञान हो, जिसका जीवनचरित हर्षचरित की कुछ पंक्तियों तक ही सीमित हो उसके चरित्र की रक्षा के लिए तैयार होने के लिए उपयुक्त साधनों की आवश्यकता होने से लेखक ने कुछ साधन 'ऐतिहासिक खल' से भी जुटाने की योजना की। इस योजना को प्रस्तुत करते हुए लेखक ने बड़ी विदग्धता से काम किया है। (आ. द्विवेदी ने अपनी कृति की प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए और विद्वान् पाठकों को चकित करने के लिए जिस खल को अपनाया है वह एक बड़ी भारी सूझ है और उसको जिस प्रकार निभाया है वह कल्पना की अमेय देन है, किन्तु वह खल सत्य के प्रकाश में रख दिया गया है; इसलिए लेखक 'खल-दोष' से मुक्त हो गया है।) अपने बाहु के डब्बे के रहस्य का उद्घाटन लेखक ने बड़े स्पष्ट शब्दों में कर दिया है किन्तु कला के धुँधिया बने बाने प्रकाश में अभिभूत पाठक अर्थ-सदेह में पड़ जाता है तो कलाकार का क्या दोष है?

यह अनुमान कर लेना अनुचित न होगा कि कला का संस्पर्श कल्पना के वरदान से होता है, इसलिए किसी भी कलाकृति में कल्पना-सृष्टि की उपेक्षा करना न तो उचित है और न सभव ही है। बाणभट्ट स्वय कलाकार था। [illegible]क को इस अनुमान का उपयोग करने में हिचकना नहीं चाहिये कि बाण ने कादम्बरी [illegible] चरित' में अपने जीवन की कुछ अनुभूतियों का [illegible] किया होगा। [illegible] में घटित कुछ घट-नाओं और संस्मरणों [illegible] और रोमां[illegible] उन रचनाओं में सुनिविष्ट [illegible] म्बरी' का गर[illegible]

(क)

बाण की

इन नामों के हेरफेर के साथ इस 'आत्मकथा' के सत्य' बन गये हैं। अच्छोद सरोवर मठ का पुजारी स्थाण्वीश्वर के राजदरबार का वर्णन, महाश्वेता और कादम्बरी छवि आदि वर्णनों ने 'आत्मकथा' में जो प्रतिष्ठा प्राप्त करली है, उनका मूल्य आदि क सत्य के रूप में तो आंका ही जा सकता है, ऐतिहासिक सत्य के रूप में भी प्रति शीय है। इसलिए यह कहना अनुचित न होगा कि 'जब किसी ऐतिहासिक पात्र की ज्ञात जीवनी के अभाव में उसकी आत्मकथा लिखी जाती है तब उसकी कल्पित यां भी उपजीव्य होकर इतिहास एवं तथ्य का भ्रम प्रस्तुत करती हैं। जिस प्रकार ने 'हर्षचरित' के स्थाण्वीश्वर की सृष्टि और विन्ध्याटवी के प्राकृतिक सौन्दर्य को दम्बरी' के माध्यम से उज्जयिनी और गन्धर्वलोक के सौन्दर्य में रूपान्तरित कर दिया उसी तरह द्विवेदी जी ने 'आत्मकथा' के स्थाण्वीश्वर, उज्जयिनी, विन्ध्याटवी, कादम्बरी आदि को पुनः रूपान्तरित कर दिया है। 'कादम्बरी' की कोकिलाएँ और महाश्वेता जोड़ी 'आत्मकथा' में भट्टिनी और निपुणिका की जोड़ी के समकक्ष देदीप्यमान हो उठी। इस तरह 'आत्मकथा' में लेखक ने बाणभट्ट की 'मूकआत्मकथा' की विस्तृत भूमि ए' प्रस्तुत की है।'[8]

'आत्मकथा' ने 'हर्षचरित' और 'रत्नावली' के बाण के चरित्र को प्रमुख रूप भी उसकी कल्पना-शक्ति को उत्पादित करने का श्रेय प्राप्त किया है।' डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी को बाण का चरित्र चित्रण अभिप्रेत नहीं था अभिप्रेत था उनका 'उन्नत नरोत्तम' स्वरूप और उसी की सृष्टि के लिए इतने बड़े संसार की आयोजना है। 'बीच्चा से गया' में राहुल सांकृत्यायन बाण को लड़कियों को भगाने वाला लम्पट आदि विशेषणों से साधित कर सकते हैं तो क्या डा० द्विवेदी परिस्थिति और दृष्टिकोण के में उसके चरित्र को औचित्य-मंडित नहीं कर सकते? डा० द्विवेदी इन्कार नहीं करते कि बाण नट बनने वाला पुतलियों का नाच दिखाने वाला और देश-देशान्तर में घूमने वाला था। वे इन्कार नहीं करते कि उसकी मित्र-मंडली ४४ संस्थाओं की थी। उनमें मुद्दस्य ग्रहाय स्त्रियाँ, धूर्त परिव्राजक प्रगल्भी कवि और विद्वान्, संगीतज्ञ नटक साधु जन्मासी वैद्य और मन्त्रसाधक पारस्य बन्धु-पुलिन आदि विविध घरानों के लोग थे। 'आत्मकथा' के लेखक ने इन सबके गुण बाण में संकलित कर दिये हैं। विविधता का उदात्तीकरण होने से बाण का नया जन्म मिल गया है और समग्र कथा में इस मत की स्थापना हो रही है— लोग मुझे 'भुजंग' समझने लगे पर मैं लंपट कभी नहीं था। मेरे इसी सहा सुभूतिमय हृदय ने ही तो मुझे आवारा बना दिया—मैं सदा अपने को समझाने में समर्थ रहा हूँ। इस बात का मुझे अभिमान है।

(पात्रों और घटनाओं के इतिहास के अतिरिक्त 'आत्मकथा' के लेखक की दृष्टि बाण की ऐतिहासिकता पर भी रही है।) कहने की आवश्यकता नहीं कि हुएनसांग आदि

[8] आत्मकथा भवांक ३ पृ ११४

अनेक दृष्टियों से भारत के इतिहास का स्वर्ण युग कहा जाता है, किन्तु लेखक ने उससे पहले और पीछे की परिस्थितियों को भी उससे जोड़कर इतिहास के एक विशाल युग की पीठिका पर कला और धर्म की उपलब्धियों और प्रवृत्तियों को सम्बलित करने का प्रयत्न किया है। कला और धर्म के इतिहास का जो युग लेखक ने अपनी कृति में दिया है उसकी सम्पन्न-भूमिका में कलात्मक उपलब्धियों और धार्मिक सम्प्रदायों और कर्मकाण्डों की मीमांसा का बहुत बड़ा योग है। गुप्तकालीन भारत के कलात्मक एवं धार्मिक इतिहास के अनुसंधान की भूमि पर लेखक के सामने कुछ ऐतिहासिक महापुरुष और कुछ ग्रन्थ बड़ी प्रमुखता से आये हैं। जिस प्रकार उसकी कला-चेतना ने भरतमुनि को अभिस्पृष्ट रखा है, उसी प्रकार वात्स्यायन को भी। यदि नाटक, रंगमंच, नृत्य तथा ललित कलाएं प्राचीन इतिहास का गौरव बढ़ा सकती हैं तो काम-कलाओं और कलात्मक विनोदों से भी ऐतिहासिक गौरव सर्वमित ही होता है। साहित्यिक इतिहास की भूमिका पर लेखक ने भासक, भवभूति, कालिदास हर्ष और बाणभट्ट को बड़े सम्मान से उतारा है। 'आरमकथा' के धार्मिक इतिहास की भूमिका में मिलिन्दप्रश्न, कौल-निर्णय मायामत्त अभिसंपितार्थचिन्तामणि महाभारत भक्तिरसामृतसिन्धु, चण्डीशतक आदि के सिद्धान्तों का समीप योग रहा है। इन्हीं सब के योग से परम्परा की रचना होती है। 'आरमकथा' की सृजन-प्रौढ़ता में लेखक का ऐतिहासिक बोध विशेष महत्त्वपूर्ण है।

आरमकथा की पूरी-संस्कृति स्वर्णकाल की संस्कृति है और 'महावराह' गुप्त युग के प्रमुख आराध्यदेव हैं। उनकी मूर्ति गुप्त युग की शिल्प प्रतिमा है। लेखक ने आरम कथा के सारे कथानक को 'महावराह के विराट् प्रतीक' के चारों ओर चन्द्र के चारों ओर चन्द्रिका की भाँति, लपेट दिया है। 'भगवान् वराह ने जलोद-मग्ना धरित्री का उद्धार किया था। गुप्त युग में चन्द्रगुप्त आदि राजा वराह के और आर्यावर्त धरित्री के प्रतीक के रूप में स्वीकार कर लिये गये। स्वर्गीय 'जयशंकर प्रसाद' ने भी 'ध्रुवस्वामिनी' नाटिका के वातावरण में उद्धार की भूमिका प्रस्तुत की है जो चन्द्रगुप्त से सम्बन्धित है। चन्द्रगुप्त ने ध्रुवदेवी या ध्रुवस्वामिनी का उद्धार किया था। डा० द्विवेदी के मानस में गुप्तकाल की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में उद्धार-कथा विलुप्त न हो सकी। उत्तर से प्रचण्ड दस्युओं की बर्बर सेना आर्यावर्त पर आक्रमण करने को तैयार थी अतएव हर्ष के सामने भी आर्यावर्त के उद्धार की समस्या थी। लेखक ने उद्धार की आवश्यकता और परिस्थितियों का आकलन करके 'महावराह' को एक ऐतिहासिक-राजनीतिक समानान्तरता तथा भक्ति-सम्प्रदाय के समुपस्थापन का कालपुरुष बना लिया और सम्पूर्ण कथा को महावराह की विराट छाया ने धीरोदात्तता प्रदान की। राजनीति की भूमिका पर सब पात्र आर्यावर्त का उद्धार करने के लिये तत्पर हैं और धर्म की भूमिका पर सब पात्र रहस्यपूर्ण पतनोन्मुखी साधनाओं का उद्धार करने को प्रस्तुत हैं। यह मिथक ऐतिहासिक समस्याओं सामाजिक प्रश्नों और नारी-जीवन को भी महावराह के धर्म से संबंधित कर देता है।

'आत्मकथा' में उद्धार-कामना की तीन भूमिकाएं सामने आती हैं—एक पर बाण भट्टिनी और निपुणिका का उद्धार करने के लिए कटिबद्ध है दूसरी पर महावराह के भक्त हर्षदेव चरितों का उद्धार करने के लिए कृतसंकल्प है, और तीसरी पर महावराह भाव को दीपित छाया में सभी पात्र घटनाओं की कलुषता से उबर कर हृदय-राग की प्रभा से अभिषिक्त होते हैं। इस दृष्टि से महावराह मूर्तिमान सौभाग्य है। बाण भट्टिनी, निपुणिका और कृष्णवर्धन—सभी महावराह भाव से अनुप्राणित हैं। महावराह के दर्शन और स्तवन से घटनाओं का विरेचन होकर एक विलक्षण शान्तभाव की प्रतिष्ठा होती है। भट्टिनी हो चाहे निपुणिका, वह अपनी जीवन स्थितियों में महावराह की प्रतिमाओं के दर्शन से अपना विरेचन करती है। लेखक बाण भी महावराह-भाव से ही शान्ति प्राप्त करता है। महावराह की स्तुति से भावों का उदात्तीकरण एवं संकटाकीर्ण परिस्थितियों का निर्निवारण हुआ है। इस प्रकार महावराह भाव निश्चित इतिहास को प्रस्तुत करने, भक्ति-भाव को उजागर करने और पारिवारिक परिमार्जन करने में एक ही साथ प्रतिष्ठित-विज्ञ होता है।

इस 'आत्मकथा' के वातावरण से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि ऐतिहासिक कलाकृति के लिए वातावरण का बड़ा महत्त्व है। इसके द्वारा लेखक ने एक ओर तो इतिहास-कुतूहल बढ़ाया है और दूसरी ओर वेष-भूषा, आचार-विचार और चरित्र-भाव से बांधे हुए समाज का रूप-चित्र तैयार किया है तीसरी ओर 'आत्मकथा' की शैली के माध्यम से विवरणात्मकता के द्वारा चित्र-चित्रों को निखारा है, और चौथी ओर एक महान् कलाकृति के रूप में इस रचना में अनेक कलाओं की प्रशंसा और व्याख्या भी की है। इसके अतिरिक्त लेखक ने विभिन्न सम्प्रदायों की साधना-पद्धतियों और उनकी पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विताओं को उभारने के लिए अनेक कल्पित पात्रों की सृष्टि की है। कल्पना के जटिल स्पन्दनों में भी लेखक की ऐतिहासिक रुचि ने तत्कालीन समाज के धार्मिक विभाजन का मान-चित्र अंकित कर दिया है। कुमार कृष्णवर्धन के व्यक्तित्व का उपयोग लेखक ने प्रमुखतः उस समय की कुछ राजनयिक चुनौतियों को निरूपित करने के लिए किया है।

ऐतिहासिक नामों और घटनाओं के माध्यम से लेखक इस कृति की ऐतिहासिकता का आभास देता जाता है किन्तु ऐसा करने में उसकी रुचि रमती नहीं है; वह इस स्थिति में रस नहीं लेता। अवसर मिलते ही 'सत्य-लोक' से रोमांस की मेघ-वीथियों में विहार करने लग जाता है क्योंकि वह सत्य-लोक का मीमांसक न होकर मुख्यतः अन्तश्च घटनाओं का शिल्पी है। आत्मकथा में बाण को हर्षचरित के समापंहिता का रूप नहीं दिया गया। ऐतिहासिक मर्यादा के निर्वाह के लिए वह राजकुल के रूप में अवश्य समाहृत कर दिया गया है।

कुमार कृष्णवर्धन राजनयिक गति-विधियों में बड़े निपुण हैं। वे अपने मनुष्यत्व हार एवं मधुर भाषण से भट्टिनी के टूटे हुए मन को जोड़ देते हैं। भट्टिनी को सम्मान

देने में अपने हृदय की कितनी सम्पत्ति का उपयोग करते हैं यह कहना तो कठिन है किन्तु इससे वे देवपुत्र तुवरमिलिन्द से सहयोग पाने की योजना का जाल अवश्य फैला लेते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि प्रत्यन्त दस्युओं को देश की सीमा से बाहर खदेड़ने के लिए सीमान्त शासक तुवरमिलिन्द से मैत्री करना एक सफल राजनीतिक दृष्टिकोण था।

संक्षेप में यह कह देना पर्याप्त है कि इस कृति में लेखक ने वातावरण का बड़ा सुन्दर उपयोग किया है क्योंकि उसके माध्यम से ही तो वह समय 'ऐतिहासिक समाज' का कलात्मक पुनर्सर्जन करने में समर्थ एवं सफल हुआ है। हर्ष, भर्तृवर्मा, भावक, ग्रहवर्मा और कृष्णवर्धन को छोड़ कर कथा के प्राय सभी पात्र काल्पनिक हैं। काम की दृष्टि से हर्ष को छोड़कर शेष सभी पात्र नाम के लिए ही ऐतिहासिक हैं। कल्पना की इस सुन्दर रम्यस्थली में, कथा के इस भव्य प्रासाद में ऐतिहासिक पात्रों को उनके अनुरूप आवास तो दिया गया है परन्तु उनकी गतिविधियों का नियन्त्रण लेखक की सौन्दर्य रुचि ने ही किया है। फलस्वरूप 'बाणभट्ट की आत्म-कथा' इतिहास की भूमिका पाकर भी आत्मकथात्मक उपन्यास की अपेक्षा 'आत्मकथात्मक रोमांस' ही अधिक है क्योंकि इसमें अनुकृत रोमांटिक जीवन-दृष्टि का ही संनिवेश है। यहाँ यह स्मरणीय है कि लेखक के तर्क ने भावना को सदैव आदर देने की चेष्टा की है।

६. वस्तु-विन्यास और यात्राएँ

'आत्मकथा' को ऐतिहासिक आधार प्रदान करने के लिए जिस प्रकार पात्रों, घटनाओं और वातावरण का महत्त्व है उसी प्रकार तिथियों और स्थानों का महत्त्व भी है। पर्वों और प्राकृतिक दृश्यों के वर्णनों में स्थानों का ऐतिहासिक और भौगोलिक महत्त्व तो सरलता से समझ ला दिया गया है किन्तु यात्राओं के वर्णनों के माध्यम से भी इस मूल्य का आकलन किया गया है। दृश्य-सौन्दर्य को प्रकट करने में यात्राओं ने 'आत्मकथा' के महत्त्व को बहुत बढ़ा दिया है। लेखक ने यात्रा-साहित्य नहीं लिखा है किन्तु यात्रा-साहित्य की प्रचुर संपत्ति 'आत्मकथा' की यात्राओं में संनिहित करती है।

आत्मकथा में यात्राओं की पाँच प्रमुख भूमिकाएँ हैं। इनके संबन्ध से कथानक भी पाँच भागों में विभक्त हो जाता है। पहली भूमिका स्थाण्वीश्वर से प्रारम्भ होती है और इसी भूमिका पर भट्ट का निपुणिका और भट्टिनी से परिचय, भट्टिनी की मुक्ति और स्थाण्वीश्वर से प्रस्थान होता है।

दूसरी भूमिका पर भट्ट भट्टिनी और निपुणिका नौका द्वारा गंगा के मार्ग से मगध की ओर प्रयाण करते हैं। चरणाद्रि दुर्ग के पास युद्ध, भट्टिनी-निपुणिका का पानी में डूबना और तीनों का सौरिकदेव नामक आटवीय सामन्त के घर अतिथि-रूप में निवास करना—ये दूसरी भूमिका की घटनाएँ हैं।

तीसरी भूमिका पर बाणभट्ट हर्ष के दरबार में जाता है। बाण के साथ सभा में जो दुष्ट व्यवहार होता है वह इसी भूमिका पर होता है।

चौथी भूमिका पर बाण राजदूत के रूप में भट्टेश्वर जाता है और भट्टिनी को स्थाण्वीश्वर आमन्त्रित करता है। भट्टिनी आमन्त्रण स्वीकार करके एक स्वतन्त्र रानी की भाँति जाती है और वहाँ आर्यावर्त की रक्षिता शक्ति के रूप में भट्टिनी का आदर किया जाता है।

पाँचवीं भूमिका पर तीनों पुनः स्थाण्वीश्वर आते हैं। इसी भूमिका पर निपुणिका की मृत्यु हो जाती है और कुरुक्षेत्र की यात्रा का संकेत भी इसी भूमिका पर प्राप्त है।

यात्राओं की पहली भूमिका पहले से सातवें उच्छ्वास तक प्रकाशित है। दूसरी भूमिका आठवें उच्छ्वास से १२ वें उच्छ्वास तक फैलती हुई दृष्टिगोचर होती है। तीसरी भूमिका बारहवें उच्छ्वास के अन्तिम भाग से लेकर चौदहवें उच्छ्वास के अन्त तक चलती है। चौथी भूमिका का प्रसार १४वें उच्छ्वास से सत्रहवें उच्छ्वास तक है। इसके बाद बीसवें उच्छ्वास तक पाँचवीं भूमिका चलती है।

इन पाँच भूमिकाओं में बटी हुई यात्राओं को पात्र-संकल्प से भी व्यक्त किया जा सकता है। प्रमुख पात्र बाण है। सबसे अधिक यात्राएँ उसी ने की हैं। उसकी पहली यात्रा प्रीतिकूट से काशी तक होती है।

यात्रा करने वालों में बाण, भट्टिनी निपुणिका, सुचरिता महामाया और वेंकटेश भट्ट प्रमुख हैं। बाण प्रीतिकूट से काशी और काशी से उज्जयिनी की प्रथम यात्रा करता है। उसको इस बीच विन्ध्याटवी में रमण करने का अवसर भी मिलता है। वह उज्जयिनी से स्थाण्वीश्वर, स्थाण्वीश्वर से चरणाद्रि दुर्ग श्यामसर तथा भद्रेश्वर की यात्रा करता है। भद्रेश्वर से फिर स्थाण्वीश्वर, स्थाण्वीश्वर से भद्रेश्वर और फिर वापस स्थाण्वीश्वर जाता है। यहीं से भट्टिनी को छोड़ कर पुष्यपुर जाने का संकेत मिलता है।

भट्टिनी और निपुणिका ने स्थाण्वीश्वर से भद्रेश्वर और भद्रेश्वर से स्थाण्वीश्वर की यात्राएँ तो बाण के साथ की हैं। इनके अतिरिक्त भट्टिनी को रोमकपत्तन (रोम) के उत्तर प्रस्थीकवर्ष में जन्म लेकर कई बार आना-जाना पड़ा। पहले तो वह नगरहार से पुष्यपुर, वहाँ से कालञ्जर और फिर स्थाण्वीश्वर आई। अन्त में स्थाण्वीश्वर से पुष्यपुर जाने का संकेत मिलता है। निपुणिका उज्जयिनी स्थाण्वीश्वर, सौरमहल और भद्रेश्वर की यात्राओं से संबन्धित रही। भद्रेश्वर से स्थाण्वीश्वर आने के बाद ही उसकी मृत्यु हो जाती है।

सुचरिता महामाया और वेंकटेश्वर भट्ट की यात्राओं का उल्लेख भी आत्मकथा में मिलता है। ये यात्राएँ काशी कान्यकुब्ज, कुलविरि, बदरीवर्ष आदि स्थानों का प्राचीन गौरव तो सामने लाती ही हैं, साथ ही कथा के विकास में भी योग देती हैं। वेंकटेश्वर भट्ट की यात्रा का सम्बन्ध श्रीपर्वत और सहियानपीठ से जोड़ कर लेखक ने इन स्थानों के धार्मिक महत्त्व को प्रकाशित किया है।

आत्मकथा में इतने स्थानों और इतनी यात्राओं का वर्णन होते हुए भी लेखक की रुचि ने भद्रेश्वर और संबन्धित यात्राओं और दृश्यों के वर्णन के लिए जो अवसर लिया है वह द्रष्टव्य है। इन वर्णनों में कथा में लहरियाँ सी उठती हैं। इन यात्राओं के अवसर पर पात्रियों को अपनी मानसिक कुण्ठियों और प्रासंगिकताओं को अनावृत करने का मौका मिलता है। कई संस्मरण और जीवनियाँ इन्हीं यात्राओं के दर्शनार्थ घूमती हैं जिनको मूल कथा में जोड़ देने के लिए सुअवसर मिलता है। इन यात्राओं में कथा फूलती-फलती तो है ही साथ ही ये उपन्यास के कथन को परिनिष्ठित और कार्य-व्यापार को प्रेरित करती हैं। उपन्यास-शिल्प का नियमन करती हुई यात्राएँ वर्णनों के लिए अवकाश उद्गारों के व्यक्तीकरण के लिए अवसर, कार्य-व्यापार को प्रसार और चरित्र को विकास भी प्रदान करती हैं।

७ लेखक की आत्मकथा का अंश

बाणभट्ट की आत्मकथा के दो पहलू देखे जा सकते हैं—एक पहलू में, जो बिल्कुल स्पष्ट है बाण की कथा है और दूसरे में जो गुप्त है किन्तु गवेष्य है, लेखक (आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी) की कथा है। इतिहास की सीमाओं पर जहाँ जहाँ बाण को देखा जा सकता है वहाँ वहाँ आधुनिक समाज की सीमाओं में लेखक अपने व्यक्तित्व का विनिवेश कर देता है। लेखक ने जिन पात्रों को कथा से सबद्ध किया है वे सब ऐतिहासिक नहीं हैं। भट्ट शर्मा चायक दीदी अघोर भैरव और वटिमवट्ट की पृष्ठभूमि में द्विवेदी जी के अपने सबंध झलक गये हैं।

भट्ट शर्मा के पात्र में लेखक की खोज की जा सकती है। भट्ट शर्मा ऐतिहासिक क्षेत्र में बाण के गुरु हैं, किन्तु उनमें द्विवेदी जी के गुरु पंडित रामवरन शोम्भ के व्यक्तित्व की झाँकी देखी जा सकती है। भट्ट शर्मा के वंश, जाति, गोत्र आदि की भूमिका में द्विवेदी जी के वंश जाति गोत्र आदि की खोज सकते हैं। लेखक ने अपने एक बनारसी मित्र को, जो अकायक पान खाते थे चायक बना दिया है। दीदी में शान्तिनिकेतन में आई हुई एक आड्डिमन वृद्धा की छाया मिलती है। अघोरभैरव 'ककासीतला' (शान्तिनिकेतन से छे मील दूरी स्थित साधना-पीठ) में रहने वाले भैरव की प्रतिमूर्ति हैं। ककासीतला के भैरव के सबन्ध में अनेक दन्तकथाएँ प्रचलित हो चुकी हैं। सम्भवतः साधना-पद्धतियों को कथारूपों में रचने की प्रेरणा लेखक को हरप्रसाद शास्त्री द्वारा लिखी गई उस कथा से मिली हो जो उन्होंने तांत्रिकों के विषय में लिखी थी। आश्चर्य नहीं कि भट्टिनी और निपुणिका किसी सामयिक बिम्ब के रूप में ही प्रतिरूपित हुई हों। 'शान्तिनिकेतन' के किसी छात्र की छाया ही वटिमवट्ट में दृष्टिगोचर होती है। सुना जाता है कि द्विवेदी जी के समय में शान्तिनिकेतन में एक ऐसा छात्र वहाँ था भी।

पात्रों के अतिरिक्त बाणभट्ट की आत्मकथा में कुछ रुचियाँ प्रवृत्तियाँ और आस्थाएँ प्रत्यक्ष होती हैं जिनका संबन्ध अनेक स्थानों पर आचार्य द्विवेदी जी से जोड़ा जा सकता है। अघोरभैरव के प्रति बाण की जिस आस्था की अभिव्यक्ति हुई है वह लेखक की अपनी रुचि का प्रमाण है। 'नाथ सम्प्रदाय' 'कबीर', 'हिन्दी-साहित्य का आदिकाल' आदि में लेखक की इस रुचि का अनुमान लगाया जा सकता है। रचना के उपसंहार में लेखक की इस उक्ति से इस अनुमान की पुष्टि हो सकती है कि 'इस कथा में अपने गुरु भट्ट शर्मा की अपेक्षा अघोरभैरव के प्रति बाणभट्ट की आस्था अधिक प्रकट हुई है।'

इन पाँच भूमिकाओं में बटी हुई यात्राओं को पात्र-संबन्ध से भी व्यक्त किया जा सकता है। प्रमुख पात्र बाण है। सबसे अधिक यात्राएँ उसी ने की हैं। उसकी पहली यात्रा प्रीतिकूट से काशी तक होती है।

यात्रा करने वालों में बाण, भट्टिनी, निपुणिका सुचरिता महामाया और वेंकटेश भट्ट प्रमुख हैं। बाण प्रीतिकूट से काशी और काशी से उज्जयिनी की प्रथम यात्रा करता है। उसको इस बीच विन्ध्याटवी में रमण करने का अवसर भी मिलता है। वह उज्जयिनी से स्थाण्वीश्वर, स्थाण्वीश्वर से चरणाद्रि दुर्ग व्यवसर तथा भद्रेश्वर की यात्रा करता है। भद्रेश्वर से फिर स्थाण्वीश्वर, स्थाण्वीश्वर से भद्रेश्वर और फिर वापस स्थाण्वीश्वर जाता है। यहीं से भट्टिनी को छोड़ कर पुष्पपुर जाने का संकेत मिलता है।

भट्टिनी और निपुणिका ने स्थाण्वीश्वर से भद्रेश्वर और भद्रेश्वर से स्थाण्वीश्वर की यात्राएँ तो बाण के साथ की हैं। इसके अतिरिक्त भट्टिनी को रोमकपत्तन (रोम) के उत्तर अन्तीकवर्ष में जन्म लेकर कई बार आना-जाना पड़ा। पहले तो वह नवसार से पुष्पपुर, वहाँ से वासन्धर और फिर स्थाण्वीश्वर आई। अन्त में स्थाण्वीश्वर से पुष्पपुर जाने का संकेत मिलता है। निपुणिका उज्जयिनी स्थाण्वीश्वर, सौरभह्रद और भद्रेश्वर की यात्राओं से संबन्धित रही। भद्रेश्वर से स्थाण्वीश्वर आने के बाद ही उसकी मृत्यु हो जाती है।

सुचरिता महामाया और वेंकटेश्वर भट्ट की यात्राओं का उल्लेख भी आरम्भकथा में मिलता है। ये यात्राएं काशी कान्यकुब्ज कुमारगिरि, बदरीतीर्थ आदि स्थानों का प्राचीन गौरव तो सामने लाती ही हैं साथ ही कथा के विकास में भी योग देती हैं। वेंकटेश्वर भट्ट की यात्रा का सम्बन्ध श्रीपर्वत और उड्डियानपीठ से जोड़ कर लेखक ने इन स्थानों के धार्मिक महत्त्व को प्रकाशित किया है।

आरम्भकथा में इतने स्थानों और इतनी यात्राओं का वर्णन होते हुए भी लेखक की दृष्टि ने भद्रेश्वर और सम्बन्धित यात्राओं और दृश्यों के वर्णन के लिए जो अवसर लिया है वह महत्त्व है। इन वर्णनों में कथा में लहरियाँ सी चलती हैं। इन यात्राओं के अवसर पर पात्रों को अपनी मानसिक वृत्तियों और प्रासंगिकताओं को अभिव्यक्त करने का मौका मिलता है। कई संस्मरण और जीवनियाँ इन्हीं यात्राओं के इर्दगिर्द घूमती हैं, जिनको मूल कथा में गौण देने के लिए सुअवसर मिलता है। इन यात्राओं में कथा घूमती-फिरती तो है ही साथ ही ये उपन्यास के कथन की परिस्थिति और कार्य-व्यापार को प्रेरित करती हैं। उपन्यास-शिल्प का नियमन करती हुई यात्राएँ वर्णनों के लिए उपकरण पात्रों के व्यक्तीकरण के लिए अवसर, कार्य-व्यापार की प्रसार और चरित्र को विकास भी प्रदान करती हैं।

७ लेखक की आत्मकथा का अंश

बाणभट्ट की आत्मकथा के दो पहलू देखे जा सकते हैं—एक पहलू में, जो बिल्कुल स्पष्ट है बाण की कथा है और दूसरे में जो गुप्त है किन्तु गवेष्य है, लेखक (आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी) की कथा है। इतिहास की सीमाओं पर जहाँ जहाँ बाण का देखा जा सकता है वहाँ वहाँ आधुनिक समाज की सीमाओं में लेखक अपने व्यक्तित्व का विस्तार कर देता है। लेखक ने जिन पात्रों को कथा से संबद्ध किया है वे सब ऐतिहासिक नहीं हैं। भट्ट शर्मा भावक, दीदी, अघोर भैरव और घटिलवटु की पृष्ठभूमि में द्विवेदी जी के अपने संबंध झलक गये हैं।

भट्ट शर्मा के पक्ष में लेखक की खोज की जा सकती है। भट्ट शर्मा ऐतिहासिक क्षेत्र में बाण के पुत्र हैं किन्तु उनमें द्विवेदी जी के पुत्र पंडित रामचन्द्र शुक्ल के व्यक्तित्व की झाँकी देखी जा सकती है। भट्ट शर्मा के वंश, जाति, गोत्र आदि की भूमिका में द्विवेदी जी के वंश, जाति, गोत्र आदि को खोज सकते हैं। लेखक ने अपने एक बनारसी मित्र को जो पकावक पात्र खाते थे, भावक बना दिया है। दीदी में शान्तिनिकेतन में आई हुई एक आड्डिमन वृद्धा की छाया मिलती है। अघोरभैरव 'कपालीतला' (शान्तिनिकेतन से छः मील दूरी स्थित साधना-पीठ) में रहने वाले भैरव की प्रतिमूर्ति है। कपालीतला के भैरव के सम्बन्ध में अनेक दन्तकथाएँ प्रचलित हो चुकी हैं। सम्भवतः साधना-पद्धतियों को कथारूपों में रचने की प्रेरणा लेखक को हरप्रसाद शास्त्री द्वारा लिखी गई उस कथा से मिला हो जो उन्होंने तांत्रिकों के विषय में लिखी थी। आश्चर्य नहीं कि भट्टिनी और निपुणिका किसी सामयिक बिम्ब के रूप में ही प्रतिरूपित हुई हों। 'शान्तिनिकेतन के किसी छात्र की छाया ही घटिलवटु में दृष्टिगोचर होती है। सुना जाता है कि द्विवेदी जी के समय में शान्तिनिकेतन में एक ऐसा छात्र रहा था जो।

पात्रों के अतिरिक्त बाणभट्ट की आत्मकथा में कुछ रुचियाँ, प्रवृत्तियाँ और आस्थाएँ प्रत्यक्ष होती हैं जिनका सम्बन्ध अनेक स्थानों पर आचार्य द्विवेदी जी से जोड़ा जा सकता है। अघोरभैरव के प्रति बाण की जिस आस्था की अभिव्यक्ति हुई है, वह लेखक की अपनी रुझान का प्रमाण है। 'नाथ सम्प्रदाय' 'कबीर' 'हिन्दी-साहित्य का आदिकाल' आदि में लेखक की इस रुझान का अनुमान लगाया जा सकता है। रचना के उपसंहार में लेखक की इस उक्ति से इस अनुमान की पुष्टि हो सकती है कि "इस कथा में अपने गुरु भट्ट शर्मा की आस्था अघोरभैरव के प्रति बाणभट्ट की आस्था अधिक प्रकट हुई है।"

ऐसी बात नहीं है कि लेखक ने आत्मकथा में केवल समसामयिक बोध ही बिखेरा किया है, प्रत्युत् अपनी अन्तर्कथा भी बाण और निपुणिका के मुख से कहलाने का प्रयत्न किया है। यह ठीक है कि अनेक पात्र और घटनाएँ लेखक के समसामयिक बोध को प्रकाशित करती हैं किन्तु यह भी ठीक है कि बाण और निपुणिका में अनेक स्थानों पर मानों लेखक की अन्तर्कथा ही सुना-दी है। बाण गल्प सुना-सुना कर ठहाका मारकर हँसता है इस प्रकृति को आचार्य द्विवेदी के इष्ट मित्र उनकी सहचरी के रूप में देख सकते हैं। बच्चों के साथ हँसना एक बात है, किन्तु रस ले-लेकर हँसना दूसरी बात है। आचार्य द्विवेदी का हँसना इसी प्रकार का है और यही बाण की प्रकृति पर आरोपित किया गया है।

कालिदास की साहित्यिक कृतियों के प्रति बाण की रुचि में द्विवेदीजी की निजी रुचि द्रष्टव्य है। जितना चाव कालिदास की रचनाओं के पढ़ने में बाण को है उतना ही डा० द्विवेदी को है। उनकी पठन-रुचि जितनी कालिदास की कृतियों में रमती है उतनी अन्यत्र नहीं रमती। चित्रण की भूमिका पर कोई भी वस्तु लेखक को 'अतीत' में निमग्न कर देती है। यह प्रवृत्ति बाण की प्रकृति से भी अभिन्न है।

लेखक भाषण-कला में निष्णात है। उनके भाषण चमत्कारी होते हैं। भाषण के बीच-बीच में संस्कृत श्लोकों की बना-बनुनी बौछारें अपने प्रभाव का रंग जमाये बिना नहीं रह सकती। उनके भाषण में भावों की हिलोरें उठती जाती हैं, जिनमें काव्य-रस सरसता प्रतीत होता है। उनका कहना है कि वह लेख या भाषण कैसा जिसमें भाषा रमकता नहीं। लेखक की मस्त हँसी भाषण में चार चाँद लगा देती है। इन प्रवृत्तियों को लेखक ने बाण के स्वभाव में भी झलकाया है।

जो लोग डा० द्विवेदी के विचारों से परिचित हैं वे जानते होंगे कि समन्वयवादी दृष्टि लेखक की वैचारिक निधि का प्रमुख अङ्ग है इसीलिए रूढ़ परंपराएँ लेखक के व्यक्तित्व में सम्मानित नहीं हैं। वह किसी भी कल्याणकारी परिवर्तन को स्वीकार कर सकता है। बाण के व्यक्तित्व में भी समन्वयवादी दृष्टिकोण का प्रमुख बोध है। इसलिए इन उक्तियों में हम कथा के पात्रों के बीच डा० द्विवेदी के दृष्टिकोण की झाँकी पा सकते हैं—

(१) "साधारणतः लोग जिस उचित-अनुचित के लेखे रास्ते से सोचते हैं उससे मैं नहीं सोचता। (बाण)

(२) 'तू सामर्थ प्रतिज्ञा के सफल होने को बड़ी चीज समझती है। मा बहन, प्रतिज्ञा करना ही बड़ी चीज है।" (भट्टिनी निपुणिका से)

(३) "लोक-कल्याण प्रधान वस्तु है। वह जिससे सधता हो, वही सत्य है। हमारी समाज-व्यवस्था ही ऐसी है कि उसमें सत्य अधिकतर स्थानों में मिथ्या का काम करता है। (हर्षवर्धन)

इन उक्तियों में लेखक के अपने सिद्धान्तों का दिग्दर्शन तो किया ही जा सकता है साथ ही इनमें उसकी घोर लोकानुभूति और आकांक्षा भी अभिव्यक्त हो गई है।

'सौभाग्य' और 'भट्ट' लेखक की आस्था के प्रमुख प्रतिष्ठान-बिन्दु हैं। इनमें बाणभट्ट के पीछे उसकी अपनी वैष्णव आस्था का प्रतिबिम्ब झलक रहा है। लेखक की मस्ती की आधारशिला वस्तुतः 'सौभाग्य' की आशा और 'भट्ट' में विश्वास पर निहित है। यही मस्ती बाणभट्ट में विन्यस्त हुई है।

नारी के संबन्ध में आचार्य द्विवेदी का मत मैं व्यक्तिगत रूप से जानता हूँ। वे उसके प्रति बड़े सदाशय और उदार हैं। आज से नहीं, छोटेपन से ही वे स्त्री के प्रति आदर भाव रखते हैं और उनके आचरणिक कौरूप्य में भी वे एक दिव्य शक्ति की झाँकी पाते हैं। जिन परिस्थियों में नारी को कुलभ्रष्टा समझा जाता है उनको सामने रख कर ही वे नारी के मूल्य को आँकते हैं। दोष परिस्थितियों के सिर पर है नारी के ऊपर नहीं। इसके अतिरिक्त लोक-दृष्टि कुलभ्रष्टा समझी जाने वाली नारियों के अन्तर्भाव पर न पड़ कर उनके बाह्याचरण पर ही पड़ती है जिससे सहानुभूतियाँ भी अपमान की खाई में गिरायी जाती हैं। सच तो यह है कि नारी के संबन्ध में बाण का दृष्टिकोण लेखक का अपना दृष्टिकोण है। बाण कहता है— बहुत छुटपन से ही मैं स्त्री का सम्मान करना जानता हूँ। साधारणतः जिन स्त्रियों को चंचल और कुलभ्रष्टा माना जाता है, उनमें एक दैवी-शक्ति भी होती है यह बात लोग भूल जाते हैं मैं नहीं भूलता। मैं स्त्री-शरीर को देव मंदिर के समान पवित्र मानता हूँ—मैं सदा अपने को सँभाल सकने में समर्थ रहा हूँ। इस बात का मुझे अभिमान है।" इसी स्थापना में बाण का जीवन लेखक के जीवन का दर्पण बना हुआ है। "फलस्वरूप एक ओर लेखक का चरित्र दूसरी ओर महाभाव की सौभाग्य छाया और तीसरी ओर उस सामन्त-युग के नैतिक बन्धन मिल-जुल कर 'आत्म कथा' में 'सम्भ्रट' बाण को भी देवोपम अभिभावक' में रूपान्तरित कर देते हैं।' १

बाण नारियों के प्रति कोमल एवं उदात्त भाव रखता है किन्तु वे बड़े पावन भाव हैं कहीं कापुरुष का नाम नहीं है। बाण स्त्री को देवता समझता है किन्तु देवता समझने की मनोवृत्ति भक्ति और अति की सीमा तक जा पहुँची है। इससे स्त्रियों की मानसी शोभा अद्भिमा के विकृत दृष्टिगोचर होती है। बाण पर 'पाषाण-पिंड' और 'प्रस्तरप्रतिमा' शब्दों के प्रहार किये जाते हैं। निपुणिका और भट्टिनी की मानसिक प्रतिक्रिया का स्वरूप स्वायुपौर्बल्य (निपुणिका के पक्ष में) और विश्वकल्याणवाद (भट्टिनी के पक्ष में) के रूप में होती है। बाण का यह आचरण उसे 'पुरुषपरु के कलंक से बचा लेता है। फिर भी उसे 'ओलेपन' के उपहास का भागी तो बनना ही पड़ता है। मनोविज्ञान की दृष्टि से बाण का स्वभाव एक पहेली है किन्तु एक प्रोफेसर के जटिल शिष्टाचार में उसे खोजते हुए हम लेखक के समीप पहुँच सकते हैं। "प्रेम की इस भावना में आसीकित होने वाला बाण लेखक के व्यक्तित्व को गूढ़ और महत्त्व प्रेम की दृष्टि तथा सनातन वैष्णव-मर्यादा

---

१ देखिये आलोचना—नवांक जनवरी १९६४ पृ० १२५

वाला आचरण ग्रहण करके एक मिला-जुला व्यक्तित्व प्राप्त करता है। लेखक तामसिकता से यथासंभव परिशुद्ध है, इसलिए सम्पूर्ण आत्मकथा में कोई भी ऐसा सांसारिक विकट घृणित दृश्य या तथाकथित अनैतिक संबंध नहीं आसका है। सारी कृति का यह परा तम लेखक के आचरण की महती देन है। लेखक नियति' तथा 'सौभाग्य' पर प्रबल विश्वास करने वाला है। फलस्वरूप बाण का चरित्र तथा उसके साथ-साथ सभी घट नाएँ भी 'नियति-तत्त्व' से संचालित हुई हैं। इस प्रकार आत्मकथा में लेखक का सम-सामयिक बोध और उसका अन्तर्मुखी तिमूलक इतिहास (आत्मकथा) क्रमशः मानवतावाद और नियतिवाद एवं वैष्णव मर्यादा का सामंजस्यीकरण करता है।'२

लेखक की संबंध-भावना के प्रकाश में आत्मकथा के स्थानों का परिचय दे देना भी इसलिए आवश्यक है कि उनसे लेखक की आत्मकथा पर भी प्रकाश पड़ता है। लेखक भट्टेश्वर में रम-सा गया है' इसलिए इस अंश में लेखक की आत्मकथा अधिक है बाण की कम। इस प्रसंग में उपसंहार इस वाक्य की पुष्टी अपने आप हो जाती है कि 'स्था-णीश्वर और चरणाद्रि दुर्ग (चुनार) का नाम मात्र का उल्लेख है, परन्तु भट्टेश्वर दुर्ग और उसके समीपवर्ती स्थानों का कुछ अधिक वर्णन है, जो काफी संकेतपूर्ण है।'' आत्म-कथा के अनेक स्थलों में घूमकर भी लेखक डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी अपने गाँव ओझ-वलिया और उसके पास-पड़ोस को नहीं भूले हैं। शान्तिनिकेतन का निवास भी ग्राम-मोह से उनकी मुक्ति नहीं कर सका है। उनकी अलबायी दृष्टि इस क्षेत्र में घूम-फिर कर आये बिना नहीं रही है। परिचित वातावरण के वर्णन और ओझवलिया के आसपास की भौगोलिक स्थिति के चित्रण से यह तथ्य प्रकाश में आ जाता है।

ओझवलिया बलिया जिले में है। इसका डाकघर भड़सर है। यही भड़सर या भरसर 'आत्मकथा' का भट्टेश्वर है। ओझवलिया में आरतदुबे का छपरा लेखक के पिता मह ने बसाया था। ओझवलिया दूरी के कारण आत्मकथा के स्थानों में सम्मिलित नहीं हो सका है किन्तु भरसर या भट्टेश्वर के वर्णन का प्राचुर्य देखते ही बनता है। भर सर गाँव बहुत पुराना है। यहाँ का दुर्ग सम्भवतः गंगा में डूब चुका है। गाँव के पास छोटी सरयू (महासरयू की एक शाखा) बहती है जो लेखक की कल्पना में महासरयू बन गई है। गाँव की सुरह झील ही सौरभ झील है जिसमें कादम्बरी के पम्पासरोवर तथा मानसरोवर के दृश्यों का सौन्दर्य भर दिया गया है। 'बक्तौर्य' गंगा के किनारे का 'बक्सरहा' गाँव है। कुम्भगिरि की स्थिति चुनार से चार मील दूर विन्ध्याचल पर्वत में है। कल्प प्रीतिकूट का संकेत करता है। इस प्रकार इस उपन्यास में बाण की प्रिय विन्ध्याटवी के बजाय लेखक के ग्रामांचल के दृश्य ही सामने आरहे हैं।

---

२. देखिये, आलोचना—नवांक, जनवरी, १९६४, पृ० १२६

८. वातावरण

आत्मकथा हर्षकालीन वातावरण लेकर निर्मित हुई है। हर्षचरित और कादम्बरी के अनेक सूत्रों से वातावरण का यह पट तैयार हुआ है किन्तु कल्पना के उन्मुक्त सहयोग ने इतिहास को अपने ढंग से सजाया है। इसमें राजनीति, धर्म समाज संस्कृति और प्रकृति के पृथक-पृथक रंग दृष्टिगोचर होते हैं।

राजनीतिक वातावरण

राजनीतिक वातावरण भी विविध रंग का दिखायी देता है। इनमें से विदेशी आक्रमण प्रमुख है। जिन म्लेच्छों से लोहा लेने के लिए समुद्रगुप्त ने अपने पूर्ण बल से काम लिया, जिनको दबाने के लिए चन्द्रगुप्त की रण-हुंकारें सागर की भाँति उमड़ीं मौखरियों की दुर्दान्त वाहिनी प्रलय-मेघों की भाँति घुमड़ती रही वे अभी तक जीवित थे। प्रत्यन्त दस्युओं के रूप में वे अब भी आक्रमण कर रहे थे।

हूण

(बाणभट्ट की आत्मकथा में हूणों के लिए ही सम्भवतः 'म्लेच्छ' शब्द का प्रयोग किया गया है।) स्वर्गीय डा० भाँडारकर हीराचन्द ओझा ने 'मध्य एशिया में रहने वाली एक आर्य जाति को हूण' कहा है। उनका अनुमान तो यह भी है कि 'कुषान और हूण दोनों एक ही वंश की भिन्न शाखाओं के नाम होने चाहिये। मुसलमान लोग अब तक तिब्बत वालों को 'हूणिया' कहते हैं जिससे अनुमान होता है कि कुषान और हूणवंशियों के पूर्वज तिब्बत से विजय करते हुए मध्य एशिया में पहुँचे और वहाँ उन्होंने अपना आधिपत्य जमाया। वहाँ से उन्होंने फिर, भिन्न-भिन्न समय में हिन्दुस्तान में आकर अपने राज्य स्थापित किये।'[2]

"हूणों के पंजाब से दक्षिण में बढ़ने पर गुप्तवंशीय राजा कुमारगुप्त से उनका युद्ध हुआ, जिसमें कुमारगुप्त मारा गया; परन्तु उसके पुत्र स्कन्दगुप्त ने वीरता से लड़ कर हूण राजा को परास्त किया। फिर राजा बुद्धगुप्त के समय वि० सं० ५५६ (ई० सन् ४९९) में तुरुष्क हूण राजा तोरमाण ने गुप्त साम्राज्य का पश्चिमी भाग अर्थात् गुजरात काठियावाड़, राजपूताना मालवा आदि छीन लिए और वहाँ पर अपना राज्य

---

१ देखिए, प्रा० पु० प्रति०, अन्य १, पृ० १२६

२ देखिए, वही, पृ० १२८

स्थिर[1] किया। हूण वंश में दो ही राजा हुए—एक तो तोरमाण और दूसरा उसका पुत्र मिहिरकुल या मिहिरगुप्त। मिहिरकुल का एक शिलालेख ग्वालियर में मिला है, जिस पर एक ओर उसका नाम और दूसरी ओर 'जयतु वृषध्वज' लिखा है जिससे उसका शिव भक्त होना प्रकट होता है।"

यशोधर्म से हार जाने पर भी हूण लोग अपना अधिकार बना रखने के लिये लड़ते रहे। यह बात पिछले राजाओं के साथ हुई, उनकी लड़ाइयों से स्पष्ट है। थानेसर और कन्नौज के वैसवंशी राजा प्रभाकरवर्द्धन और राज्यवर्द्धन हूणों से लड़े थे, किन्तु उस समय हूणों का कोई राज्य नहीं था। वे मात्र लूटमार करने के लिए कभी-कभी आक्रमण कर देते थे। जिन प्रचण्ड वस्तुओं का आत्मकथा में उल्लेख है वे यही हूण हैं। ये लोग न केवल धन ही लूट कर ले जाते थे वरन् स्त्रियों को भी उड़ा ले जाते थे।

थानेसर का राजवंश

इस समय देश के अनेक टुकड़े हो रहे थे। यहाँ अनेक छोटे-छोटे राज्य और जागीरें कायम थीं जो आपस में लड़ते-झगड़ते रहते थे। इस समय सबसे बड़ा राज्य थानेसर का था जिसमें कन्नौज भी सम्मिलित था। आत्मकथा में इसको 'कान्यकुब्ज' राज्य कहा है। इसकी राजधानी थानेसर या स्थाण्वीश्वर थी। थानेसर के राजवंश का इतिहास इस प्रकार है— 'पुष्यभूति श्रीकंठ प्रदेश (थानेसर) का स्वामी था जो परम शिवभक्त था। उसके पुत्र नरवर्द्धन की रानी वज्रिणीदेवी से राज्यवर्द्धन उत्पन्न हुआ जो सूर्य का परम उपासक था। राज्यवर्द्धन की रानी अप्सरादेवी से आदित्यवर्धन का जन्म हुआ। वह भी सूर्य का भक्त था। उसकी रानी महासेना गुप्ता से प्रभाकरवर्धन ने जन्म लिया जिसको प्रतापशील भी कहते थे। आदित्यवर्धन तक के नामों के साथ केवल महाराज पद मिलता है अतएव वे स्वतंत्र राजा नहीं अपितु दूसरों के आधीन सामंत थे। प्रभाकरवर्धन की पदवियाँ 'परमभट्टारक' और 'महाराजाधिराज' मिलती हैं, जो उसका स्वतंत्र राजा होना प्रकट करती हैं। हर्ष के ताम्रपत्रों में उसको अनेक राजाओं का नचाने वाला, तथा 'हर्षचरित' में हूणों एवं गांधार, सिंधु, गुर्जर और लाट देशों को विजय करने वाला लिखा है। वह भी सूर्य का परम भक्त था और प्रतिदिन 'आदित्य-हृदय' का पाठ किया करता था।

उसकी रानी यशोमती से दो पुत्र राज्यवर्धन और हर्षवर्धन तथा एक पुत्री राज्यश्री उत्पन्न हुई, जिसका विवाह कन्नौज के मौखरीवंशी के राजा अवंतिवर्मा के पुत्र ग्रहवर्मा के साथ हुआ था। मालवा के राजा ने ग्रहवर्मा को मारकर उसकी रानी राज्यश्री के पैरों में बेड़ियाँ डालकर उसे कन्नौज के कैदखाने में रख दिया। उसी समय प्रभाकर-

---

१ देखिए, रा० पू० इति, खण्ड १, पृ० १२८-१२९

वर्धन का देहान्त हो गया और उसका बड़ा पुत्र राज्यवर्धन थानेसर के राज-सिंहासन पर बैठा।

राज्यवर्धन

राज्यवर्धन अपने पिता के देहान्त के समय उत्तर में हूणों से लड़ने को गया हुआ था। वहाँ वह घायल होकर भी विजय प्राप्त कर ले आया। उसी दशा में वह थानेसर पहुँचा किन्तु पितृस्नेह से सिंहासनारूढ़ होना पसंद न करके महन्त (बौद्ध साधु) होने के लिए कटिबद्ध हो गया और अपने छोटे भाई हर्षवर्धन को राज-सिंहासन पर बैठाना चाहा। इतने में राज्यश्री के कैद होने की खबर पाकर राज्यवर्धन ने महन्त होने के विचार को स्थगित कर दस हजार सवारों के साथ मालवा के राजा पर चढ़ाई कर दी और विजय कर धनधान्य के साथ बहुत सी सुन्दर स्त्रियाँ सामन्तों आदि को भी कैद कर लाया। लौटते समय गौड़ (बंगाल) के राजा नरेन्द्रगुप्त (शशांक) ने अपने महल में बैठाकर उसे (राज्यवर्धन को) विश्वासघात करके मार डाला। यह घटना सं० ६६३ वि० (सन् ६०६ ई०) में घटी। हर्ष के शासन में राज्यवर्धन का परम सौगत (बौद्ध) होना, देवगुप्त आदि अनेक राजाओं को जीतना तथा सत्य के अनुरोध से शत्रु के घर में प्राण देना लिखा है। उसका उत्तराधिकारी उसका छोटा भाई हर्षवर्धन हुआ।

श्रीहर्ष

हर्षवर्धन को श्रीहर्ष, हर्ष और शीलादित्य भी कहते हैं। गद्दी पर बैठते ही उसने गौड़ के राजा से बदला लेने का संकल्प कर लिया और अपने सेनापति सिंहनाद को लेकर दिग्विजय को निकल पड़ा। अनुमान से करीब ३० वर्ष तक युद्ध करके उसने कश्मीर से आसाम और नेपाल से नर्मदा तक के सब देश अपने अधीन कर एक बड़ा राज्य स्थापित कर लिया। उसने दक्षिण को भी अधीन करना चाहा किन्तु (बम्बई प्रान्त के बीजापुर जिले के) बादामी के चालुक्य (सोलंकी) राजा पुलकेशी (द्वितीय) से हार जाने पर उसका यह मनोरथ सफल न हुआ। उसकी राजधानी थानेसर और कन्नौज दोनों थीं।

हर्ष के गुण

हर्ष स्वयं विद्वान् था। कहा जाता है कि उसने रत्नावली, प्रियदर्शिका और 'नागानन्द' नाटक लिखे। रत्नावली का नाम तो 'आत्मकथा' में भी आया है। उसे धर्मगुरुओं के शास्त्रार्थ को सुनने का बड़ा शौक था। रणरसिक होने के साथ-साथ वह जीवहिंसा और मांसभक्षण का विरोधी था। प्रतिदूसाचारियों को दण्ड दिया जाता था। चित्रकला में उसकी बड़ी रुचि थी। विद्वानों का सम्मानकर्ता होने से कई बड़े-बड़े विद्वान् उसकी सभा की शोभा बढ़ाते थे जैसे बाणभट्ट, उसका पुत्र पुलिंद (पुलिन) भट्ट मयूर,

---

१ देखिये राजपूताने का इतिहास भाग १, पृ० १३६

दिवाकर (भास्कर), सुबन्धु और मानतुंग आचार्य भी उसी के समय में हुए थे ऐसा भी कुछ विद्वान् मानते हैं। हर्ष पहले शिव भक्त था, फिर बौद्ध हो गया। हर्ष वैसवंशी राजपूत था। प्रयाग में वैसवाड़े का इलाका वैसवंशी राजपूतों का मुख्य स्थान है।

देश की स्थिति

इस ऐतिहासिक विवेचन से 'बाणभट्ट की आत्मकथा' के वातावरण पर काफी प्रकाश पड़ जाता है। इससे न केवल राजनीतिक स्थिति ही सामने आ जाती है, वरन् धार्मिक स्थिति पर भी पर्याप्त आलोक पड़ जाता है। यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि देश के टुकड़े हो रहे थे। इससे भारत की शक्ति खण्डित हो रही थी जो उसके पराजय का प्रमुख कारण थी। स्त्रियाँ अपहृत होती थीं। वैधव्य उनमें से अधिकांश की समस्या थी। वे प्रायः पराजित रहती थीं। प्रजा में मृत्यु का भय छा गया था। इस तथ्य को आत्मकथा में इन शब्दों में अभिव्यक्त किया गया है—

अमृत के पुत्रो, बड़ा दुर्घटकाल उपस्थित है। राजाओं राजपुत्रों और देवपुत्रों की आशा पर निश्चेष्ट बने रहने का निश्चित परिणाम पराभव है। प्रजा में मृत्यु का भय छा गया है। यह अशुभ लक्षण है।"

विरिसंकट के उस पार अत्यन्त कुत्सित म्लेच्छ जातियाँ बसती थीं। लूटमार ही उनका व्यवसाय था देवायतनों को भ्रष्ट करना ही उनका धर्म था ब्राह्मणों और श्रमणों का वध करना ही उनका आमोद था, कुलवधुओं और बालिकाओं का धर्षण ही उनका विलास और हत्या तथा ग्राम जलाना ही उनका पावन कर्तव्य था। उन्होंने पुरुषपुर से साकेत तक के सारे जनपद को रौंद डाला था।[1] आक्रमणकारी अत्यन्त दस्यु सीमान्त पर एकत्र होने लगे थे। आर्यावर्त के देवमन्दिरों विहारों आबालवृद्धों, साधुओं स्त्रियों, ब्राह्मणों और श्रमणों पर विनाश का आतंक छा रहा था। गुप्तों का प्रताप अस्त हो गया था, दुर्मद पौण्ड्र उत्पाटितदन्त व्याघ्र की भाँति हीनदर्प हो गये थे और मौखरियों का विक्रमानल निर्वापित हो गया था। जनता केवल कान्यकुब्ज के राज्य की ओर त्रस्त होकर ताक रही थी। यह बात इतिहास सिद्ध है। यह बात भी सिद्ध है कि उस समय ब्राह्मणों और श्रमणों के राज्य थी थे किन्तु टिड्डियों से भी विपुल भेड़ियों से भी क्रूर दुष्टों से भी निष्ठुर ग्रहणों से भी हीन और छलनाओं से भी अधिक चञ्चल गुण दस्युओं से इस पवित्र भूमि को बचाने की सामर्थ्य कौन रखता था।[2] उस समय तुरुमिलिन्द बहुत पराक्रमशाली सामन्त था, यह आत्मकथाकार की कल्पना है। इतिहास इसका साक्ष्य नहीं देता। तुरुमिलिन्द की प्रशंसा में लेखक ने बाणभट्ट के मुख से

---

१ बाणभट्ट की आत्मकथा पृ० १५३

२ बाणभट्ट की आत्मकथा पृ० १६६

ये शब्द कहलाये हैं— 'देवपुत्र तुषारमिहिर × × × जिनके दोर्दण्ड के प्रताप से रोमकपत्तन के उत्तर के देश काँपते हैं, जिनकी खरतर-असिधारा-कीर्तिस्त्रिनी में शक-पार्थिव जैसे पार्थिव फेन-बुद्बुद की भाँति बह गये जिनकी प्रतापाग्नि ने उद्दण्ड वाह्लीकों को इस प्रकार तोड़ डाला जैसे क्रीड़ा-परायण शिशु शुष्क-दण्ड को तोड़ देते हैं और जिनकी स्फूर्जित दीप्त कीर्ति-वह्नि में प्रत्यन्त सामन्त स्वयं पतंगायमान हो रहे हैं।'[१] वह विषम समर-विजयी एवं प्रतिस्पर्द्धि-विकट व्यक्ति हैं।

सामन्त लोग और उनकी उच्छृंखलता

राजा और सामन्त न केवल आपस में लड़ते-झगड़ते थे अपितु उनके इस कलह व्यापार से प्रजा भी सुरक्षित नहीं थी। प्रजा के लोग शत्रु-राजा की सीमा में प्रवेश नहीं कर सकते थे। परिणाम में धन-माल की लूट ही नहीं होती थी वरन् प्राणों पर भी आ बनती थी।

वरणाद्रि दुर्ग कान्यकुब्ज राज्य की उस समय पूर्वी सीमा पर था। इसके आगे के देशों में बड़ी भारी अराजकता थी। उत्तर का काशी और दक्षिण का कल्प जनपद न तो मगध के गुप्तों के हाथ में था और न कान्यकुब्ज के राजा हर्ष के। राज्यवर्धन ने बड़ी कुशल नीति से काम किया था। उन्होंने उत्तरी तट के कुछ ब्राह्मणों को भूमि का अग्रहार देकर अपने पक्ष में कर लिया था किन्तु बाद में वे भूमि-अग्रहारभोगी ब्राह्मण समस्त जनपद में प्रधान हो उठे थे। वे ही उधर के सामन्त थे। उनमें अधिक हिंसा वृत्त होती जा रही थी और वे खुलकर बौद्ध राजा का समर्थन करने लगे थे। दक्षिण के व्याघ्र सरोवर में आभीर सामन्त ईश्वरसेन का जोर था। वह गुप्त सम्राटों का बड़ा ही विश्वासभाजन था। इधर गंगातटीय जनपद पर आभीर सामन्त दत्तसेन का अधिकार था वह भी मनमानी कर रहा था।

हर्ष की नैतिक दुर्बलता

जिस वंश में यशोवर्मा ने हूणों को बिल्कुल ठंडा कर दिया था और जिसका पराक्रम भारत भर में प्रसिद्ध हो गया था उसी मौखरि-वंश में 'छोटा महाराज' कलंक के रूप में प्रकट हुआ। वह महासम्पन्न व्यक्ति था। उसे पाँच कर हर्ष ने नीति-नैपुण्य का परिचय तो अवश्य दिया किन्तु सारे देश में मौखरियों के प्रति घृणा उत्पन्न कर दी। 'छोटे महाराज' के अन्तःपुर की कोई मर्यादा नहीं थी। वहाँ चौर्य-लब्ध धरणी वनिताएँ वास करती थीं। उनकी कोई सीमा न थी। ऐसे राजकुल को प्रश्रय देने वाले राजवंश ने अपने को पुरुष-पुरुष के अयोग्य सिद्ध कर दिया। महाराजाधिराज हर्षवर्धन राजनीति की जटिलता के कारण अपराधी को अपराध का दण्ड नहीं दे पा

---

१ बाणभट्ट की आत्मकथा पृ० ८५

गद्गद-भाव प्रकट हो रहा था। आसन के ठीक सामने एक वेदी पर कलश स्थापित था। मैंने आश्चर्य के साथ देखा कि माथ और तन्तुस से एक ऊर्ध्वमुख त्रिकोण को आड़े भाव से विद्ध करके अधोमुख त्रिकोण-चक्र ठीक उसी प्रकार अङ्कित था जिस प्रकार शाक्त तांत्रिकों का श्रीचक्र हुआ करता है। उस चक्र के मध्य में प्रफुल्ल शतदल देखकर तो और भी आश्चर्य-चकित रह गया। मैंने अब तक यही समझा था कि ऊर्ध्वमुख त्रिकोण शिव तत्त्व का प्रतीक है और अधोमुख त्रिकोण शक्ति-तत्त्व का। भागवत सम्प्रदाय से तो इसका दूर का सम्बन्ध भी नहीं है। और यह पद्म तो किसी प्रकार वहाँ नहीं चल सकता क्योंकि पद्म के साथ वज्र होना चाहिये। ऐसा होता तो इसे सौगत तंत्र ही मान लेते; परन्तु यह तो अद्भुत मिश्रण है। मगध का साधारण मनुष्य भी इस अनुष्ठान का विरोध किये बिना न रहता परन्तु कान्यकुब्ज विचित्र देश है। यहाँ बाह्याचारों में तो तिलमात्र भी परिवर्तन सहन नहीं किया जाता पर धार्मिक अनुष्ठान में प्रतिदिन नये-नये उपादान मिश्रित होते रहते हैं।[1] इससे स्पष्ट है कि धर्मों की कुछ साधनात्मक विशेषताएं थीं, जो प्रदेश-भेद से प्रतिष्ठित थीं, जैसा कि मगध और कान्यकुब्ज के उदाहरणों से प्रकट होता है। ऐसा भी प्रतीत होता है कि हर्ष के राज्य में धार्मिक स्वतन्त्रता थी और इसी कारण साधना-समन्वय भी सम्भव था। मगध में वैष्णव-धर्म किसी साधनात्मक परिवर्तन को स्वीकार नहीं कर सकता था।

उस समय धार्मिक विकास स्पर्धा के साथ होता था। उदाहरण के लिए, श्रीपर्वत उस समय वामाचारियों और कापालिकों की साधना-भूमि था वहीं वैष्णव साधना की रम्य स्थली भी था। बुद्ध और बाण का अधोलिखित प्रश्नोत्तर इसका साक्ष्य देता है—

'मैंने बीच ही में टोका— क्या कह रहे हैं, आर्य? श्रीपर्वत तो वामाचारियों और कापालिकों की साधना भूमि है। वहाँ वैष्णव तांत्रिक साधना भी है यह बात तो नई सुन रहा हूँ।" बुद्ध ने मन्द-स्मितपूर्वक उत्तर दिया— 'कान्यकुब्ज में आये हो तो बहुत सी नई बातें सुनोगे भद्र। ये वेंकटेश भट्ट पहले उड्डियान पीठ में सौगत तन्त्र की उपासना करते थे। वहाँ से न जाने क्या बात हुई ये श्रीपर्वत पर चले आये और अब तो कान्यकुब्ज को ही पवित्र कर रहे हैं।'

कान्यकुब्ज के धार्मिक वातावरण में स्त्रियों की भक्ति प्रमुख है। "कुछ-कुछ में कुछ चपलस्वभावा स्त्रियों ने ही उनसे दीक्षा भी ली। फिर तो यह हालत हो गई कि नगर का अन्तःपुर संध्या के समय निःशेष भाव से उमड़कर भक्ति-आयोजन में शामिल हो जाता था। श्रोताओं में अधिकांश स्त्रियाँ होती थीं। काँस्य और करताल के साथ संयमक वाद्य उन्माद का वातावरण पैदा करता था। इसी वातावरण में नारायण की स्तुति का गान होता था और नारायण की स्तुति सहस्रों नर-नारियों के कंठों से वर्षा

---

१ बाणभट्ट की आत्मकथा पृ० २२९–२३०

ी सरिता की भाँति उमड़ती थी। संगीत और वाद्य का मधुर मिश्रण भक्ति के वातावरण को मोहक बना देता था। गुरु की आज्ञा से सब लोग चुप हो जाते थे। फिर कीर्तन के प्रारम्भ की सूचना देने के लिए कोई स्त्री शंख बजाती थी। यह भजन-साधन अब प्रकार से विचित्र था। कीर्तन में 'भाव'—जाप प्रमुख था। संगीत की मधुर धीतल वाहिनी में समस्त जनमंडली डूब जाती थी।

भक्त लोग प्रायः तृणास्तरण पर बैठते थे। गोपाल वासुदेव की मनोहारी मूर्ति सामने होती थी और पार्श्व में धूप-बत्तिका जलती थी। वासुदेव की त्रिभंगी मूर्ति की भी उपासना की जाती थी। उसके गले में माला होती थी।

भक्त लोग शरीर को बेकार मानते थे क्योंकि 'इसी को आश्रय करके नारायण अपनी आनन्द-लीला प्रकट कर रहे हैं। आनन्द से ही यह भुवन-मंडल उद्भासित है। आनन्द से ही विधाता ने सृष्टि उत्पन्न की है। आनन्द ही उसका उद्गम है, आनन्द ही उसका लक्ष्य है। आनन्द-लीला ही इस सृष्टि का प्रयोजन है।'[1] 'नारायण मनुष्य के बाहर नहीं हैं। तुम प्रसन्न हो तो निश्चय ही नारायण प्रसन्न हैं। तुम नारायण के हो तो रूप हो।[2]

सूर्य और शिव की उपासना भी होती थी, किन्तु वैष्णव भक्ति का वातावरण ही आत्मकथा में प्रमुखता से आया है। वासुदेव के साथ वराह का भी बहुत अधिक महत्त्व था। धर्म के इतिहास में भी वराह की भक्ति को हर्षकाल में प्रमुख बतलाया गया है। सम्भवतः हर्षकालीन जनता पर गुप्तकालीन संस्कार चले आ रहे थे।

ब्राह्मण जाति के प्रति इतर धर्म वालों की सद्भावनाएँ नहीं थीं। उनके प्रति बौद्धों की प्रबल घृणा थी। वे लोग ब्राह्मण जाति को डरपोक झूठी और पाखंडी कहते थे। वे उसे टेढ़ी जाति बतलाते थे। फिर भी ब्राह्मण का समाज में ऊँचा स्थान था। ब्राह्मण को भू-देव समझा जाता था। उसका आशीर्वाद कल्याणमय समझा जाता था। उसके बताये हुए अनुष्ठान मांगल्यप्रद या जप-होम में बड़ी शक्ति मानी जाती थी।[3] हर्षकाल में कान्यकुब्ज ब्राह्मण पंडितों की गद्दी था। सामनेर के शब्दों में 'ऐसे तर्क-कुशलों को समझा कर ही वहाँ का राजा मौगल बना रह सकता था।[3] बौद्धों को भय था कि 'इस नीति का फल विपरीत न हो। यदि किसी दिन अशुभ को नीचा देखना पड़ा, तो कान्यकुब्ज से ही उस अशुभ दिन का प्रारम्भ होगा।[4]

---

१ बाणभट्ट की आत्मकथा पृ० २४०
२ वही, पृ० २४१
३ वही, पृ० ८९
४ वही पृ० ७३

षड्गव-भाव प्रकट हो रहा था। आसन के ठीक सामने एक वेदी पर कलश स्थापित था। मैंने आश्चर्य के साथ देखा कि माथ और सम्मुख से एक ऊर्ध्वमुख त्रिकोण को आड़े भाव से विद्ध करके अधोमुख त्रिकोण-चक्र ठीक उसी प्रकार अङ्कित था जिस प्रकार शाक्त तांत्रिकों का श्रीचक्र हुआ करता है। उस चक्र के मध्य में प्रफुल्ल शतदल देखकर तो और भी आश्चर्य-चकित रह गया। मैंने अब तक यही समझा था कि ऊर्ध्वमुख त्रिकोण शिव तत्त्व का प्रतीक है और अधोमुख त्रिकोण शक्ति-तत्त्व का। भागवत सम्प्रदाय से तो इनका दूर का सम्बन्ध भी नहीं है। और यह पद्म तो किसी प्रकार वहाँ नहीं चल सकता क्योंकि पद्म के साथ वधू होना चाहिये। ऐसा होता तो इसे सौमत तंत्र ही मान लेते परन्तु यह तो अद्भुत मिश्रण है। मगध का साधारण मनुष्य भी इस अनुष्ठान का विरोध किये बिना न रहता; परन्तु कान्यकुब्ज विचित्र देश है। यहाँ बाह्याचारों में तो तिलमात्र भी परिवर्तन सहन नहीं किया जाता पर धार्मिक अनुष्ठान में प्रतिदिन नये-नये उपादान मिश्रित होते रहते हैं। ? इससे स्पष्ट है कि धर्मों की कुछ साधनात्मक विशेषताएँ थीं, जो प्रवेश-भेद से प्रतिष्ठित थी, जैसा कि मगध और कान्यकुब्ज के उदाहरणों से प्रकट होता है। ऐसा भी प्रतीत होता है कि हर्ष के राज्य में धार्मिक स्वतन्त्रता थी और इसी कारण साधना-समन्वय भी सम्भव था। मगध में वैष्णव-धर्म किसी साधनात्मक परिवर्तन को स्वीकार नहीं कर सकता था।

उस समय धार्मिक विकास स्पर्धा के साथ होता था; उदाहरण के लिए, जो श्रीपर्वत उस समय कामाचारियों और कापालिकों की साधना-भूमि था वही वैष्णव साधना की रम्य स्थली भी था। बुद्ध और बाण का अधोलिखित प्रश्नोत्तर इसका साक्ष्य देता है—

'मैंने बीच ही में टोका— क्या कह रहे हैं, आर्य ? श्रीपर्वत तो कामाचारियों और कापालिकों की साधना-भूमि है। वहाँ वैष्णव तांत्रिक साधना भी है, यह बात तो मैं सुन रहा हूँ।" बुद्ध ने मन्द-स्मितपूर्वक उत्तर दिया— कान्यकुब्ज में आये हो तो कुछ सी नई बातें सुनोगे भद्र ! वे वेंकटेश भट्ट पहले उड्डियान पीठ में सौमत तंत्र की उपासना करते थे। वहाँ से न जाने क्या बात हुई वे श्रीपर्वत पर चले आये और अब तो कान्यकुब्ज को ही पवित्र कर रहे हैं।'

कान्यकुब्ज के धार्मिक वातावरण में स्त्रियों की भक्ति प्रमुख है। "कुछ-कुछ में कुछ चपलस्वभावा स्त्रियों ने ही उनसे दीक्षा भी ली। फिर तो यह हालत हो गई कि नगर का अन्तःपुर संध्या के समय निर्लोप भाव से उचटकर भक्ति-आयोजन में शामिल हो जाता था। श्रोताओं में अधिकांश स्त्रियाँ होती थीं। कांस्य और करताल के साथ विवक्ष वाद्य उन्माद का वातावरण पैदा करता था। इसी वातावरण में नारायण की स्तुति का गान होता था और नारायण की स्तुति सहस्रों नर-नारियों के कंठों से बजी

बाणभट्ट की आत्मकथा पृ २२९–२३०

की सरिता की भाँति उमड़ती थी। संगीत और नाद का मधुर मिश्रण भक्ति के वातावरण को मोहक बना देता था। गुरु की आज्ञा से सब लोग चुप हो जाते थे। फिर कीर्तन के प्रारम्भ की सूचना देने के लिए कोई स्त्री शंख बजाती थी। यह भजन-साधन सब प्रकार से विचित्र था। कीर्तन में 'नाम'—जाप प्रमुख था। संगीत की मधुर शीतल मन्दाकिनी में समस्त जनमंडली डूब जाती थी।

भक्त लोग प्रायः तृणास्तरण पर बैठते थे। गोपाल वासुदेव की मनोहारी मूर्ति सने होती थी और पार्श्व में धूप-वर्तिका जलती थी। वासुदेव की चिमनी मूर्ति की भी नासना की जाती थी। उसके गले में माला होती थी।

भक्त लोग शरीर को वैकुंठ मानते थे क्योंकि 'इसी को आश्रय करके नारायण पनी आनन्द-लीला प्रकट कर रहे हैं। आनन्द से ही यह भुवन-मंडल उद्भासित है। ानन्द से ही विधाता ने सृष्टि उत्पन्न की है। आनन्द ही उसका उद्गम है, आनन्द ही उसका लक्ष्य है। आनन्द-लीला ही इस सृष्टि का प्रयोजन है।१ 'नारायण मनुष्य के ाहर नहीं हैं। तुम प्रसन्न हो तो निश्चय ही नारायण प्रसन्न हैं। तुम नारायण के ही ो रूप हो।२

सूर्य और शिव की उपासना भी होती थी, किन्तु वैष्णव भक्ति का वातावरण ही आत्मकथा में प्रमुखता से आया है। वासुदेव के साथ वराह का भी बहुत अधिक महत्त्व था। धर्म के इतिहास में भी वराह की भक्ति को हर्षकाल में प्रमुख बतलाया गया है। सम्भवतः हर्षकालीन जनता पर गुप्तकालीन संस्कार चले आ रहे थे।

ब्राह्मण जाति के प्रति इतर धर्म वालों की सद्भावनाएँ नहीं थीं। उनके प्रति बौद्धों की प्रबल घृणा थी। वे लोग ब्राह्मण जाति को डरपोक, झूठी और पाखंडी कहते थे। वे उसे टेढ़ी जाति बतलाते थे। फिर भी ब्राह्मण का समाज में ऊँचा स्थान था। ब्राह्मण को सू-देव समझा जाता था। उसका आशीर्वाद कल्याणमय समझा जाता था। उसके बताये हुए अनुष्ठान मांगल्यप्रद या जप-होम में बड़ी शक्ति मानी जाती थी।३ हर्षकाल में कान्यकुब्ज ब्राह्मण पंडितों की गद्दी था। सामन्तों के शब्दों में 'ऐसे तर्क-कुशलों को संसकार कर ही वहाँ का राजा नीमत बना रह सकता था।३ बौद्धों को भय था कि 'इस नीति का फल विपरीत न हो। यदि किसी दिन सद्धर्म को नीचा देखना पड़ा तो कान्यकुब्ज से ही उस अशुभ दिन का प्रारम्भ होगा।'४

---

१ बाणभट्ट की आत्मकथा पृ० २४०
२. वही, पृ० २४१
३ वही पृ० ८६
४ वही पृ० ७३

काव्यकुब्ज में बाहरी आचार को बहुत महत्त्व दिया जाता था और भीतरके महत्त्व को समझने का प्रयत्न नहीं किया जाता था। क्या ब्राह्मण और क्या श्रमण सभी बाह्याचारों को ही महत्त्व देते थे। स्वयं महाराज हर्ष भी इस बात से असंपृक्त नहीं कहे जा सकते थे। उनका सबसे अधिक सम्मान सौगत तार्किक वसुभूति के प्रति था पर आचार्य सुगतमित्र की तुलना में यह कितना छिछला था इसे केवल बुद्धिमान् समझ सकते थे।

बौद्ध-विहारों की निर्माण-शैली बड़ी रहस्यमय होती जा रही थी। वे लोग सभी बातों को रहस्यमय बनाते जा रहे थे। विहारों में अब सीधे दुतल्ले पर जाने के लिए सीढ़ी होती थी और इकतल्ले पर जाने का रास्ता भीतर की ओर होता था। बिना दुतल्ले पर गये कोई नीचे के तल्ले में नहीं जा सकता था। भिक्षुक लोग भिक्षाहार करते थे।

उस समय ज्योतिषियों का भी काफी सम्मान होता था। बौद्ध और ब्राह्मण, दोनों ही ज्योतिषी हो सकते थे। उनकी बात पर काफी विश्वास किया जाता था।

सामाजिक वातावरण

उस समय नारियों की स्थिति बहुत अच्छी नहीं थी। शक्ति के नाम पर वे विकृत बौद्धों की काम-तृषा का शमन-साधन बनी हुई थीं। छोटे धन के लोभ स्त्रियों को भी लूट ले जाते थे। राजान्तःपुरों में उनको बन्दी बना कर रखा जाता था और वहाँ उन्हें अपनी पवित्रता की बलि देनी पड़ती थी। जीविकोपार्जन के लिये पानादि का व्यवसाय करने वाली स्त्रियों के चरित्र को अच्छा नहीं समझा जाता था। उस समय स्त्रियाँ पान बेचती थीं या नहीं यह कहना तो ऐतिहासिक प्रमाण के बिना कठिन है; किन्तु लेखक पर वर्तमान समाज की भावना का संस्कार स्पष्ट है। अपने पौरुष-दर्प में पुरुष नारी का अपमान करता चला आ रहा था। उस समय स्त्रियों के क्रय-विक्रय का भी व्यवसाय होता था।

भारतवर्ष के सामाजिक वातावरण में स्त्रियों के अनेक स्तर थे। एक तो उच्च-स्तरीय नारियाँ थीं जैसे राजश्री। वे पढ़ी-लिखी होती थीं और सार्वजनिक कार्यों में भी भाग लेती थीं। दूसरी कोटि की स्त्रियाँ कुल-वधुएं होती थीं जो घरों की चहारदीवारी में रहती थीं। तीसरी कोटि की स्त्रियाँ साधिकाएं होती थीं जैसे महामाया। चौथी कोटि की स्त्रियों में निपुणिका-जैसी स्त्रियाँ सम्मिलित थीं। पाँचवीं कोटि की स्त्रियों में गणिका वेश्या आदि होती थीं। इनके अतिरिक्त राजान्तःपुरों में अवलाएं भी होती थीं जैसे भट्टिनी। गणिकाओं का गृह बहुत सजा हुआ होता था किन्तु वह बन्धुओं विटों लम्पटों और लंपटों की रंगभूमि होता था।

जिस प्रकार स्त्रियों के अनेक स्तर होते थे उसी प्रकार पूर्ण मानव समाज में मानव के अनेक स्तर होते थे। धनी-निर्धनी ब्राह्मण-अब्राह्मण बौद्ध-अबौद्ध विद्वान्-अविद्वान् शिष्ट-अशिष्ट आदि भेदों से समाज-सागर में अनेक लहरें दिखलायी पड़ती थीं।

नम से कितने ही भेद कृत्रिम और भेदक थे जो समाज को निर्बल बना रहे थे। वे आज भी चले आ रहे हैं, यद्यपि इस वैज्ञानिक युग में इनको मिटाने के अनेक प्रयत्न किये जा रहे हैं। वरन् आज तो एक रंग-भेद और बढ़ गया है।

समाज के उच्छेदन एवं उद्भेदन में धर्म के अनेक भेदों और विकृतियों को नहीं भुलाया जा सकता। वर्ण और वर्ण के भेद में धर्म प्रमुख कारण था। एक धर्म का सदाचरण दूसरे का दुराचरण था। कौलाचार और वाममार्ग में मद्य-पान धर्म था और वैष्णव-धर्म में वह दुराचरण होने के नाते वर्जित था। बौद्धों और वैष्णवों में बड़ी भारी प्रतिस्पर्धा चल रही थी। एक की पीठ पर राज्यशक्ति थी और दूसरे की हथेली में प्रजा का विद्रोह। विरक्तिवन् का बौद्ध से वैष्णव होना ही मानों संसार की सबसे बड़ी घटना थी। धर्म-मत का डिंडिम पीटना ही मानों उस समय के धार्मिकों का कर्तव्य था। मनुष्य चाहे चूल्हे भाड़ में जाये जय-पराजय की प्रतिद्वन्द्विता में मनुष्य का चाहे सत्यानाश ही क्यों न हो जाये परन्तु धर्म प्रतिद्वन्द्वी स्वार्थों के संघात की भूमिका से टलने वाला नहीं था।

समाज के भेदीकरण का दूसरा कारण राजनीति थी। उस समय कोई ऐसा शक्तिशाली राज्य नहीं था जो समस्त देश को एक सूत्र में रखकर समाज के फूलने-फलने के लिए प्रयत्न करता। कान्यकुब्ज का राजा ही उस समय सबसे बड़ा राजा था किन्तु उसके चारों ओर अनेक छोटे-छोटे राजा और सामंत लोग या तो स्वतन्त्र थे या स्वतन्त्र होने की चेष्टा कर रहे थे। अतएव समाज की समग्रता राजनीति की संकीर्ण सीमाओं में जकड़ गयी थी। राजनीतिक दाव-पेचों के कारण समाज भय और आतंक से दब रहा था। समाज का आवागमन और शादी-सम्बन्ध तक सीमित एवं नियंत्रित हो रहे थे।

निरीह बहू-बेटियों के अपहरण होते थे और उनके विक्रय का व्यवसाय चलता था। इस घृणित व्यवसाय के प्रधान आश्रय सामन्तों और राजाओं के अन्तःपुर थे। और तो और, महाराजाधिराज की चामरधारिणियाँ और करंकवाहिनियाँ तक खरीदी हुई और बनायी हुई कन्याएँ होती थीं।[१] प्रजा में इनके कारण भारी क्षोभ था। महामाया के व्याख्यान का अपीलिखित अंश इसको प्रकट कर सकता है— "धिक्कार है, आर्य सभासदो! जो उत्तरापथ के विद्वान् और शीलवान् नागरिक इन राजाओं का मुँह जोह रहे हैं। मैं पूछती हूँ, यदि महाराजाधिराज ने आपकी प्रार्थना का प्रत्याख्यान कर दिया तो आप क्या करेंगे?"[२] इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि राजा, महाराजा और सामन्त स्वार्थ के गुलाम बनते जा रहे थे। प्रजा भीरु और कायर होती जा रही थी। विद्वान् और शीलवान् नागरिकों की बुद्धि उन परिस्थितियों में कुंठित होती जा रही थी। धर्माचरण

---

१ बाणभट्ट की आत्मकथा पृ० २३३

२ वही पृ० २३७

व्याहत हो रहा था, इसलिए कि राजा को स्वार्थ ने प्रजा को भय ने और विद्वानों को राजप्रिय बनने की लिप्सा ने अन्धा कर दिया था। यह एक बहुत बड़ा असुभ लक्षण था।१

राजा लोग प्रजापालन और प्रजानुरंजन छोड़कर राजनीति के दलदल और विलास में फंसे जा रहे थे और यह स्पष्ट था कि भारतीय गौरव पतन का मुँह देख रहा था। आचार कर्तव्य और शील को छोड़कर, दंभ और पाखण्ड में और बस तर्कविडम्बना में प्रविष्ट हो गया था। बाह्याचार समाज का धार्मिक परिचय बन गया था और मनुष्यता ब्राह्मण और श्रमण दोनों से विरल हो गयी थी।२

कुछ उत्सव बड़ी धूमधाम से मनाये जाते थे। त्योहारों के सिवा वसन्तोत्सव को बड़ी धूमधाम से मनाया जाता था। राजपुत्र-जन्मोत्सव पर एक राजकीय सवारी निकलती थी जिसमें छोटे-बड़े सब लोग भाग लेते थे। उत्सवों के अवसर पर शासन और धर्म के विभागों की छुट्टी रहती थी।

सांस्कृतिक वातावरण

इस वातावरण के निर्माण में कला, शिक्षा शिष्टाचार, उत्सव मनाने की विधि आदि का प्रमुख हाथ था। कला सौन्दर्य की अभिव्यंजना मात्र नहीं थी अपितु मनोविनोद का साधन और हृदय के अमूर्त भावों का अवलम्बन भी थी। नाट्य काव्य संगीत चित्र नृत्य और मूर्ति आदि सभी कलाओं की प्रतिष्ठा थी। अच्छे-अच्छे नाटक लिखे जाते थे और उनका अभिनय भी किया जाता था। अभिनय के लिए नाट्यशालाएं होती थीं और नाट्य-मण्डलियों द्वारा अभिनय की व्यवस्था की जाती थी। अनेक खम्भों पर टिके हुए विराट् पटवास से प्रेक्षागृह बनती थी। उसका धरातल कमल-मनोहर होता था। सभापति का आसन प्रफुल्ल कदलियों से सजाया जाता था। सभापति की दाहिनी ओर संस्कृत के तथा बाईं ओर प्राकृत और अपभ्रंश के कवियों के लिए आसन निर्दिष्ट होते थे। सभापति के पीछे करणाधिपों (अफसरों) के लिए स्थान होता था। दाहिनी ओर के एक पार्श्व में पर्दे के पीछे सम्भ्रान्त महिलाओं के लिए स्थान होता था। सभापति के सामने और बाम ओर के पार्श्व में समस्त नागरिकों के लिए स्थान होता था। रंग-भूमि ठीक बीच में होती थी। महाराजा हर्ष कला-प्रेमी ही नहीं वरन् स्वयं कलाकार भी थे। उनकी 'रत्नावली' ने काफी ख्याति प्राप्त कर ली थी। उस समय काव्य-भाषा प्रायः संस्कृत और प्राकृत ही थी किन्तु अपभ्रंश का भी प्रचलन था। राज-दरबार में संगीत नृत्य और काव्य कला का बहुत सम्मान था। चाटुकार-दरबारी राजा के स्नेह-भाजन बनने के लिए राजा के विविध चित्र बनाते थे। जनता के लोग भी इन कलाओं का समादर करते थे। चित्रांकन प्रायः भित्ति-पटों या काष्ठ-पटों पर किया जाता था। भित्ति-पटों को या तो

१ बाणभट्ट की आत्मकथा पृ २५८
२ वही पृ० ८३

चूल से पाटकर और महिषचर्म को चोट कर उससे उसे सीपन की प्रथा थी या मधु-लेप से यह तैयार किया जाता था क्योंकि यह हवा में बन्दी सूख जाता था। तूली-कूर्चक बछड़ों के कानों के रोमों से बनते थे और रंग, मोम तथा मात में काजल रगड़कर बनाया जाता था। काम्यकुब्ज के लोग बड़े कलिप्रिय और चित्र-प्रवीण थे। वे मयूर और पद्म नृत्यों जैसी कला को अब भी जिलाये हुए थे। मगध में मयूर-नृत्य देखने के लिए जनता में इतनी आतुरता नहीं होती थी जितनी काम्यकुब्ज में। काम्यकुब्ज के लोग शास्त्र की अपेक्षा लाहब में अधिक रुचि रखते थे और मनोभावों की अपेक्षा उसके करण-कौशल को अधिक महत्त्व देते थे।

मूर्तियाँ प्रायः संगमर्मर या चमड़ा की बनायी जाती थीं। उस समय बौद्ध मूर्तियों में शिल्प के प्रमुखतः दो भेद होते थे—एक तो शक-शिल्प और दूसरा कुषाण शिल्प। एक तीसरा भारतीय शिल्प भी था। शक-शिल्प में भारतीय और यावनी शिल्प का मिलन था, जिससे सुन्दर मूर्तियाँ तैयार होती थीं। वे न तो मूर्ति के अर्ध-मुख की गहराई में जाती थीं न प्रलेप-पाटन में। उनमें एक तरफ यावनी प्रतिमाओं की भाँति अंग प्रमाण की ओर बेतरह ध्यान दिया जाता था और दूसरी तरफ हाथ और पैर की मुद्राओं में वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ को प्रधानता दे दी जाती थी।

कुषाण-शिल्प में भारतीय शिल्प का अनुकरण होता था। उसके अनुसार बुद्ध के चरणतल उसी प्रकार बनते थे जैसे वे वास्तव में होते हैं। भारतीय शिल्पियों के अनुकरण पर कुषाण-शिल्पियों ने ऊर्ध्वमुख चरणतल वाले पद्मासन ही बनाये थे। प्रमाण-पाटन वाली यावनी मूर्तियों में ऐसा पद्मासन ऊर्णातन्तु से सिले हुए चीनांशुक के समान दिखाई पड़ता था।[1]

कुषाण-शिल्प में बुद्ध का मस्तक कुंचित बनाया गया था जब कि शक-शिल्प में सिर पर दक्षिणावर्त कुंचित केश कुछ जंचते नहीं दीख पड़ते थे। कुषाण-शिल्प की मूर्ति बैठे हुए बुद्ध भगवान् की प्रतिमा होती थी। उनके अर्द्ध-निमीलित नयन के ऊपर भ्रूलताएँ भाल-पन्थ की ऊर्ध्व-विक्षिप्त पयोरेखाओं की भंगिमा लिए हुए नहीं होती थीं, बल्कि इस प्रकार छाई हुई होती थीं कि वे भासावत्त के सूत्र का भ्रम देती थीं। हाथ की अँगुलियाँ स्वाभाविक होती थीं।

गुप्तों की मूर्ति-कला के साथ उनका कोई सम्बन्ध नहीं था। समाधि और निद्रा में एक भेद होता है। अधिकांश कुषाण-मूर्तियाँ उस भेद को स्मरण भी नहीं होने देती थीं। फिर भी कुछ मूर्तियों में भावकता प्रकट होती थी। वराह वासुदेव एवं शिवादि की मूर्तियों का भी बहुत प्रचलन था।

चयीत और मृत्य कला में सामान्य जनता दक्ष होती थी। उत्सवों त्योहारों

१ बाणभट्ट की आत्मकथा पृ० १३०

आदि के अवसर पर इसका प्रदर्शन किया जाता था। नाट्यशालाओं में इसका प्रदर्शन किसी भी समय किया जा सकता था। नृत्य और संगीत में प्रमुख भाग स्त्रियों का होता था। स्त्रियाँ तो नाटकों में भी अभिनय करती थीं किन्तु अभिनेत्रियों का विशेष सम्मान नहीं होता था।

उस समय काव्य-कला का भी एक प्रमुख स्थान था। उसमें 'कला कला के लिए' का स्वर प्रखर नहीं था। वह जीवन के लिए मानी जाती थी। 'नरलोक से लेकर किन्नर-लोक तक व्याप्त एक ही रसात्मक हृदय की अनुभूति कराने का सहज किन्तु अमोघ साधन कविता ही समझी जाती थी। मनुष्य की दुर्मद वासनाओं अनियन्त्रित कामनाओं और अविचारित धारणाओं की भीषणता कम करने के लिए भी कविता सत्य-प्रचार का प्रबल साधन मानी जाती थी। [१] सामाजिकों की धारणा थी कि काव्य से मनुष्य की दयाहीन, विवेकहीन और धर्महीन वृत्तियाँ उच्चतर कार्य में नियोजित हो सकती थीं।

बाणभट्ट की आत्मकथा के वातावरण में शिक्षा का भी एक प्रमुख स्थान है। तत्कालीन राजदरबारों में ही नहीं, समाज में भी विद्वानों का आदर होता था। धर्म गुरुओं के सामने राजा भी विनयपूर्वक उपस्थित होता था। बनने के लिए तृणास्तरण होते थे। आचार्यों की अध्यापन-शैली प्रेमपूर्ण एवं स्पष्टतामयी होती थी। प्रश्नोत्तर की शैली में अध्यापन होता था जिससे शंका-समाधान सरलता से हो जाता था। आश्रमों और विहारों में विनय और संयम की शिक्षा दी जाती थी। कुतर्क, को सद्धर्म और सद्विचारों की दावाग्नि समझा जाता था किन्तु शिक्षाश्रमों के सिवा अन्यत्र कुतर्कों का बोलबाला था।

शिष्टाचार शिक्षा का एक प्रमुख अङ्ग समझा जाता था किन्तु राजदरबारों और धर्म-सभाओं में भी शिष्टाचार को प्राधान्य दिया जाता था। जिस प्रकार शिष्य लोग अहङ्कार-विनत होते थे वैसे ही धर्म-सभाओं में श्रोता लोग शिष्टता एवं मर्यादाओं का पूर्ण पालन करते थे। राजदरबार में भी शिष्ट मर्यादाओं का अनुपालन होता था। इस प्रकार शिष्ट व्यवहार नीति का एक अङ्ग बन गया था। विद्वान् लोग, राजसभा में आने पर, राजा की ओर से आसन दिया जाता था और ताम्बूलादि से उनका सत्कार किया जाता था। अमात्यादि जब आश्रमों या विहारों में जाते थे तो वहाँ उनको तृणास्तरण देकर सत्कार किया जाता था और वे लोग आचार्य का यथोचित सम्मान करते थे।

आत्मकथा के वातावरण में युवकों की उच्छृंखलता भी दिखलाई गई है। सुचरिता को खोजते हुए बाणभट्ट के शब्दों में इस वातावरण का संकेत मिल जाता है—"सुचरिता के पास जाने में बाधा क्या है? किसी के अपहृत होने की चिन्ता नहीं है परन्तु सुचरिता कहाँ रहती है? उसे यहाँ कोई पहिचानता है? किसी से उसके बारे में

---

१ बाणभट्ट की आत्मकथा पृ० १४२

पूछना क्या उचित है ? इतना तो निश्चित है कि वह यहीं कहीं रहती है। किसी वृद्ध अग्र पुरुष से पूछना ही उचित है। कान्यकुब्ज के युवकों को मैं जानता हूँ। वे वृद्ध को उपहास का पात्र समझते हैं, पूछने वाले को मूर्ख बनाने में रस पाते हैं।

इस वातावरण के एक कोने में भक्ति का रंग भी जमा हुआ दीख पड़ता है। यह तीन मास की धार्मिक क्रान्ति का परिणाम है। बाण को उत्तर देते हुए वृद्ध के शब्दों में इस के चित्र की एक झाँकी इस प्रकार पा सकते हैं— 'तीन महीनों में स्थाण्वीश्वर में बहुत परिवर्तन हुआ है। सामने जो विशाल आयोजन देख रहे हो तीन महीने के भीतर ही यह इतना व्यापक हो गया है। आज नगर में ऐसी स्त्री नहीं है, जो इस विचित्र धर्माचार की भक्ति-धारा में न बह गई हो। पुरुषों का एक दल भी इस आयोजन में शामिल है। कान्यकुब्ज विचित्र देश है, आयुष्मन्, काशी में लोग धर्म के नाम पर इस तरह उतरा कर नहीं बहते।"[२] इन शब्दों से कान्यकुब्ज के लोगों के 'अन्तर' का भी कुछ पता चल जाता है, जिससे उनकी प्रकृति हमारे सामने अपना सामान्य रूप लेकर खड़ी हो जाती है।

आत्मकथा के वातावरण में प्रकृति का भी अपना योग है। कथाप्रवाह में आत्म कथा के प्राकृतिक वातावरण ने भले ही अल्पयोग दिखलाया हो किन्तु परिस्थितियों के चित्रण में उसने बड़ा सहयोग दिया है। इसमें विशेषता यही है कि संस्कृत का अनुकरण है।

आत्मकथा की कुछ समस्याएँ—

इस रचना में लेखक ने कुछ समस्याओं को प्रस्तुत करके प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से उनके हल की ओर भी संकेत किया है। ये समस्याएँ लेखक के अपने युग की समस्याएँ हैं। इनका सम्बन्ध समाज के किसी एक पहलू से नहीं है वरन ये अनेक पक्षों का स्पर्श करती हैं। इनमें से प्रमुख समस्या नारी-समस्या है। आज नारी के माता पिता ही नहीं, वह स्वयं भी अपने को एक अभिशाप मानती है : "क्या स्त्री होना ही मेरे सारे अनर्थों की जड़ नहीं है ?"[३] "निपुणिका सामान्य अपमानित नारी है।"[४] 'नारी का जन्म पाकर केवल लाञ्छना पाना ही सार नहीं है।"[५] 'नारी का जन्म विघ्न के लिए ही हुआ है।"[६] 'नारी आनन्द-मोद के लिए है। वह पुरुष की वासना की तृप्ति है।" इन अनेक वाक्यों में नारी की अनेक समस्याएँ उलझी हुई हैं।

---

१ बाणभट्ट की आत्मकथा, पृ० २२७
२ वही पृ० २२७-२८
३ वही, पृ० ३०९
४ वही, पृ० ३०९
५ बाणभट्ट की आत्मकथा पृ० ३०९
६ वही पृ० ११२

आत्मकथा का लेखक अपने कौशल से इन समस्याओं के हल को सामने लाने का प्रयत्न करता है। उसकी प्रथम मान्यता यह है कि नारी को अबला मानना ही भूल है। वह शक्ति की प्रतिमा और प्रेरणा का स्रोत है। पुरुष की शृंखलाहीन महत्त्वाकांक्षा के अनेक परिणाम हैं यथा, राज्य-गठन सैन्य-संचालन, मठ-स्थापन और निर्जनवास। इनको नियंत्रित करने की एकमात्र शक्ति नारी है। इतिहास इस बात का प्रमाण है कि इस शक्ति की उपेक्षा से साम्राज्य ध्वस्त हो गये मठ पतित हो गये और ज्ञान-वैराग्य विलुप्त हो गये।[1] केवल पौरुष-दर्प की प्रचुरता ने संसार की सबसे महत्त्व वस्तु की अपमानित कर रखा है। पुरुष द्वारा नारी के अपमान का क्या यह घिनौना दृश्य बढ़ता ही चला जायेगा।

नारी को जिस रूप में विघ्नरूपा समझा जाता है वह उस रूप में विघ्नरूपा नहीं है। हाँ दूसरे रूप में वह विघ्नरूपा अवश्य है। 'इतिहास कहता है कि पुरुषों के समस्त वैराग्यों के आयोजन तपस्या के विशाल मठ, मुक्ति-साधना के अनुकरणीय आश्रम नारी की एक वंकिम दृष्टि में ही तो ढह चुके हैं। क्या यह दृष्टि सत्यानाशिनी नहीं है। नारी विहीन होकर पुरुष तपस्या करता है, किन्तु यह उसकी भूल है। सच तो यह है कि धर्म, शासन सामाजिक कार्य—सभी में नारी का सहयोग आवश्यक है। अब तक यह समझा जाता था कि इन कार्यों में नारी की कोई आवश्यकता नहीं है किन्तु लेखक प्राचीन को सामने लाकर वर्तमान को सत्य कर रहा है। उसका मत है कि नारी का सहयोग न पाकर यह सारा ठाट-बाट संसार में केवल अशान्ति पैदा करेगा।"

नारी-तत्त्व उत्सर्ग में निहित है। जहाँ कहीं अपने आपको उत्सर्ग करने की अपने आप को खपा देने की भावना प्रधान है वहीं नारी है। जहाँ कहीं दुःख-सुख की आकांक्षा धाराओं में अपने को बलित शाखा के समान निचोड़ कर दूसरे को तृप्त करने की भावना प्रबल है, वहीं 'नारी-तत्त्व' है। नारी निषेधरूपा है। वह आनन्द-भोग के लिए नहीं आती, आनन्द लुटाने के लिए आती है।

आज के अनेक आयोजनों में दूसरों के लिए अपने आप को गला देने की भावना दृष्टिगोचर नहीं होती, इसीलिए वे कटाक्ष पर बह जाते हैं, एकस्थित पर टिक जाते हैं। वे सब अनित्य हैं। जब तक उनमें अपने आपको दूसरों के लिए मिटा देने की भावना नहीं आती तब तक वे ऐसे ही रहेंगे। उन्हें जब तक पूजाहीन दिवस और सेवाहीन रात्रियाँ अनुतप्त नहीं करतीं और जब तक निष्फल अर्थवान उन्हें कुरेद नहीं देता तब तक उनमें निषेधरूपा नारी-तत्त्व का अभाव रहेगा और तब तक वे केवल दूसरों को दुःख दे सकते हैं।

नारी के प्रति सबसे अधिक अत्याचार हुआ है। यदि समाज में कोई सबसे अधिक अपमानित रहा है तो वह नारी है। उसने समाज की कुत्सित रुचि पर तिल-तिल करके

---

१ वही पृ० १४६

अपने को होमा है। नारी के विराट् दैन्य के अन्त-स्पन्दनहीन हृदय पर यह साम्राज्य की नयनहारी रंगशाला चली जा रही है, किन्तु यह न भुला देना चाहिये कि वह इस हृदय की नगण्य पत्रिका मात्र होकर भी चमक कर किसी भी समय इस समूचे जगत को भस्म कर सकती है। पुरुष स्त्री को शक्ति समझ कर ही पूर्ण हो सकता है यद्यपि स्त्री अपने को शक्ति समझकर अधूरी रह जाती है। स्त्री को ठीक समझ कर उसका उचित सहयोग पाकर ही पुरुष मुक्त हो सकता है।

स्त्री में आसक्ति रखना भी अनुचित है और उससे घृणा करना भी अनुचित है। न तो वेश्याओं की घृणा ही पुरुष को मुक्ति दे सकती है और न नारी के पिंड-रूप में वासना रखने वाले ही कृतकार्य होते हैं। उसके शरीर को देव-मन्दिर समझकर साधारणतः पुरुष को उसमें प्रेम के देवता की भावना करनी चाहिये। पुरुष अपने दर्प-मद में शक्ति-रूपा नारी को भूल जाता है उसके समुचित सम्मान की अवहेलना करके अपने को संकट में डाल लेता है।

इस प्रकार लेखक ने संकेत रूप में यह हल प्रस्तुत किया है—

(१) नारी का सम्मान करना चाहिये।

(२) उसकी शक्ति का समुचित उपयोग करना चाहिये।

(३) उसका सौन्दर्य आदर की वस्तु है और उसका हृदय पूज्य है।

एक दूसरी समस्या है, क्या प्रेम अपने शुद्धतम रूप में व्यवहार्य है। मनोवैज्ञानिकों ने प्रेम के मूल में यौन-संबंध की कल्पना की है, किन्तु आत्मकथाकार की प्रस्थापना दूसरी है। वह नर-नारी के प्रेम में यौन-संबंध को सर्वथा अनिवार्य नहीं मानता। वह तो उनके बीच में एक विशुद्ध प्रेम की कल्पना भी करता है जिसमें किसी प्रकार का स्वार्थ या कलुष नहीं है। बाणभट्ट और भट्टिनी के मध्य इसी प्रकार का प्रेम है। इसमें वासना का कहीं नाम तक नहीं है। इसमें न तो वासना की दुरभ्य है और न रूप का सम्मोहन है। बाणभट्ट भट्टिनी के रूप का प्रशंसक है, किन्तु आदर के लिए, यौन भावना से प्रेरित होकर नहीं।

आत्मकथा के इस प्रेम में आज के प्रेम-साहित्य को एक बहुत बड़ी चुनौती दी है। आज का साहित्यिक वातावरण सामाजिक कुंठाओं का अजायबघर बनता जा रहा है जिससे समाज की रुचि उठने के स्थान पर गिरती चली जा रही है। आत्मकथा के लेखक ने इस भयंकर परंपरा को रोकने का अपूर्व एवं ऐतिहासिक प्रयत्न किया है। बहुतसे आलोचक आत्मकथा के प्रेम को अव्यवहार्य एवं अमनोवैज्ञानिक कह सकते हैं, किन्तु उनका यह निष्कर्ष लोक की वर्तमान रुचि के ऊपर ही आधारित होगा। आदर्श प्रेम का यह रूप अनश्वर एवं अव्यवहार्य नहीं है। इस प्रेम की पीठिका में 'नर-लोक से किन्नर-लोक तक एक ही रसात्मक हृदय का प्रसार है। कहने की आवश्यकता नहीं कि आदर्श प्रेम के प्रश्न का यह कृति एक सफल उत्तर है।

आत्मकथा का लेखक अपने कौशल से इन समस्याओं के हल को सामने लाने का प्रयत्न करता है। उसकी प्रथम मान्यता यह है कि नारी को अबला मानना ही भूल है। वह शक्ति की प्रतिमा और प्रेरणा का स्रोत है। पुरुष की अनाहीन महत्त्वाकांक्षा के अनेक परिणाम हैं यथा राज्य-गठन सैन्य-संचालन मठ-स्थापन और निर्जनवास। इनको नियंत्रित करने की एकमात्र शक्ति नारी है। इतिहास इस बात का प्रमाण है कि इस शक्ति की उपेक्षा से साम्राज्य ध्वस्त हो गये, मठ पतित हो गये और ज्ञान-वैराग्य विलुप्त हो गये।[१] केवल पौरुष-दर्प की प्रचुरता ने संसार की सबसे बहुमूल्य वस्तु को अपमानित कर रखा है। पुरुष द्वारा नारी के अपमान का क्या यह घिनौना दृश्य बढ़ता ही चला जायेगा।

नारी को जिस रूप में विघ्नरूपा समझा जाता है वह उस रूप में विघ्नरूपा नहीं है। हाँ दूसरे रूप में वह विघ्नरूपा अवश्य है। 'इतिहास कहता है कि पुरुषों के समस्त वैराग्यों के आयोजन, तपस्या के विशाल मठ, मुक्ति-साधना के अनुसंधान आश्रय नारी की एक वंकिम दृष्टि में ही तो बह चुके हैं। क्या यह दृष्टि सत्यानाशिनी नहीं है। नारी विहीन होकर पुरुष तपस्या करता है किन्तु यह उसकी भारी भूल है। सच तो यह है कि धर्म, शासन, सामाजिक कार्य—सभी में नारी का सहयोग आवश्यक है। अब तक यह समझा जाता था कि इन कार्यों में नारी की कोई आवश्यकता नहीं है किन्तु लेखक प्राचीन को खंडन कर वर्तमान को सबल कर रहा है। उसका मत है कि नारी का सहयोग न पाकर यह सारा ठाट-बाट संसार में केवल अशान्ति पैदा करेगा।'

नारी-तत्त्व उत्सर्ग में निहित है। जहाँ कहीं अपने आपको उत्सर्ग करने की अपने आप को खपा देने की भावना प्रधान है वहीं नारी है। जहाँ कहीं दुःख-सुख की लाख-लाख धाराओं में अपने को बलित द्राक्षा के समान निचोड़ कर दूसरे को तृप्त करने की भावना प्रबल है, वहीं 'नारी-तत्त्व' है। नारी निषेधरूपा है। वह आवरण-भोग के लिए नहीं आती, आवरण हटाने के लिए आती है।

आज के अनेक आयोजनों में दूसरों के लिए अपने आप को गला देने की भावना दृष्टिगोचर नहीं होती इसीलिए वे कटाक्ष पर रह जाते हैं एकस्मित पर टिक जाते हैं। वे सब अनित्य हैं। जब तक उनमें अपने आपको दूसरों के लिए मिटा देने की भावना नहीं आती तब तक वे ऐसे ही रहेंगे। उन्हें जब तक पूजाहीन दिवस और सेवाहीन रजनियाँ अनुतप्त नहीं करतीं और जब तक निष्फल अर्घ्यदान उन्हें कुरेद नहीं देता तब तक उनमें निषेधरूपा नारी-तत्त्व का अभाव रहेगा, और तब तक वे केवल दूसरों को दुःख दे सकते हैं।

नारी के प्रति सबसे अधिक अत्याचार हुआ है। यदि समाज में कोई सबसे अधिक अपमानित रहा है तो वह नारी है। उसने समाज की कुत्सित वेदि पर तिल-तिल करके

---

१ वही, पृ० १४८

अपने को होगा है। नारी के विराट् देन्य के अन्तःस्पन्दनहीन हृदय पर यह साम्राज्य की नयनहारी रथयात्रा चली जा रही है, किन्तु यह न भुला देना चाहिये कि वह इस हृदय को नगण्य गणिका मात्र होकर भी चमक कर किसी भी समय इस समूचे जंगल को भस्म कर सकती है। पुरुष स्त्री को शक्ति समझ कर ही पूर्ण हो सकता है यद्यपि स्त्री अपने को शक्ति समझकर अधूरी रह जाती है। स्त्री को ठीक समझ कर उसका उचित सहयोग पाकर ही पुरुष मुक्त हो सकता है।

स्त्री में आसक्ति रखना भी अनुचित है और उससे घृणा करना भी अनुचित है। न तो बैरागिया जी-सी घृणा ही पुरुष को मुक्ति दे सकती है और न नारी के पिंड-रूप में वासना रखने वाले ही कृतकार्य होते हैं। उसके शरीर को देव-मन्दिर समझकर साधारणतः पुरुष को उसमें प्रेम के देवता की भावना करनी चाहिये। पुरुष अपने दर्प-मद में शक्ति-रूपा नारी को भूल जाता है उसके समुचित सम्मान की अवहेलना करके अपने को संकट में डाल लेता है।

इस प्रकार लेखक ने संकेत रूप में यह हल प्रस्तुत किया है—

(१) नारी का सम्मान करना चाहिये।

(२) उसकी शक्ति का समुचित उपयोग करना चाहिये।

(३) उसका सौन्दर्य आदर की वस्तु है और उसका हृदय पूज्य है।

एक दूसरी समस्या है, क्या प्रेम अपने पुरुतम रूप में व्यवहार्य है? [illegible] निकोले ने प्रेम के मूल में यौन-सर्वस्व की कल्पना की है, किन्तु आरमकथाकार की [illegible] दूसरी है। वह नर-नारी के प्रेम में यौन-संबंध को सर्वस्व [illegible] उनके बीच में एक विशुद्ध प्रेम की कल्पना भी करता है जिसमें किसी [illegible] का अनुभव नहीं है। बाणभट्ट और भट्टिनी के प्रेम इसी प्रकार का प्रेम है। [illegible] का कहीं नाम तक नहीं है। इसमें न तो वासना की [illegible] है। बाणभट्ट भट्टिनी के रूप का प्रशंसक है किन्तु [illegible] होकर नहीं।

आरमकथा के इस प्रेम में आज के प्रेम-[illegible] है। आज का साहित्यिक वातावरण [illegible] है जिससे समाज की रुचि उठने के स्थान पर [illegible] है। आरमकथा के लेखक ने इस भयंकर परंपरा को रोकने का [illegible] है। [illegible] आलोचक आरमकथा के प्रेम को व्यवहार्य [illegible] यह निष्कर्ष लोक की वर्तमान रुचि [illegible] रूप असंभव एवं अव्यवहार्य नहीं है। [illegible] तक एक ही रागात्मक हृदय का [illegible] के प्रश्न का यह इति एक [illegible]।

कुछ दिन पहले तक भारतीय समाज कुछ रूढ़ियों को पोषित कर रहा था किन्तु आधुनिक परिस्थितियों में उन को केवल बंधन समझा गया उन की आवश्यकता नहीं समझी गयी। प्रेम के संबंध में वर्ण और धर्म का संबंध भी बिल्कुल बेतुकी बात है जिसमें मानवीय मौलिक गुणों की नितान्त उपेक्षा की गयी है। प्रेम किसी परिमिति को स्वीकार नहीं करता और परिमित प्रेम निष्कलुष एवं विशुद्ध नहीं हो सकता। सारा विश्व प्रेम की रंगस्थली है। इसी रंगस्थली का दूसरा भारतीय नाम 'वसुधैव कुटुम्बकम्' है। बाणभट्ट और भट्टिनी या निपुणिका के प्रेम में यही आदर्श है। यह प्रेम किसी स्वार्थ की टेक पर टिका हुआ नहीं है। इसका आधार सहानुभूति, करुणा एवं कृतज्ञता है। अतएव आत्मकथा ने साहित्यिक मार्ग से लोकमंगल की भावना को एक अनुपम गति प्रदान करने की चेष्टा की है। मैं समझता हूँ कि तुलसी के 'सियाराममय सब जग जानी' में भी प्रेम का आदर्श तो यही है किन्तु मानस में वर्तमान परिस्थितियों के अनुरूप प्रेम की व्यवस्था नहीं हुई है। मानस का समाज जिन परिस्थितियों में पला हुआ है, मानसके रचयिता ने उस प्रेम की कभी कल्पना भी नहीं की होगी। इसके अतिरिक्त मानस की प्रेम-व्यवस्था भक्ति के वातावरण में हुई है, जबकि आत्मकथा की प्रेम-व्यवस्था सहानुभूति, करुणा एवं कृतज्ञता लौकिक एवं व्यावहारिक वातावरण में हुई है। मानस का प्रेम भक्तिमूलक अलौकिकता के पुट से किसी निर्वर्ग वधि का संग्रह न कर सके यह सम्भव है, किन्तु आत्मकथा के प्रेम में किसी वर्ग की अवधि के लिए शायद ही कोई अवकाश रहा हो।

मनुष्य और उसका आराध्य भी समाज की एक समस्या है। क्या वह प्रतिमा में सीमित है? नहीं वह सीमित नहीं है वह किसी एक पिंड या प्रतिमा की परिधि में निहित नहीं है। कोई देश या कोई समाज विशेष भी उसकी सीमा नहीं है। सच तो यह है कि प्रेम ही आराध्य और आराध्य ही प्रेम होता है। दोनों में अभेद है। इस उक्ति की पुष्टि रहीम के दोहे से भी होती है—

प्रेम हरी को रूप है त्यों हरि प्रेम स्वरूप।
एकहि हूँ द्वै भै खसे ज्यों सूरज अरु धूप॥

प्रेम दंभ और पाखंड में निवास नहीं करता। करुणा सहानुभूति और स्वस्थ प्रेम की पावन भूमि है, ईर्ष्या नहीं है। प्रेम एक ओर अविभाज्य है। उसे केवल असूया और ईर्ष्या ही विभाजित करके छोटा कर देते हैं।

धर्म और मानव का संबंध भी आज एक समस्या बना हुआ है। आत्मकथा के माध्यम से लेखक धर्म की एक विशेष व्याख्या करता है जिसमें धर्मों का पार्थक्य मिट जाता है। बँधे-बँधाये नियम और आचार धर्म को बाँध नहीं सकते। वह उनसे बड़ा है। जिनको मनुष्य धर्म समझता है वे सब समय और सभी अवस्था में धर्म कहलाने के अधिकारी नहीं हैं।

धर्म का समन्वय मानव की समस्या रहा है। बाणभट्ट के इन शब्दों में लेखक समन्वय की ओर ही संकेत करता है— 'मुझे भैरवी चक्र के चिन्हों की पृष्ठभूमि में महाराज की वेदी ऐसी अद्भुत दिखायी पड़ी कि एक क्षण के लिए मैं उसे भविष्य का निमित्त निर्देशक समझे बिना न रह सका। यह एक दिन के लिए जो परस्पर विरोधी प्रतीकों का समन्वय हुआ है वह आकस्मिक हो सकता है, पर अकारण निश्चय ही नहीं है इसमें किसी भावी विरोधाभास की सूचना है।'

सत्य को धर्म कहा जाता है अथवा वह धर्म का आधार है किन्तु सत्य स्वयं समाज की समस्या है। क्या झूठ के बिना भी समाज का काम चल सकता है? नहीं जो समाज व्यवस्था झूठ को प्रश्रय देने के लिए ही तैयार की गयी है, उसे मान कर अगर कोई कल्याण कार्य करना चाहते हैं, तो आपको झूठ का ही आश्रय लेना पड़ेगा। इस समाज-व्यवस्था में सत्य प्रच्छन्न होकर वास कर रहा है। देखी-सुनी बात को ज्यों का त्यों कह देना या मान लेना सत्य नहीं है। सत्य वह है, जिससे लोक का आत्यन्तिक कल्याण होता है, भले ही ऊपर से वह झूठ जैसा ही दिखायी देता हो।

कुछ लोगों की कल्पना में निःशस्त्रीकरण और राज्यहीन समाज ही नहीं है, वरन् असैन्य-समाज भी है। वर्तमान परिस्थितियों में यह कल्पना एक समस्या बन बैठी है। यों तो महापुरुषों ने करुणा और मैत्री के अनेक उपदेश दिये हैं भ्रातृ-भाव और जीव-दया के बहुत शब्द लिखे हैं पर उन्हें सफलता नहीं मिली है। कभी-कभी मनुष्य निराशा से कातर हो उठता है। वह सोचता है कि जब तक सैन्य संगठन रहेंगे पौरुष दर्प का प्राबल्य रहेगा, तब तक ये अमानवीय कार्य होते ही रहेंगे किन्तु यह एक प्रश्न है कि क्या मनुष्य सम्पत्ति के मोह को त्याग सकेगा क्या सैन्य-संगठन न हों यह संभव होगा? शायद दर्पहीन मनुष्य ही राज्यहीन समाज का निर्माण कर सकेगा।

अन्याय को रोकने के लिए क्या समाज राजाओं का मुंह ताकता रहे अथवा मृत्यु के भय से मानव को गतिहीन एवं अकर्मण्य बन जाना चाहिये। नहीं, इससे अन्याय नहीं रुकता, मृत्यु नहीं टलती। न्याय स्वयं बहुत कम आता है। वह जहाँ भी मिले उसे खींच ले आना चाहिये। न्याय पाना मनुष्य का धर्म सिद्ध अधिकार है और उसे न पाना अधर्म है। धर्म के लिए प्राण देना किसी जाति का पेशा नहीं है वह मनुष्य मात्र का उत्तम लक्ष्य है।

क्या राजनीति न्याय की उपेक्षा कर सकती है? क्या राजनीतिक जटिलता दल से अपराधियों की रक्षा कर सकती है? यह आज की समस्या है। आत्महत्या में इसके हल का संकेत है। अन्याय की उपेक्षा से उसकी वृद्धि होती है न्याय का हनन होता है समाज पतित होता चला जाता है और दुष्कर्म बढ़ते चले जाते हैं। इसलिए राजनीति के न्याय को सुरक्षित एवं अक्षुण्ण रखना चाहिये। न्याय पक्ष-विपक्ष या किसी

स्तर-भेद को स्वीकार नहीं कर सकता। न्याय की दृष्टि में सब समान हैं, किन्तु क्या स्तर भेद मिट सकता है।

यह अवश्य मिट सकता है। यह केवल वर्णों और धर्म में ही नहीं सेना में भी है। यह स्वतन्त्रता प्राप्ति के पहले भी था और अब भी है। मोटी जातियाँ काला के प्रति, बड़ा छोटे के प्रति भेद-भाव रखता है। यह अनुचित लक्षण है। इससे एकता खंडित होती है, आत्मरक्षा की शक्ति क्षीण होती है। इसीलिए आत्मरक्षा में ब्राह्मण से लेकर चांडाल तक की एकता की पुकार है।

यह अभेद-भाव ही किसी जाति की शक्ति है। भारत की अनेक वाहिनियाँ शत्रुओं के सामने जो घुटने टेक गयी उसका कारण स्तर-भेद था। उसके विपरीत बाहर से आक्रमण करने वाली सेनाओं में यह स्तर-भेद कभी नहीं रहा। उन्होंने मिथ्या को कभी प्रश्रय नहीं दिया। प्रबल प्रतापी गुप्त राजाओं ने इस मिथ्या समाज-भेद के साथ उदात्त भावनाओं का समन्वय करना चाहा था। यह असती थी। गोविन्दगुप्त ने इस रहस्य को समझा था पर गुप्त सम्राट इसे नहीं समझ सके। इसलिए वे उच्छिन्न हो गये।

स्तर भेद ने भारत ने अपने को अनेक बार संकट में डाला। बाहर के लोग यहाँ राज करते रहे। क्यों? इसीलिए कि यहाँ स्तर भेद ने समाज की दृढ़ता को आहत कर दिया। यहाँ किसी यवन-कन्या से विवाह करना एक सामाजिक विद्रोह माना जाता है। क्या यवन-कन्या मनुष्य नहीं है अथवा ब्राह्मण युवा मानवीय ऊँचाई की कौनसी सीढ़ी पर आसीन है? भारत में यह ऊँच-नीच का भाव बहुत भयंकर है। यहाँ जो ऊँचे हैं वे बहुत ऊँचे हैं जो नीचे हैं उनकी निचाई का अनुमान सामाजिक सत्ता का कारण है। यहाँ की स्त्रियों में भी रानी से लेकर परिचारिका तक और गणिका से लेकर वार विलासिनी तक सैकड़ों भेद हैं। जब तक निकृष्ट सामाजिक जटिलता यहाँ से हटायी नहीं जाती तब तक वास्तविक शान्ति असम्भव है। जहाँ एक जाति दूसरी को म्लेच्छ समझती हो एक मनुष्य दूसरे को नीच समझता हो वहाँ इससे बढ़ कर अशान्ति का और क्या कारण हो सकता है? जिस समाज में इतने स्तर-भेद नहीं हैं, वहीं स्वर्ग की झलक मिल सकती है। यह दुःख-ताप *निर्यातन वर्षण पददाराधिमर्ष आदि विकृत समाज-व्यवस्था* के विकृत परिणाम हैं।

वेतन-भोगी सेना या किसी एक जाति द्वारा देश की रक्षा का प्रयत्न भी बड़ा विचित्र है। यहाँ के लोग राजाओं या राजपूतों की सेना का मुँह ताका करते थे। उन्होंने आत्मरक्षा का भार उन्हीं पर छोड़ रखा था। अब भी कुछ लोगों ने यह काम सेना का ही मान रखा है। यह बड़ी मूर्खता है। वस्तुतः यह काम देश के सभी युवकों का है। उस देश के युवक ही इस भार को अच्छी तरह सँभाल सकते हैं जहाँ एक समाज और एक धर्म है और जहाँ देश रक्षा को सबका समान धर्म समझा जाता है।

भारत में विधवा भी समाज की एक समस्या है। विवाह के बाद ही पति की मृत्यु एक नवयुवती पर भयंकर वज्रपात नहीं तो क्या है? भारत देश में यह समस्या अभी तक सुलझ नहीं पायी है। विधवा को यहाँ किन-किन भीतरी-बाहरी संकटों का सामना करना पड़ता है यह देखकर किसी भी विचारक का मन तिलमिला उठता है। अनेक पारिवारिक और सामाजिक अत्याचार उसे अनेक बार न चाहते पर छोड़ भागने के लिए ही विवश कर देते हैं अपितु आत्म-हत्या तक के लिए मजबूर कर देते हैं। आर्थिक दृष्टि से परतन्त्र स्त्रियों की कितनी दुर्दशा होती है, यह समाज के लिए बड़ी लज्जा की बात है। इसलिए लेखक ने विधवा-विवाह की ओर भी एक सूक्ष्म संकेत किया है।

आज भारत में जिस असंयम की शिकायत की जाती है उसके मूल में यहाँ के युवक-समाज का कर्तव्य के प्रति प्रमाद है। जब तक युवक-समाज सचेत नहीं होता अपने कर्तव्य के प्रति जागरूक नहीं होता यह शिकायत दूर नहीं हो सकती। युवक-समाज किसी भी देश की 'रीढ़' होता है। उसके संभलने पर देश का उद्धार हो जाता है उसके गिरने पर देश गिर जाता है। इसीलिए लेखक ने महामाया के मुख से इस 'उद्बोधन मंत्र' का उच्चारण करवाया है— आर्यावर्त के तरुणो जीना सीखो मरना सीखो इतिहास से सीखना सीखो।" 'जिस आधार पर खड़े होने जा रहे हो वह दुर्बल है। "सम्हल जाओ जवानों ' "आंधी की भाँति बहो' 'शत्रुओं को तिनके की भाँति उड़ा ले जाओ।' संकट के भय से कातर होना तरुणाई का अपमान है। १

देश को बनाने का काम कौन करे? यह एक प्रश्न है। अब तक कविता का प्रयोजन एक समस्या रहा है। 'कला कला के लिए' का नारा कलावादियों की ओर से बड़ी प्रखरता से आता रहा है। पश्चिम में इस नारे की बड़ी धूम रही है, किन्तु कला जीवन के लिए है' की धारणा भी एक प्रौढ़ पक्ष धारण करती रही है। इसलिए लेखक ने आरमकथा के कुछ पात्रों को कविता का क्षेत्र और प्रयोजन अभिव्यक्त करने के लिए प्रयुक्त किया है। मट्टिनी का कहना है— 'श्लोक बनाना ही तो कविता नहीं है। "छंद और अलंकार तो कविता के प्राण नहीं हैं। प्राण है रस विशुद्ध सात्विक रस। जो कविता के द्वारा रस दान सकता है वही सच्चा कवि है सच्ची कविता की स्रोतस्विनी विगतकल्मष चित्त में उदित होती है। चारित्र्यपूत हृदय ही में सरस्वती का निवास होता है। पवित्रवासिनी वाक-स्रोतस्विनी ही जड़ता का कल्मष धो सकती है उसी से शान्ति का आविर्भाव हो सकता है। २ स्तोत्र-वाक्यों में कविता जीवित नहीं रह सकती। ऐसे वातावरण में कविता स्वतः क्लान्त हो जाती है। कविता का निवास विटों और विदूषकों की फीकी रसिकता में भी नहीं होता। कविता बन्धन विलासिनी या सकोचशीला नहीं होती। वह मुक्त हृदय के सहज स्पन्दन में निहित होती है। वही एक ही रसात्मक हृदय

१ बाणभट्ट की आत्मकथा पृ० ३३७-३३८
२ वही पृ १४३

स्तर-भेद को स्वीकार नहीं कर सकता। न्याय की दृष्टि में सब समान हैं, किन्तु क्या स्तर भेद मिट सकता है।

यह अवश्य मिट सकता है। यह केवल वर्ण और धर्म में ही नहीं, सेना में भी है। यह स्वतन्त्रता प्राप्ति के पहले भी था और अब भी है। गोरी जातियाँ काली के प्रति, बड़ा छोटे के प्रति भेद भाव रखता है। यह अशुभ लक्षण है। इससे एकता खंडित होती है आत्मरक्षा की शक्ति क्षीण होती है। इसीलिए आत्मरक्षा में ब्राह्मण से लेकर चांडाल तक की एकता की पुकार है।

यह अभेद भाव ही किसी जाति की शक्ति है। भारत की अनेक वाहिनियाँ शत्रुओं के सामने जो घुटने टेक गयी उसका कारण स्तर भेद था। उसके विपरीत बाहर से आक्रमण करने वाली सेनाओं में यह स्तर-भेद कभी नहीं रहा। उन्होंने मिथ्या को कभी प्रश्रय नहीं दिया। प्रबल प्रतापी गुप्त राजाओं ने इस मिथ्या समाज-भेद के साथ उदात्त भावनाओं का समन्वय करना चाहा था। यह असती थी। चीनी यात्री ने इस रहस्य को समझा था पर गुप्त सम्राट् इसे नहीं समझ सके। इसलिए वे उच्छिन्न हो गये।

स्तर भेद से भारत ने अपने को अनेक बार संकट में डाला। बाहर के लोग यहाँ राज करते रहे। क्यों? इसीलिए कि यहाँ स्तर भेद ने समाज की दृढ़ता को खोखला कर दिया। यहाँ किसी यवन-कन्या से विवाह करना एक सामाजिक विद्रोह माना जाता है। क्या यवन-कन्या मनुष्य नहीं है अथवा ब्राह्मण युवा मानवीय ऊँचाई की कौनसी सीढ़ी पर आसीन है? भारत में यह ऊँच-नीच का भाव बहुत भयंकर है। यहाँ जो ऊँचे हैं वे बहुत ऊँचे हैं जो नीचे हैं उनकी निचाई का अनुमान सामाजिक सभ्यता का कारण है। यहाँ की स्त्रियों में भी रानी से लेकर परिचारिका तक और गणिका से लेकर वार विलासिनी तक सैकड़ों भेद हैं। जब तक निकृष्ट सामाजिक अस्पृश्यता यहाँ से हटायी नहीं जाती तब तक वास्तविक शान्ति असम्भव है। जहाँ एक जाति दूसरी को म्लेच्छ समझती हो, एक मनुष्य दूसरे को नीच समझता हो वहाँ इससे बढ़ कर अशान्ति का और क्या कारण हो सकता है? जिस समाज में इतने स्तर-भेद नहीं हैं, वहाँ स्वर्ग की झलक मिल सकती है। यह दुःख-ताप निर्यातन वर्षण पक्षपाताभिमर्ष आदि विकृत समाज-व्यवस्था के विकृत परिणाम हैं।

वेतन-भोगी सेना या किसी एक जाति द्वारा देश की रक्षा का प्रश्न भी बड़ा विचित्र है। यहाँ के लोग राजाओं या राजपूतों की सेना का मुँह ताका करते थे। उन्होंने आत्मरक्षा का भार उन्हीं पर छोड़ रखा था। अब भी कुछ लोगों ने यह काम सेना का ही मान रखा है। यह बड़ी भूलता है। वस्तुतः यह काम देश के सभी युवकों का है। उस देश के युवक ही इस भार को अच्छी तरह सँभाल सकते हैं जहाँ एक समाज और एक धर्म है और जहाँ देश रक्षा को सबका समान धर्म समझा जाता है।

भारत में विधवा भी समाज की एक समस्या है। विवाह के बाद ही पति की मृत्यु एक नवयुवती पर भयंकर वज्रपात नहीं तो क्या है? भारत देश में यह समस्या अभी तक सुलझ नहीं पायी है। विधवा को यहाँ किन-किन भीतरी-बाहरी संकटों का सामना करना पड़ता है यह देखकर किसी भी विचारक का मन तिलमिला उठता है। अनेक पारिवारिक और सामाजिक अत्याचार उसे अनेक बार न केवल घर छोड़ जाने के लिए ही विवश कर देते हैं अपितु आत्म-हत्या तक के लिए मजबूर कर देते हैं। आर्थिक दृष्टि से परावलम्बी स्त्रियों की कितनी दुर्दशा होती है यह समाज के लिए बड़ी लज्जा की बात है। इसलिए लेखक ने विधवा-विवाह की ओर भी एक मूक संकेत किया है।

आज भारत में जिस असंयम की शिकायत की जाती है उसके मूल में यहाँ के युवक-समाज का कर्तव्य के प्रति प्रमाद है। जब तक युवक-समाज सचेत नहीं होता, अपने कर्तव्य के प्रति जागरूक नहीं होता यह शिकायत दूर नहीं हो सकती। युवक-समाज किसी भी देश की 'रीढ़' होता है। उसके सँभलने पर देश का उद्धार हो जाता है उसके गिरने पर देश गिर जाता है। इसीलिए लेखक ने महाभारत के मुख से इस 'जड़ीपन मंत्र' का उच्चारण करवाया है— 'पार्थिवों के तरुणो जीना सीखो, मरना सीखो इतिहास से सीखना सीखो।' 'जिस आधार पर खड़े होने जा रहे हो वह दुर्बल है।' "सन्हस जयो जयानों" "आँधी की भाँति बढ़ो' 'शत्रुओं को तिनके की भाँति उड़ा ले जाओ।" संकट के भय से कातर होना तरुणाई का अपमान है।'[1]

देश को जगाने का काम कौन करे? यह एक प्रश्न है। अब तक कविता का प्रयोजन एक समस्या रहा है। 'कला कला के लिए' का नारा कलावादियों की ओर से बड़ी प्रखरता से आता रहा है। पश्चिम में इस नारे की बड़ी धूम रही है किन्तु 'कला जीवन के लिए है' की धारणा भी एक प्रौढ़ पक्ष धारण करती रही है। इसलिए लेखक ने आत्मकथा के कुछ पात्रों को कविता का लेख और प्रयोजन अभिव्यक्त करने के लिए प्रयुक्त किया है। मल्लिनी का कहना है—'श्लोक बनाना ही तो कविता नहीं है। "छंद और अलंकार तो कविता के प्राण नहीं हैं। प्राण है रस विशुद्ध आत्मिक रस। जो कविता के द्वारा रस दान सकता है, वही सच्चा कवि है सच्ची कविता की स्रोतस्विनी विमलकम्पन चित्त में उदित होती है। आत्मिपूत हृदय ही में सरस्वती का निवास होता है। शक्तिशालिनी वाक-स्रोतस्विनी ही जड़ता का कम्पन दो सकती है उसी से शान्ति का आविर्भाव हो सकता है।"[2] स्वीय-भावों में कविता जीवित नहीं रह सकती। ऐसे वातावरण में कविता स्वतः समाप्त हो जाती है। कविता का निवास विटों और विदूषकों की भौंडी रसिकता में भी नहीं होता। कविता बन्धन-विलासिनी या सम्भोगशीला नहीं होती। वह मुक्त हृदय के सहज स्पन्दन में निहित होती है। वही एक ही रसात्मक हृदय

१ अश्वत्थ की आत्मकथा, पृ० ३१७-३१८
२ वही, पृ० १४३

और एक ही करुणावृत्ति को हृदयंगम करा सकती है। लोभ मोह और द्वेष से विकृत पाशविक मानव मन को संवेदनशील और कोमल कविता ही बना सकती है। संसार के इस सुष्क कांतार में अन्तःस्रोता सरिता भी बह रही है, इस भोग-पूजा के बाजार के नीचे निर्मोह वैराग्य का देवता स्तब्ध है यह संवाद कवि के सिवा और कौन दे सकता है? कविता सत्य का रसात्मक प्रचार है जिससे मनुष्य की दुर्मद वासनाएँ अनियंत्रित कामनाएँ और अविचारित धारणाएं कुछ कम पीड़ित हो सकती हैं। काव्य से मनुष्य की दयाहीन-विवेकहीन-धर्महीन वृत्तियाँ उच्चतर कार्य में नियोजित हो सकती हैं।१

इन समस्याओं के अतिरिक्त आत्मकथाकार ने कुछ अन्य प्रश्नों को सामने लाकर उनका उत्तर देने का प्रयत्न किया है जिनमें प्रमुख यह है—"क्या उन्मत्त उत्सव रास रंग नाच भू पक सीत्कार अबीर-गुलाल, चर्चरी और पटह मनुष्य के स्वस्थ चित्त के अभिव्यंजक हैं? इसका उत्तर लेखक ने निषेधात्मक वाक्य में दिया है। ये मनुष्य की किसी मानसिक दुर्बलता को छिपाने के लिए हैं, ये कुछ भुलाने वाली अविद्या हैं ये हमारी मानसिक दुर्बलता के पर्दे हैं। इनका अस्तित्व यही सिद्ध करता है कि मनुष्य का मन रोगी है, उसकी चिन्ता भारा आविल है, उसका पारस्परिक संबंध दुःखपूर्ण है।२

इस प्रकार लेखक ने इन समस्याओं के पीछे आधुनिक मानव के मन की वृत्तियों को प्रस्तुत करके उसकी सुलझन की ओर भी संकेत किया है।

---

१ बाणभट्ट की आत्मकथा, पृ० १४४

२ वही पृ० १२२ १३

६. जीवन—दर्शन

जीवन-दर्शन

आत्मकथा का लक्ष्य भारतीय संस्कृति में विश्वास पैदा करना है। आज एक विचित्र हवा चल रही है जिसके प्रबल झोंके साहित्य में होकर आ रहे हैं—प्रमुखतः कथा साहित्य में होकर। आज के बहुत-से कहानीकार और उपन्यासकार अपनी इच्छा से जिधर चाहे चले जा रहे हैं। उनको किसी अनुशासन की प्रतीति नहीं हो रही है। समाज में भी ऐसा तत्त्व उपस्थित है जो उनकी गति और कृति को टोकने के स्थान पर प्रोत्साहित करता है। दूसरे प्रकार का समाज ऐसे उपन्यासों से जो भारतीयता को ध्वस्त कर रहे हैं, दूर रहा है क्षोभ व्यक्त कर रहा है; फिर भी इनकी संख्या कम नहीं हो रही है। आत्मकथाकार ने बड़े संयम और कौशल से भारतीय संस्कृति को उद्बुद्ध करने का प्रयत्न किया है। छठी-सातवीं शताब्दी के सामाजिक, धार्मिक और नैतिक तत्त्वों को ही नहीं वरन् उसने राजनीतिक परिस्थितियों को भी सामने ला रखा है। इन सब परिस्थितियों में सांस्कृतिक गौरव की रक्षा का प्रयास है। समाज का विपक्षित पक्ष भी उपेक्षित नहीं रहा है किन्तु कलाकार की प्रशस्ति का बल स्वस्थ पक्ष की ओर ही रहा है। भारतीय संस्कृति के स्वस्थ पक्ष को प्रस्तुत करने के लिए लेखक को आनुशासनिक प्रतिभा सदैव सतर्क रही है। बाणभट्ट के मुख से आर्यों की यज्ञ-संस्कृति के प्रति उत्साह व्यक्त करते हुए लेखक ने इसी प्रतिभा का परिचय दिया है—

"फिर मेरा गृह यज्ञभूमि की कालिमा से दिशाओं को धवल बना देगा। फिर मेरे द्वार पर वेद-मंत्रों का उच्चारण करती हुई युवक सारिकाएँ जनों को पग-पग पर टोका करेंगी।[1]"

लेखक ने भाग्य को बड़े ध्यान से देखा है। उसने देखा है कि मनुष्य चाहे लाख प्रयत्न करे वह भाग्य का विपर्यय नहीं कर सकता। भट्ट के कपट में उलझ कर उसके कष्टों से बचना मनुष्य के वश की बात नहीं है। जो होना होता है वह होकर रहता है और जो होना चाहिये उसके सम्बन्ध में निश्चय रूप से कुछ कहना असम्भव है। इसीलिए बाणभट्ट को कहना पड़ा है—

"भाग्य को कौन बदल सकता है? विधि की प्रबल लेखनी से जो कुछ लिख दिया गया है, उसे कौन मिटा सकता है? भट्ट के पारावार को उलीचने में अब तक कौन समर्थ हुआ है?"[2]

मनुष्य अपने कर्त्तव्य पर गर्व करने लगता है। वह अपने को किसी का आश्रय

---

१ बा० भा० क० प्रथम संस्करण पृ० १५

२. बा० भा० क० प्रथम संस्करण, पृ० १५

ता समझने की भूल कर सकता है। महावराह की उपासना करती हुई मधु-सिक्त निपुणिका ने बाणभट्ट की आँखें खोल दीं। वह उद्बुद्ध होकर कहने लगा—

"किसे आश्रय देने की बात मैं कह रहा था ? निपुणिका को जो आश्रय मिला उसकी तुलना में मेरा आश्रय कितना तुच्छ, कितना नगण्य और कितना अकिंचन है ? रे पुरुषत्व का गर्व कौलीन्य का गर्व और पांडित्य का गर्व क्षण भर में भरभरा के गिर गये।'१

आरमकथा का लेखक संस्कृति का पक्षपाती है किन्तु उसकी विकृतियों का समर्थक नहीं है। निपुणिका को दिये हुए बाणभट्ट के उत्तर से यह बात स्पष्ट हो जाती है—

'साधारणतः लोग जिस उचित-अनुचित के बँधे रास्ते से सोचते हैं, उससे मैं नहीं सोचता। मैं अपनी बुद्धि से अनुचित-उचित की विवेचना करता हूँ। मैं मोह और लोभ से किये गये समस्त कार्यों को अनुचित मानता हूँ।'२

इससे स्पष्ट हो जाता है कि लेखक को गतानुगतिकता अभिप्रेत नहीं है। वह बुद्धि को बाँध कर नहीं सोचता वह उसको खोलकर सोचने के पक्ष में है। इस विचार में एक नवीनता है, रूढ़ विचारों को तोड़ने का संकल्प है। सद्बुद्धि की प्रेरणा से उचित मार्ग पकड़ना मनुष्य का पावन कर्तव्य है। इस दिशा में आने वाले अन्तरायों या संकटों की चिन्ता नहीं करनी चाहिये। बाण की उक्ति में इसी तथ्य की अभिव्यक्ति है।

"मैं अपने को इन दो रिपुओं (मोह और लोभ) से बचा नहीं सका हूँ। आज ही मैंने एक महान् संकल्प किया है। मैं नहीं जानता कि इसमें मैं कहाँ तक सफल हूँगा। अनुचित कार्यों से मैं अपने को सदा बचा नहीं पाया हूँ पर उचित कर्मों को अवसर आने पर करने के लिए मैंने अपने प्राणों तक की परवाह नहीं की है।।' ३

इस उक्ति में प्रयत्न पक्ष-पर विशेष बल दिया गया है, सफलता की चिन्ता को व्यर्थ बतलाया गया है। इसमें 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन' के सिद्धान्त का कितना स्पष्ट समर्थन है।

विवेकिता और विश्वास मानव के प्रमुख सहायक भाव हैं। इनसे गति और कृति दृढ़ता एवं सौष्ठव का समावेश होता है। अघोर भैरव के उपदेश में इन्हीं भावों का समर्थन है—

करना नहीं चाहिये। जिस पर विश्वास करना चाहिये उस पर पूरा विश्वास करना चाहिये चाहे परिणाम जो हो। जिसे मानना चाहिये उसे अन्त तक मानना चाहिये।'४

---

१ बा० आ० क० पृ० २५ २६
२ बा० आ० क० पृ० २७
३ वही, पृ० २७
४ बा० आ० क० पृ० ९६

इसमें संदेह नहीं कि आधुनिक साहित्य में नारी के पद को ऊँचा किया गया है किन्तु साहित्यकार ने नारी के प्रति सहानुभूति व्यक्त की है या उसकी दशा पर अश्रुपात की चेष्टा करते हुए करुणा व्यक्त की है। साहित्य की इस चेष्टा में समाज में क्षोभ भी है और ग्लानि भी है। आत्मकथा के लेखक ने नारी में सौंदर्य को प्रमुख रूप से देखा है। कवियों की अभिव्यक्ति-परंपरा में नारी के सौंदर्य की अभिव्यंजना वासना से अस्पृष्ट नहीं रह पाई है। जहाँ कहीं पुरुष ने उसे देखा है वासना के द्वार से देखा है, किन्तु आत्म कथाकार ने इस सौंदर्य को भावना के बड़े ऊँचे स्तर से देखा है। इसी से तो बाणभट्ट कहता है—

"मैं नारी-सौंदर्य को संसार की सबसे अधिक प्रभावोत्पादिनी शक्ति मानता रहा हूँ। मेरे मन में रह-रह कर यही ध्वनि निकलती रही है कि नारी सौंदर्य यहाँ दुर्लभ है निष्कलंक है, ऊर्जस्वल है। क्यों ऐसा हुआ? इस महान् शक्तिशाली तत्त्व से बड़ी भी कोई शक्ति है क्या जिसने इसे इस तरह दुर्लभदर्शन बना दिया है।[1]"

नारी के इस सौंदर्य को मनुष्य नहीं देख पाया है। इसका कारण लेखक को सम्पत्ति में दीख पड़ता है। भौतिकतावादी दृष्टिकोण ने पुरुष की सौंदर्य-दर्शिनी दृष्टि कुण्ठित कर दी है। इसी कारण को भट्ट इस प्रकार व्यक्त करता है—

'जिसने इसे दुर्लभदर्शन बना दिया है + + वह शक्ति सम्पत्ति ही हो सकती है।[2]'

जिस प्रकार नारी-सौंदर्य पर हस्तक्षेप करके आत्मकथा के लेखक ने एक नया दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है उसी प्रकार उसने सत्य के संबंध में भी एक व्यावहारिक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। जो सत्य व्यवहार्य नहीं है, वह सत्य नहीं है। सत्य समाज की धारणा है। वह समाज के लिए कल्याणकारी होना चाहिये। झूठ घृणा की वस्तु है। किन्तु कभी कभी सत्य के स्थान पर झूठ का उपयोग सामाजिक व्यवस्था में कल्याणकर सिद्ध होता है। कुमार हर्षवर्धन बाण को समझाते हुए इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं—

'सत्य अविरोधी होता है।[3]'

बौद्ध दार्शनिकों ने मृषा-सत्य (व्यावहारिक सत्य) और परमार्थ-सत्य कह कर इसे विभक्त करने का दम्भ फैलाया है। मानों ये दोनों परस्पर विरुद्ध हों। जो मेरा सत्य है यदि वह वस्तुतः सत्य है तो वह सारे जगत् का सत्य है, व्यवहार का सत्य है परमार्थ का सत्य है—त्रिकाल का सत्य है।[4]

"तुम झूठ से घृणा करते हो मैं भी करता हूँ परन्तु समाज व्यवस्था झूठ को प्रश्रय देने के लिये ही तैयार की गई है उसे मानकर अगर कोई कल्याण कार्य

---

१ बा० भा० क० पृ० ११६

२ वही पृ० ११६

३ वही पृ० १०८

४ बा० भा० क०, पृ० १७६।

करना चाहो, तो तुम्हें झूठ का ही आश्रय लेना पड़ेगा। सत्य इस समाज व्यवस्था में प्रच्छन्न होकर वास कर रहा है। तुम उसे पहचानने में भूल न करना। इतिहास साक्षी है कि देखी-सुनी बात को ज्यों का त्यों कह देना या मान लेना सत्य नहीं है। सत्य वह है जिससे लोक का आत्यन्तिक कल्याण होता है। ऊपर से वह कैसा भी झूठ क्यों न दिखाई देता हो वही सत्य है।१"

लेखक ने इसको सिद्ध करने के लिए महाभारत के शान्ति-पर्व से यह उद्धरण दिया है—

सत्यस्य वचनं श्रेयः सत्यादपि हितं वदेत्।
यद्भूतहितमत्यन्तमेतत्सत्यं मतं मम॥

—(म० भा० शां० प०, २२९, १३)

सत्य की व्याख्या करते हुए कुमार कृष्णवर्धन आगे कहते हैं—

"लोक-कल्याण प्रधान वस्तु है। वह जिससे सधता हो वही सत्य है। आचार्य आर्यदेव ने सबसे बड़े सत्य को भी सर्वत्र बोलने का निषेध किया है। औषध के समान अनुचित स्थान पर प्रयुक्त होने पर सत्य भी विष हो जाता है।२ —

सत्यतो पुण्यकामेन वक्तव्या नैव सर्वदा।
औषधं युक्तमस्थाने गरलं न तु जायते॥

—(चतुःशतक ८।१८)

'हमारी समाज-व्यवस्था ही ऐसी है कि उसमें सत्य अधिकतर स्थानों में विष का काम करता है।३ + + 'भद्र! इस समय इतना याद रखो कि झूठ बोलना सर्वथा अनुचित नहीं होता।४'

सामान्य समाज प्रतिष्ठा की सफलता को महत्त्व देता है किन्तु हमारे लेखक की दृष्टि में सफलता का मूल्य नहीं है। प्रतिष्ठा के नीचे—उसके आधार के रूप में जो भूमि है वह प्रमुख है। प्रयत्नों को प्रेरणा वहीं से मिलती है। बाधाएं सफलता को बाधित कर सकती हैं और अनेक बार बाधाओं के कारण सफलता पर मनुष्य का अधिकार नहीं रहता। फिर मनुष्य के मूल्य को प्रतिष्ठा की सफलता से आंकना उचित कैसे हो सकता है? निउनिया को धिक्कारती हुई मल्लिनी के शब्दों में इसी भाव की अभिव्यक्ति हुई है—

'लेखक मेरे पहले भी थे पर ऐसा देवोपम अभिभावक मुझे पहले नहीं मिला

---

१ वा० आ० क० पृ० १२८-१२९।
२ वही, पृ० १२९।
३ वही पृ० १२९।
४ वही पृ० १३१।

था। तू बावर प्रतिज्ञा के सफल होने को बड़ी चीज समझती है। मा, बहन, प्रतिज्ञा करना ही बड़ी चीज है।"१

नारी के स्वर में एक निराशाभरी हूक भी निकलती है। नारी के साथ क्या-क्या नहीं हुआ और क्या-क्या नहीं हो रहा है। उसने सब कुछ सहा है और सब कुछ सहती जा रही है। भट्टिनी के स्वर में यही हूक इस प्रकार व्यक्त होती है—

'भगवान् की बनाई और लाखों कन्याओं की भाँति मैं भी एक मनुष्य-कन्या हूँ। उन्हीं की भाँति सुख-दुख का पात्र मैं भी हूँ। उन्हीं की भाँति मेरा जन्म भी अपनी सार्थकता के लिए नहीं है। मेरा अहङ्कार मर चुका है, अभिमान नष्ट हो गया है, कौलीन्य-गर्व विलुप्त हो चुका है। मैं अर्थिता अपमानिता कलङ्किनी सौ-सौ मानवियों की भाँति सामान्य नारी हूँ। जगत् के दुःख-प्रवाह में फेन-बुद्बुद के समान मैं भी नष्ट हो जाऊँगी और प्रवाह अपनी मस्तानी चाल से चलता जायेगा।२"

दुःख की बात तो यह है कि 'नारी के विरोध में उच्छृङ्खल पौरुष खड़ा हुआ है जिसने नारी के गौरव को भुला रखा है। उसकी महिमामयी शक्ति की उसने उपेक्षा कर रखी है। वह नहीं जानता कि उसकी निर्मर्याद महत्त्वाकांक्षा कितने दोषों की जननी है। राज्य-बल, सैन्य-संचालन, मठ-स्थापन और निर्जन-वास पुरुष की समताहीन, मर्यादा हीन, शृङ्खलाहीन महत्त्वाकांक्षा के परिणाम हैं। और नारी? नारी इनको नियन्त्रित करने की एकमात्र शक्ति है। इस रहस्य को महाकवि कालिदास ने पहचाना था। इतिहास भी साक्ष्य देता है कि इस महिमामयी शक्ति की उपेक्षा करने वाले मठ विध्वस्त हो गये हैं, ज्ञान और वैराग्य के बंगाल फेन-बुद्बुद की भाँति क्षण भर में विलुप्त हो गये हैं।३

इस कृति में नारी को परम आराध्या के रूप में देखा गया है। वह देव-प्रतिमा है। इस तथ्य को पृथुश्रुति बाण के मुख से कहा है— 'वे हाड़-माँस की नारी हैं—न होतीं तो आत्मभ्रष्ट बाण इस पवित्र देव-प्रतिमा के सामने अपने-आपको निःशेष भाव से उँडेल देने में अपनी सार्थकता क्यों मानता? हाय! इस संसार ने इस हाड़-माँस के देव-मन्दिर की पूजा नहीं की।"४ संसार को अपने आराध्य का पता नहीं चला। "वह वैराग्य और शक्ति-मद की बालू की दीवार खड़ी करता रहा। उसे अपने परम आराध्य का पता नहीं लगा।"५

---

१ बा० भा० क० पृ० १६६।
२ वही, पृ० १४१।
३ देखिये बा० भा० क० पृ० १४५।
४ वही, पृ० २०७।
५. वही पृ० २०७।

पुरुष के वैराग्य में नारी को त्यागने की भावना ने प्रतिष्ठा पाई और शक्ति-मद ने नारी की शक्ति को देखने से इन्कार कर दिया। एक ओर वह त्याज्य समझी गई और दूसरी ओर बल से प्राप्त करने योग्य विलास की सामग्री समझी गई। उसके हृदयगत सौंदर्य को किसी ने पहचानने का प्रयत्न नहीं किया। परिणाम यह हुआ कि संसार की साधना अधूरी रही। सेज यही है कि 'शोभा और कांति विभ्रम और विच्छित्ति पर बिकती रही और माधुर्य तथा लावण्य के स्थान पर हेला और विलोल का अधिक सम्मान किया गया।'[1]

लेखक लौकिक दृष्टि में विरोधी-भावों को देखता हुआ भी पर्दे के पीछे एक सामरस्य का साक्षात्कार करता है। इसीलिए वह बाण के मुख से कहलाता है—मैं यह भी जानता हूँ कि इन सारे आपाततः परस्पर-विरोधी दिखने वाले आचरणों में एक सामरस्य है—निरन्तर परिवर्तमान बाह्य आचरणों के भीतर एक परम संयमनम देवता स्तब्ध है। उस देवता को नहीं देखने वाले ही यौवन को मत्त गजराज कहा करते हैं, अनुराग को मानस-अन्धकार बताया करते हैं सहजभाव को वंकिम लीला का नाम दिया करते हैं। माधवी लता को घेरकर जब मधुकर-श्रेणी गुंजार करती रहती है तो मैं स्पष्ट ही पुष्पों के भीतर सौरभ के रूप में स्तब्ध उस महादेवता को देख पाता हूँ नदी जब उन्मत्त वेग से अपने सर्वस्व को दोनों हाथों लुटाते हुए समुद्र की ओर दौड़ती रहती है, तो उस महा रागमय देवता का मुझे साक्षात्कार होता है मेघ के श्यामल-मेदुर वक्ष स्थल में क्षण भर के लिए जब विभ्रमवती विद्युत् चमक कर छिप जाती है तो उस समय भी मैं उस व्याकुल वेदना के देवता को देखना नहीं भूलता।'[1]

कभी-कभी लोगों को कुछ भ्रान्तियाँ हो जाती हैं किसी के विषय में कोई गलत धारणा बन जाती है। जब तक उसकी प्रामाणिकता सिद्ध न हो जाये उस धारणा को अभिव्यक्ति नहीं मिलनी चाहिये क्योंकि ऐसी अभिव्यक्ति से सम्बन्धित व्यक्ति के हृदय को कठोर आघात पहुँचता है। बाण का हृदय ऐसे ही आघात से व्याकुल होकर उसे यह कहने के लिए प्रेरित करता है।

'अपराध क्षमा हो देव आप चक्रवर्ती राजा हैं। आपके श्रीमुख से निकली हुई यह बात पक्षपातहीन सत्यज्ञ की-सी नहीं है।''[2] + + + 'महाराजा होने मात्र से किसी को किसी विषय में अनर्गल विचार रखने का अधिकार नहीं हो जाता। ३ ''राज राजेश्वर को क्या इस प्रकार निर्णयात्मक दोषारोपण करना उचित है। न जाने किस दुर्जन ने मेरे विरुद्ध आप से क्या कह रखा है उसी के आधार पर मुझे आत्मदोष को जानने दिये बिना आप ऐसी बात कह रहे हैं।''[4]

---

१ बा० आ० क० पृ० २ व २०८।

२ वही, पृ २२३।

३ वही पृ २२४।

जिस प्रकार बाणभट्ट नारी-शरीर को देव-मन्दिर मानता है उसी प्रकार सुचरिता भी मानव-देह को नारायण का पवित्र मन्दिर मानती हुई कहती है—

'मानव-देह केवल दण्ड भोगने के लिए नहीं बनी है, आर्य ! यह विधाता की सर्वोत्तम सृष्टि है। यह नारायण का पवित्र मन्दिर है।'[1]

मनुष्य यह बड़ी भारी भूल करता है कि वह अपने शरीर में प्रतिष्ठित देवता को नहीं देखता। काश कि वह उसे देख लेता ! तो वह "अपने सत्य को अपना देवता समझ लेता।"[2]

तपस्वियों और सन्यासियों के प्रति लेखक के व्यंग्यों ने समाज की दुर्बलता पर जो प्रहार किया है वह जीवन-दर्शन का बड़ा सुन्दर पक्ष व्यक्त करता है। सुचरिता की सास ने अपने पुत्र के आचरण की जो भर्त्सना की है उससे सन्यास और तपस्या की कलई खुल जाती है। वृद्धा कहती है—

'बेटा, तू मुझ अभागी को रोटी-कपड़ी छोड़ कौन-सा धर्म कमा रहा है ? यह देख, यह तेरी ब्याहता बहू है। अभागे, स्वर्ग में ऐसी कौन-सी अप्सराएँ मिलती होंगी जिनके लिए तू इस मणि-कांचन प्रतिमा को छोड़ कर तपस्या कर रहा है ? ××× फिर दूसरा रूप धारण करके माँ ने उसे धिक्कार कर कहा—' अरे ओ मूढ़, रटी हुई बोली बोल रहा है तू ! धन्य है वह धर्माचार, जो अपनी माता को पहचानने में भी लज्जा अनुभव करता है। इस दुःखमय संसार को और भी दुःखमय बना कर ही क्या तेरा सुख का राजमार्ग तैयार होगा ? स्वार्थी है तेरा मार्ग धिक्कार है तेरे पौरुष को।"[3]

दुःख से भागना कायरता है और सुख की लिप्सा मोह है। दुःख और सुख दोनों को स्वीकार करके उन्हें भगवान् के चरणों में अर्पित कर देने से दोनों का प्रभाव मारा ही जाता है और मन की शान्ति भंग नहीं हो पाती। सुचरिता की उक्ति में इसी भाव का सन्निवेश है—

'मैं अप्रसन्न क्यों हूँगी आर्य ? उन्होंने अन्याय किया है, तो उनका लेखा-जोखा वे जानें। मुझे तो जो भी दुःख या सुख मिलेगा उसी से अपने नारायण की पूजा करूँगी।"[4]

जीवन पर मद्यपता का दोष आरोपित किया जाता है किन्तु बाणभट्ट उसमें गुण गुण भी देखता है। उसके प्रश्नोत्तर से यह बात प्रकट हो जाती है—

---

१ बा० भा० क० पृ० २३६।
२ वही, पृ० २३६।
३ बा० भा० क० पृ० २०४–२०५।
४ वही पृ० २८१।

"कौन कहता है, यौवन अन्ध और दुर्मोहित है ? उसमें अपूर्व उन्मादक गुण भी तो हैं !' १

कथाकार कोरी वाग्वीरता को हेय समझता है। 'कथनी' के साथ 'करनी' को वह आवश्यक मानता है। अपने दुःख को दुःख समझना क्या बात है ? जब सबके दुःख को अपना दुःख समझ जाये तब समझना चाहिये कि अपने सत्य की अनुभूति हुई। महामाया की त्रुटि को बतलाते हुए अवधूत अघोर भैरव इसी तथ्य को प्रकाशित करते हैं—

'क्या सचमुच जनता के दुःख को तुमने अपना दुःख समझ लिया है ? मैं कहता हूँ महामाया सत्यवादिनी बनो प्रपंच छोड़ो। तुमने अमृत के पुत्रों को सम्मोहन किया है क्या तुम स्वयं अमृत की पुत्री बन सकी हो ? तुमने जो कहा है वह करके तभी दिखा सकती हो जब तुम अपने आप को निःशेष भाव से उनके चरणों में समर्पण कर दोगी। वाग्वीर होना अपना ही अपमान करना है। यदि त्रिपुरभैरवी की लीला को दूसरे रूप में देखना चाहती हो तो स्वयं त्रिपुरभैरवी बने बिना उपाय नहीं है।' २

कुछ लोग सिद्धि को ही साधन समझ बैठते हैं किन्तु ऐसी समझ अज्ञानता से आवृत होती है। ऐसी समझ के प्रजनन में कच्चे चित्त की कच्ची कल्पना का योग होता है। प्रमाद से वह रूप ग्रहण करती है, जिससे मनुष्य का नाश होता है। बाणभट्ट की निम्नलिखित उक्ति इसी भाव की वाचिका है—

अवधूतपाद ने पहले ही दिन मेरे समूचे अस्तित्व को झकझोर कर कहा था कि भट्टिनी ही मेरी देवता है। आज घटना-चक्र ने मेरी सिद्धि को ही साधन बना दिया है। मुझे कहीं से कोई प्रकाश-रेखा नहीं दिखाई दे रही पर सिद्धि को साधन समझना कच्चे चित्त की कच्ची कल्पना है। इसे रूप-ग्रहण करने देना प्रमाद होगा।' ३

कोई भी व्यक्ति सारे जगत् के कल्याण को अपने भीतर नहीं उतार सकता केवल व्यक्तिगत सत्य ही आचरण में उतारा जा सकता है। '४

मस्ती मनुष्य के अन्तर का एक अद्भुत रस है। वह ऐसा रस-निर्झर है जिसमें इतनी उमंग इतना उल्लास इतनी निःसंगता भरती रहती है। न कहीं विरोधी पक्ष की संभावना से आशंका है न किसी पर भले-बुरे प्रभाव से प्रयोजन।५

यह जीवन अभिनय है। यह पग-पग का बंधन श्वास-श्वास का दमन अभिनय ही तो है। यह बंधन छूटने वाला नहीं है। यह बंधन ही चाहता है संयम है सुरुचि है। इस बाधा के कगारों से बंधी हुई जीवन-सरिता ही गतिशील होती है, सरस होती

---

१ बा० भा० क० पृ० २७४।
२ बा० भा० क० पृ० ३०१।
३ बा० भा० क०, पृ ३१७।
४ देखिये वही पृ० ३१८
५ देखिये वही पृ० ३६२।

है, मधुर होती है। दमन ही सौन्दर्य है, आत्म-दमन ही सुरुचि है, बाधाएँ ही माधुर्य हैं। नहीं तो यह जीवन व्यर्थ का बोझ हो जाता। वास्तविकताएँ नग्नरूप में प्रकट होकर कुत्सित बन जाती हैं।"[१]

भारतीय समाज में वशीकरण की बात बहुत होती है।[२] वशीकरण हँसी-खेल नहीं है। अपने आप को सम्पूर्ण रूप से उत्सर्ग करने को वशीकरण कहते हैं। जहाँ दूसरे को निःशेष भाव से पाने का प्रयत्न होता है वहाँ भी वशीकरण होता है। २ मनुष्य जितना देता है उतना ही पाता है। प्राण देने से प्राण मिलता है, मन देने से मन मिलता है। आत्मदान ऐसी वस्तु है जो दाता और ग्रहीता दोनों को सार्थक करता है उसमें जो आनन्द निहित है वह लौकिक मापदण्ड से नहीं मापा जा सकता। दुःख तो केवल मन का विकल्प ही है मनुष्य तो नीचे से ऊपर तक केवल परमानन्दस्वरूप है अपने को निःशेष भाव से दे देने से ही दुःख जाता रहता है परमानन्द प्राप्त होता है। दुःख को सुख मानना जीवन की बड़ी भारी सिद्धि है।[३]

प्रेम का सही मूल्य लोगों ने भुला दिया है क्योंकि वे उसके स्वरूप को नहीं समझते। "प्रेम एक और अविभाज्य है। उसे केवल ईर्ष्या और असूया ही विभाजित करके छोटा कर देते हैं। ४ नर-लोक से किन्नर-लोक तक एक ही रागात्मक हृदय व्याप्त है। दमन-कर्ता को ही सफलता मिलती है।

प्रेम एक विकार है जो मानव-हृदय का ध्रुव सत्य है। उसे केवल दम्भ से छिपाने का प्रयत्न किया जा सकता है दूसरों को धोखा दिया जा सकता है किन्तु प्रेम प्रेम है। वह व्यक्तिगत सत्य है। प्रेम देने से बढ़ता है और प्रेम का समर्पित प्रेम अभिन्न हो जाता है।[६]

प्रवृत्तियों का दमन हमारी धर्म-साधना का अंग माना जाता है। दमन बुरा है। 'प्रवृत्तियों को दबाना भी नहीं चाहिये और उनसे दबना भी नहीं चाहिये। प्रत्येक व्यक्ति का देवता अलग होता है। देवता का परिचय शायद प्रवृत्तियाँ ही कराती हैं। हम बहुत बार अपने देवता को मन-ही-मन पूजते तो रहते हैं पर हमें पता भी नहीं होता।[७]"

उल्लास और उन्माद में प्रेम की अभिव्यक्ति नहीं होती। वह तो अनुराग

---

१ बा० आ० क० पृ० १५६–५७।
२ वही पृ० १६६।
३ वही पृ० १७२–७३।
४ वही, पृ० १७७
५. वही पृ० १८२
६ देखिये वही, पृ० ३३०।
७ बा० आ० क० पृ० ११३

औत्सुक्य में ही होती है। उत्सवों को धर्म में सम्मिलित किया जाता है। क्या ये न्याय हैं? ये मनुष्य समाज की गलती के द्योतक हैं। यह उन्मत्त उत्सव, ये रासक गान ये अश्लीलोत्सव, ये अबीर-गुलाल, ये चर्चरी की धूम ये पटह मनुष्य की किसी मानसिक दुर्बलता को छिपाने के लिए हैं ये दुःख भुलाने वाली मदिरा हैं, ये हमारी मानसिक दुर्बलता के पर्दे हैं। इनका अस्तित्व सिद्ध करता है कि मनुष्य का मन रोगी है, उसको चिन्ताधारा आविल है उसका पारस्परिक सम्बन्ध दुःखपूर्ण है।"[१]

प्रेम बहुत कोमल किन्तु उच्च वस्तु है। वह वैराग्य से दग्ध करने योग्य नहीं है।"[२]

---

१ बा० मा० क० पृ १२२ २३।

२ वही पृ० २७२।

१० समाज-चित्रण

लेखक या कवि अपने समाज का चित्रकार होता है। जिस प्रकार आड़ी-टेढ़ी रेखाओं से चित्रकार किसी वस्तु या व्यक्ति का रूप प्रस्तुत कर देता है उसी प्रकार साहित्यकार अपने शब्दों से समाज का चित्र प्रस्तुत करता है। ऐतिहासिक आधार होने पर भी साहित्यकार अपने समय के समाज को नहीं भुला सकता है। उसके समय में समाज का जो रूप चित्र होता है उसकी कुरूपता को वह इतिहास के प्रश्रय से दूर करता है। भूत और वर्तमान की अनेक समस्याओं में या तो साम्य होता ही है और यदि नहीं भी होता तो साहित्यकार इतिहास में अपने युग की समस्याओं के साम्य की कल्पना करता है।

बाणभट्ट की आत्मकथा' में जिस सामाजिक वातावरण की मीमांसा की गई है उसका कुछ तो ऐतिहासिक आधार है ही। आधार में कादम्बरी और हर्षचरित के योग को नहीं भुलाया जा सकता। इनके अतिरिक्त अन्य रचनाओं का ऐतिहासिक योग भी स्पष्ट है। इस आधार में राजनीति धर्म दर्शन भक्ति, कला, आचार विचार वेश-भूषा रीति-नीति आदि का साक्षात्कार न करना सम्भव नहीं है।

इसमें सन्देह नहीं है कि बाणभट्ट की आत्मकथा' लेखक का अभिनव प्रयोग है। उसमें शैली का वैलक्षण्य है नवीनता है किन्तु उसके पीछे निहित उद्देश्य से उसमें उपन्यास के रूप को न देखना समीचीन नहीं है। उपन्यास गद्य का महाकाव्य होता है। उसमें लेखक के ऊपर नाटक या कहानी का सा नियन्त्रण नहीं होता। उसको रुचि के रुचि में जो-जो बातें 'फिट' होती हैं उनको वह स्वतन्त्रता से कहता-कहाता है। इस कृति में वस्तु-कथा का सूत्र बहुत क्षीण है, किन्तु लेखक के कौशल ने उसको विस्तार देकर जो औपन्यासिक वैभव प्रदर्शित किया है वह लेखक की कला का ज्वलन्त उदाहरण है। विस्तारों में वर्णनों का प्रमुख योग है। यों तो अनेक प्रकार के वर्णनों की प्रचुरता से आत्मकथा का प्रवाह कुछ शिथिल और बोझिल हुआ है किन्तु शैली की नवीनता औत्सुक्य-कथन की चेष्टा और भावों के अद्भुत सामञ्जस्य ने 'कथा' की रोचकता का ह्रास नहीं होने दिया। यद्यपि इसमें का वर्णन तत्कालीन ग्रन्थों पर आधारित है, उस युग को पाठकों के सामने लाकर आधुनिक युग की विकास-सीमा में समाहित कर देता है।

राजपरिवार में पुत्र-जन्म के संबंध से नामकरण आदि का महत्त्व दिखला कर लेखक ने इतिहास का साक्ष्य दिया है। उससे आधुनिक जन्मोत्सव परम्परा की कड़ी जोड़ी जा सकती है। ऐसे अवसरों पर प्रायः स्त्रियों की ही संख्या अधिक होती है और इसी रीति को लेखक ने आज-काल की रीति से संबद्ध करने का प्रयत्न किया है। राज-वधुएँ शिविकाओं पर आरूढ़ होकर आती थीं। परिचारिकाएँ पैदल चलती थीं। वे वेशों में

नूपुर तथा हाथों में चूड़ी धारण करती थीं समूह में चलती हुई परिचारिकाओं के नूपुरों और चूड़ियों के क्वणन-रव से एक मोहक संगीत की सृष्टि हो जाती थी। निम्नलिखित वर्णन से परिचारिकाओं की औत्सविक साज-सज्जा का परिचय मिल सकता है—

जब नगर में पहुँचा तो बड़ी धूमधाम देखी। कूर्मपृष्ठ के समान उन्नतोदर राज मार्ग पर एक बड़ा भारी जुलूस चला जा रहा था। उसमें स्त्रियों की संख्या ही अधिक थी। राजवधूएँ बहुमूल्य शिबिकाओं पर आरूढ़ थीं। साथ-साथ चलने वाली परिचारिकाओं के चरण विघटनजनित नूपुरों के क्वणनाद से दिगन्त शब्दायमान हो उठा था। वेगपूर्वक भुजलताओं के उत्तोलन के कारण मणिघटित चूड़ियाँ चंचल हो उठी थीं। इन ललनाएँ भी झंकार करने लगी थीं। उनकी ऊपर उठी हथेलियों के देखने से ऐसा लगता था मानों आकाश-गंगा में खिली हुई कमलिनियाँ हवा के झोंकों से विलुलित होकर नीचे उतर आई हों। भीड़ के संघर्ष से उनके कानोंके पल्लव खिसक रहे थे। वे एक दूसरी से टकरा जाती थीं। इस प्रकार एक का केयूर दूसरी की चादर में लग कर उसे खरोंच डालता था। पसीने से चुह-चुहकर वे मदन उनके गोमांसुकों का रंग रहे थे। साथ में नर्तकियों का भी एक दल जा रहा था। उनके हँसते हुए वदनों को देख कर ऐसा भान होता था कि कोई प्रस्फुटित कुसुमों का वन चला जा रहा है। उनकी चंचल हार-लताएँ जोर-जोर से हिलती हुई उनके वक्षोजाग्र से टकरा रही थीं खुली हुई केशराशि सिन्दूर-बिन्दु पर अटक जाती थी। निरंतर गुलाल और अबीर के उड़ते रहने के कारण उनके केश पिंगल वर्ण के हो उठे थे और उनके मनोरम गान से सारा राजमार्ग प्रतिध्वनित हो उठा था।' १

यह जुलूस राजमार्ग पर चला जा रहा था। राजकन्याएँ राजपुरुषों के पीछे, जुलूस के मध्य में थीं। जिस प्रकार जुलूस के एक भाग में बौने, कुबड़े वपु वक्र और मूर्ख लोग उद्धत नृत्य से विह्वल होकर भागे जा रहे थे उसी प्रकार राजकन्याओं के साथ भी नृत्य-गान का आयोजन था किन्तु वह उद्धत एवं असंयत नहीं था। इसमें संयम, गंभीरता और मनोहारिता थी। राजकन्याएँ शिबिकाओं में चली जा रही थीं। जुलूस के पीछे के भाग में राजा के चारण और बन्दी लोग विरुद-गान करते हुए जा रहे थे।२

) सामाजिक उत्सवों का दूसरा रूप मदनोत्सव हौलिकोत्सव आदि में मिलता है। इस समय भी नृत्य गीत वाद्य आदि के आयोजन किये जाते थे। नगर के सब लोग आनन्द-निमग्न होकर उत्सव मनाते थे। स्त्री-पुरुष बाल-वृद्ध आदि सभी लोग इस अवसर पर एकत्र होते थे। ऐसे उत्सवों का आयोजन राजमार्ग पर होता था। मर्दल वेणु, झल्लरी काहल कोडी, तन्त्री पटह अलाबु-वीणा आदि की मनोरम ध्वनि से वारिवि लासिनियों के नृत्य अद्भुत आकर्षक हो जाते थे।

---

१ का० भा० क, पृ० १२।

२ तुलना कीजिये कादम्बरी सुकनास-पुत्रोत्सव-कालीन यात्रा-वर्णन।

दूसरे प्रकार के उत्सव धार्मिक होते थे। वे बौद्ध, वैष्णव या शैव धर्म से स
धित होते थे। इन उत्सवों की वेश-भूषा इतर उत्सवों के समय की वेश-भूषा से भिन्न हो
थी। बौद्ध-उत्सवों पर वेश-भूषा बिल्कुल भिन्न होती थी। बौद्धोत्सवों में बुद्ध-जन्मोत्
प्रधान था। बुद्ध-वैशाखी-पूर्णिमा को मनाया जाता था। इसी दिन तथागत ने ज
ग्रहण किया था और इसी दिन निर्वाण प्राप्त किया था। हर्ष की राजधानी में—
नरपति के नगर में तो यह उत्सव और भी धूमधाम से मनाया जाता था। निम्न
खित वर्णन से उत्सव का एक सूक्ष्म चित्र पाठक के सामने आ सकता है—

'वीथियाँ सुगन्धि से सिक्त थीं और भवनों में मंगल-पताकाएँ सुशोभित
रही थीं राजमार्ग को ओर के सभी वातायन मालती-दाम से अलंकृत हो रहे थे और प
वन नवीन वस्त्र-भूषा से सुसज्जित थे।" XXX 'राजमार्ग श्वेत वस्त्रधारी नागरिकों
पूर्ण था। उनके वस्त्र उष्णीष अङ्गराग और माल्य सभी श्वेत थे। ऐसा जान पड़
था सब लोगों ने रजत-धारा में स्नान किया है।' 'विहार सबके लिए खुला था, फि
भी बहुत थोड़े लोग भीतर जाने का साहस कर रहे थे। सभास्थल में भिक्षुओं का आधि
था। गृहस्थों में स्वयं महाराज और उनके कई निकटवर्ती पदाधिकारी समासीन
महाराज के शरीर पर कोई उत्तरीय भी नहीं था। साथ शरीर सौमनिक अङ्गराग
उपलिप्त था और भुजमूल में केयूर और हृदय में एक मौक्तिक-हार के सिवा और
भी अलंकार उन्होंने नहीं धारण किया था। वे बहुत शान्तमनोरम दिखाई दे रहे
आचार्य के प्रति उनकी अगाध श्रद्धा थी, और आचार्य भी अत्यन्त स्नेहपूर्वक उनकी
देख रहे थे। सब मिलाकर वहाँ अद्भुत व्यक्ति थे हुए थे। आगे तो भिक्षु थे
आगे में महाराजाधिराज के सामन्त और अन्तःपुर की देवियाँ थीं। एक महीन चि
स्क्रीनी (पर्दे) के पीछे देवियों का आसन था।'[1]

धार्मिक और सामाजिक उत्सवों के अतिरिक्त एक दूसरे प्रकार के समारोह
हुआ करते थे। इनका आयोजन किसी विशेष व्यक्ति के अभिनन्दन या स्वागत के
किया जाता था। ऐसे अवसरों पर उन्मत्त विलास को शिष्टाचार की मर्यादा में रखा
था। जिस प्रकार आज-कल किसी बड़े अधिकारी को पुलिस या फौज का 'गार्ड आफ ऑ
दिया जाता है उसी प्रकार उक्त उत्सवों पर सम्मान प्रदर्शित किया जाता था।
उत्सवों का रूप इस वर्णन से अवगत हो सकता है—

"इसी समय एक दासी ने आकर सूचना दी कि महासामन्त लोकदेव
ी और अनुचरों के साथ द्वार पर खड़े हैं उनके हाथ में पूजा के उपकरण हैं, वे
ज मन्दिरों के दर्शन का प्रसाद पाना चाहते हैं।"[2]

रात-रात उल्काओं के प्रकाश में एक विशाल जन-समूह नृत्य गान और

---

[1] हा० भा० क०, पृ० २१५-१७।
[2] वही पृ० २१५

से दिङ्मण्डल को गुंजरित कर रहा था। 'सबके आगे घोड़े पर लोरिकदेव थे, उनके पीछे उसी प्रकार के घोड़ों पर मन्त्री और राजपुरोहित थे। उनके पीछे पालकी पर लोरिकदेव की रानी थीं। और भी पीछे मल्लों का एक विशाल यूथ था। वे नाना भाव से व्यायाम कौशल प्रदर्शन कर रहे थे। ××× एक ही साथ सैकड़ों मल्ल नाना अस्त्रों से सुसज्जित होकर विकट भंगिमाओं से अंग मोटन, नाटन उन्मोटन, विकुंचन और संतोलन की क्रिया दिखा रहे थे। उनके अविरल तालोद्घुष्ट से रह-रह कर दिगन्त चटचटा उठते थे धनुष्टंकार और यष्टिकोटियों की झनझनाहट से भूमि प्रकम्पित हो उठता था, उद्दाम अंग-विकुंचन से दर्शकों की आँखें चौंधिया जाती थीं, बार-बार ऐसा मालूम होता था कि एक का अंग मोटन दूसरे के विकुंचन से उलझ जायेगा। पर आश्चर्य तब होता था जब यह सारा छन्दोहीन विशृङ्खल व्यायाम-व्यापार एक ही साथ बन्द हो जाता था समस्त मल्ल युगपत् उत्तम्भित होकर एक अद्भुत विरति-निनाद करते थे और क्षणभर में जन-समूह के इस सिरे से उस सिरे तक देवपुत्र तुवरमिलिन्द का जय-निर्घोष मट्टिनी को प्रकम्पित कर देता था। मट्टिनी के द्वारपाल पर मल्लों का दल अपने व्यायाम में ज्यों का त्यों लगा रहने पर भी विचित्र संयम के साथ वर्तुलाकार खड़ा हो गया और बीच में स्त्री-पुरुषों के पचासों घोड़े उसी के समानान्तर वर्तुलाकार फैल गये। उनके हाथ में छोटे-छोटे काष्ठ-खण्ड थे। लोरिकदेव घोड़े से उतर गये। साथ ही मन्त्री और पुरोहित भी उतर गये।

मट्टिनी के आते ही लोरिकदेव ने तलवार खींचकर अभिवादन किया। साथ ही पुरोहित ने शंख-ध्वनि की। देखते-देखते देवपुत्र-नंदिनी के जय-निनाद से दिशाएं काँपने लगीं××× । इसी समय लोरिकदेव ने अपनी बत्तीस अंगुलों की विशाल असि को ऊपर उठाया। देखते-देखते मल्लों की लाठियाँ खड़ाखड़ उठीं। ××× यष्टिकाण्ड व छिन्न-छत्रा गया। एक बार तो वह इतना छोटा हो गया कि लाठियों के सिवा और कुछ दिखाई ही नहीं देता था। ××× लाठियों के दो मंच बन गये। कुमारियों ने मधुर-रव से सरोवर त्रिपदीछन्द का गान गाया। ××× कुमारी-कंठ की सुरीली-तान बहुत मीठी लग रही थी। ×× यह नृत्य-कौशल विचित्र था। कुमारियों ने विचित्र सुकुमार भंगिमा से मट्टिनी को घेर लिया। अत्यन्त मधु आभास से उन्हें उठाया और आगे वाले यष्टिमंच पर बैठा दिया। फिर विकट रासक नृत्य चलने लगा।

'मट्टिनी के पीछे वाले मंच पर लोरिकदेव और उनकी रानी समासीन हुईं। एक बार फिर वह नृत्य रुका। पुरोहित ने शंख-ध्वनि की और मन्त्री ने धूप-दीप-नैवेद्य के साथ मट्टिनी को अर्घ्य दिया। लोरिकदेव ने रजत के मनोरम थाल में नारिकेल पूगी फल और ताम्बूलपत्र मट्टिनी को निवेदन किया।'×

×बाणभट्ट की आत्मकथा पृ. २९६-९८

सामाजिक और धार्मिक उत्सवों एवं समारोहों के वर्णनों के साथ-साथ लेखक ने प्रकृतिवर्णनों में भी बड़े कौशल का परिचय दिया है। यह ठीक है कि प्रकृति-वर्णनों में लेखक ने कादम्बरी हर्षचरित आदि संस्कृत-ग्रंथों से बड़ी सहायता ली है, किन्तु इन वर्णनों के अनुवाद-सौन्दर्य में भी पूरी विजयता है बिलकुल उसी प्रकार जिस प्रकार वर्णन-व्यवस्था में। उपयुक्त स्थल देखकर कथा-प्रवाह में उसको 'फिट' करना बड़े महत्व की बात है। प्रभात मध्याह्न संध्या, निशा उषा ज्योत्स्ना आदि वर्णनों के साथ-साथ वन नदी उद्यान पर्वत लता वृक्ष फूल फल आदि के वर्णन भी बड़े आकर्षक हैं। जिस प्रकार उत्सवों के साथ वसन्त ग्रीष्म शीत आदि ऋतुओं के वर्णन भी टँके हुए हैं उसी प्रकार सामाजिक और धार्मिक वर्णनों के साथ नगर, ग्राम आश्रम मार्ग उत्सव मन्दिर, पुरुष नारी आदि के वर्णन भी संनिहित हैं। इन वर्णनों के संबंध से वृक्ष फूल, फल लता, वस्त्र वेश पशु, रीति-रिवाज आदि अनेक बातों का परिचय देकर लेखक ने रोमांस में काव्य-सौन्दर्य भर दिया है।

इन आयोजनों से राजा-प्रजा का सम्बन्ध गुरु-शिष्य का भाव आतिथ्य-सत्कार, मदिरा का महत्व और दुरुपयोग, नृत्य वाद्य संगीत आदि के अनेक भेद अपभ्रंश भाषा के गीतों का प्रचार, दीनार सिक्के का प्रचलन यात्रा के अनेक साधन काव्य का स्थान कवियों का पद कला का गौरव सूचना देने की पद्धति वर्ण-निष्ठा शौच नारी-पद शिष्टाचार संबोधनशैलियाँ राजसभा का शिष्टाचार, समाज-सौसौल्य, बन्दीशाला आदि अनेक बातें पाठक के सामने आजाती हैं।

इस समय समाज में विशृङ्खलता पैदा हो गया था। उसका कारण देश की भेद नीति तो थी ही साथ ही विदेशियों का आक्रमण भी था। धर्म और समाज के टुकड़े देश की दुर्बलता के प्रतीक थे। धर्म भेद ने समाज में उत्कट भेद-भाव पैदा कर दिया था। महाराज हर्षवर्धन तक धर्म के फेर में पड़कर एक विचित्र परिस्थिति का सामना कर रहे थे। देश की शक्ति क्षीण हो रही थी। वृद्धों, बालकों बेटियों, बहुओं, देव मन्दिरों और विहारों की रक्षा की शक्ति देश के नौजवानों में कुंठित हो गई थी। विद्वानों में स्वतन्त्र सपटल-बुद्धि का तिरोभाव-सा लगता था। उत्तरापथ में साक्षात विरोह बहुओं और बेटियों के अपहरण और विक्रय का व्यवसाय चल रहा था। स्त्रियाँ अपमानित लांछित और प्रकाशन वञ्चित होती थी और इस घृणित व्यवसाय के प्रधान आश्रय सामन्तों और राजाओं के अन्तःपुर थे।

राजपरिवार के प्रति क्षोभ की भावना ने पकना आरम्भ कर दिया था। अतएव देश के लोगों में बड़े बड़े उपद्रवों शान्ति की आग जलाने का उपक्रम कर रहे थे। वे उन्हें राजा से भयभीत न होने के लिए जगा रहे थे। शासित सामन्तों की नाक झुकाना महाराजा ने अपना कर्तव्य बना लिया था किन्तु उनके कुकर्मों और अत्याचारों की ओर से उन्होंने लोचन बन्द कर लिये थे। राजाओं के ऐसे आचरण के नीचे अन्याय की परम्परा

[illegible] दिङ्मण्डल को मुखरित कर रहा था। उनके आगे घोड़े पर सोरिकदेव थे उनके पीछे उसी प्रकार के घोड़ों पर मन्त्री और राजपुरोहित थे। उनके पीछे पालकी पर सोरिकदेव की रानी थीं। और भी पीछे मल्लों का एक विशाल यूथ था। वे नाना भाव से व्यायाम कौशल-प्रदर्शन कर रहे थे। XXX एक ही साथ सैकड़ों मल्ल नाना शस्त्रों से सुसज्जित होकर विकट भंगिमाओं से प्रा ग-मोक्ष नाटन उन्मोटन विकु चन और संतोलन की क्रिया किया रहे थे। उनके अविरल तालोद्घट्टन से रह-रह कर दिगन्त चटचटा उठते थे, धनुष्कास्य और यष्टिकोशियों की झनझनाहट से शून्य प्रकम्पित हो उठता था उद्दाम प्रा ग-विकु चन से दर्शकों की आँखें चौंधिया जाती थीं बार-बार ऐसा मालूम होता था कि एक का प्रा ग-मोक्षण दूसरे के विकु चन से उलझ जायेगा। पर आश्चर्य तब होता था जब यह सारा छन्दोहीन विशृङ्खल व्यायाम-व्यापार एक ही साथ बन्ध हो जाता था समस्त मल्ल युगपद् उत्तम्भित होकर एक अद्भुत विरति-निनाद करते थे और अखाड़े में जन-समूह के इस सिरे से उस सिरे तक देवपुत्र तुषारमिलिन्द का जय-निर्घोष यष्टिनी को प्रकम्पित कर देता था। यष्टिनी के पुरद्वार पर मल्लों का दल अपने व्यायाम में ज्यों का त्यों खड़ा रहने पर भी विविध संयम के साथ वपु साकार खड़ा हो गया और बीच में स्त्री-पुरुषों के पचासों घोड़े उसी के समानान्तर वपु साकार लेते गये। उनके हाथ में छोटे-छोटे काष्ठ-खण्ड थे। सोरिकदेव घोड़े से उतर गये। साथ ही मन्त्री और पुरोहित भी उतर गये।

"यष्टिनी के आते ही सोरिकदेव ने तलवार खींचकर अभिवादन किया। साथ ही पुरोहित ने शङ्ख-ध्वनि की। देखते-देखते देवपुत्र नंदिनी के जय-निनाद से दिशाएं काँपने लगीं XXX। इसी समय सोरिकदेव ने अपनी बत्तीस प्रा पुत्रों की विशाल यष्टि को ऊपर उठाया। देखते-देखते मल्लों की लाठियाँ खड़ाखड़ उठीं। XXX यष्टिधनु ल सिम-टता गया। एक बार तो वह इतना छोटा हो गया कि लाठियों के सिवा और कुछ दिखाई ही नहीं देता था। XXX लाठियों के दो मंच बन गये। कुमारियों ने मृ धार-रव से सरोवर त्रिपदीछन्द का गान गाया। XXX कुमारी-कंठ की सुरीली-तान बहुत मीठी लग रही थी। XX यह नृत्य-कौशल विचित्र था। कुमारियों ने विविध सुकुमार भंगिमा से यष्टिनी को घेर लिया। अत्यन्त लघु आभास से उन्हें उठाया और आगे वाले यष्टिमंच पर बैठा दिया। फिर विकट रासक नृत्य चलने लगा।

"यष्टिनी के पीछे वाले मंच पर सोरिकदेव और उनकी रानी समासीन हुईं। एक बार फिर वह नृत्य रुका। पुरोहित ने शंख-ध्वनि की और मन्त्री ने धूप-दीप-नैवेद्य के साथ यष्टिनी को अर्घ्य दिया। सोरिकदेव ने रजत के मनोरम थाल में नारिकेल पूगी फल और ताम्बूलपत्र यष्टिनी को निवेदन किया।"X

Xबाणभट्ट की आत्मकथा पृ० २९६-९७

सामाजिक और धार्मिक उत्सवों एवं समारोहों के वर्णनों के साथ-साथ लेखक ने प्रकृतिवर्णनों में भी बड़े कौशल का परिचय दिया है। यह ठीक है कि प्रकृति-वर्णनों में लेखक ने कादम्बरी, हर्षचरित आदि संस्कृत-ग्रंथों से बड़ी सहायता ली है, किन्तु इन वर्णनों के अनुवाद-सौन्दर्य में भी अपनी विशेषता है, बिलकुल उसी प्रकार जिस प्रकार वर्णन-व्यवस्था में। उपयुक्त स्थल देखकर कथा-प्रवाह में उसको 'फिट' करना बड़े महत्व की बात है। प्रभात मध्याह्न सन्ध्या निशा छाया ज्योत्स्ना आदि वर्णनों के साथ-साथ वन नदी उद्यान पर्वत लता वृक्ष फूल फल आदि के वर्णन भी बड़े आकर्षक हैं। जिस प्रकार उत्सवों के साथ वसन्त, ग्रीष्म शीत आदि ऋतुओं के वर्णन भी टँके हुए हैं उसी प्रकार सामाजिक और धार्मिक वर्णनों के साथ नगर, ग्राम आश्रम मार्ग उत्सव मन्दिर, पुरुष नारी आदि के वर्णन भी संनिहित हैं। इन वर्णनों के सहारे से वृक्ष फूल फल लता, वस्त्र वेश पशु रीति-रिवाज आदि अनेक बातों का परिचय देकर लेखक ने रोमांस में काव्य-सौन्दर्य भर दिया है।

इन आयोजनों से राजा-प्रजा का सम्बन्ध गुरु-शिष्य का भाव आतिथ्य-सत्कार, महिला का महत्व और दुरुपयोग, मृत्यु, वाद्य संगीत आदि के अनेक भेद, अपभ्रंश भाषा के गीतों का प्रचार, दीनार सिक्के का प्रचलन यात्रा के अनेक साधन काव्य का स्थान, कवियों का पद कला का गौरव सूचना देने की पद्धति वर्ण-निष्ठा, भोग्य नारी-मत, शिष्टाचार सशोभनशैलियाँ राजसभा का शिष्टाचार, समाज-सौहार्द्य बन्दीशाला आदि अनेक बातें पाठक के सामने आजाती हैं।

इस समय समाज में विशृङ्खल वेश हो गया था। उसका कारण देश की भेद नीति तो था ही, साथ ही विदेशियों का आक्रमण भी था। धर्म और समाज के टुकड़े देश की दुर्बलता के प्रतीक थे। धर्म भेद ने समाज में उत्कट भेद भाव पैदा कर दिया था। महाराज हर्षवर्धन तक धर्म के फेर में पड़कर एक विचित्र परिस्थिति का सामना कर रहे थे। देश की शक्ति क्षीण हो रही थी। वृद्धों, बालकों, बेटियों बहुओं, देव मन्दिरों और विहारों की रक्षा की शक्ति देश के नौजवानों में कुंठित हो गई थी। विद्वान में स्वतन्त्र संघटन-बुद्धि का तिरोभाव-सा लगता था। उत्तरापथ में साथ-साथ निरीह बहुओं और बेटियों के अपहरण और विक्रय का व्यवसाय चल रहा था। स्त्रियाँ [illegible] लांछित और प्रकाशित होती थीं और इस घृणित व्यवसाय के प्रधान आश्रय सामन्तों और राजाओं के अन्तःपुर थे।

राजपरिवार के प्रति क्षोभ की भावना ने पनपना आरम्भ कर दिया था। [illegible] देश के लोगों में बड़े बड़े उपदेशक शान्ति की [illegible] उन्हें राजा से भयभीत न होने के लिए कहा रहे थे। [illegible] महाराजा ने अपना कर्तव्य बना लिया था—किन्तु [illegible] उन्होंने लोगों को बन्द कर दिये थे। राजाओं के ऐसे [illegible]

रही है। यह पहला अन्याय नहीं था, अन्तिम भी नहीं था। यह दुर्वह सम्पत्ति का विप्लवकारित रूप था। इसके लिए न्याय की भावना को व्यर्थ बतलाया जा रहा था। धर्म की रक्षा के लिए अपने को मिटा देने की भावना और संकल्प की आवश्यकता थी। अतएव अनुनय-विनय एवं शास्त्र-वाक्यों की संगति बैठाने की बात को धर्म-रक्षा में व्यर्थ बतलाया जा रहा था। लोग मान-मर्यादा की ओर से उदासीन हो बैठे थे वे राजाओं, राजपुत्रों और देवपुत्रों की आशा पर निश्चेष्ट बने हुए थे। प्रजा में मृत्यु का भय छा गया था, जो एक असुख लक्षण था।

वे लोग भूल चले थे कि धर्म के लिए प्राणों की भी आवश्यकता हो सकती है। धर्म के लिए प्राण देना किसी जाति का पेशा नहीं है। वह मनुष्य-मात्र का उत्तम लक्ष्य है। लोगों को न्याय की चिन्ता नहीं रही थी। वे उसे किसी भी स्थान से बलपूर्वक खींच लाने के लिए सन्नद्ध नहीं थे। वे भूल गये थे कि न्याय पाना मनुष्य का जन्म-सिद्ध अधिकार है और उसे न पाना अधर्म है।

राजाओं, महाराजाओं और सामन्तों को स्वार्थ अपना गुलाम बना रहा था। प्रजा भीरु और कायर होती जा रही थी विद्वान् और शीलवान् नागरिकों की बुद्धि कुण्ठित हो रही थी। धर्माचरण में व्याघात उपस्थित होने का प्रमुख कारण यह था कि राजा अन्धा था, प्रजा अन्धी थी और विद्वान् अन्धे थे। ब्राह्मणों और चाण्डालों के बीच की एकता विच्छिन्न हो गई थी और समाज ने राजपुत्रों की वेतन-भोगी सेना को रक्षा का साधन मान रखा था।[1] इस समय प्रजा में असन्तोष छा रहा था।[2]

नगरों में विलास रसिकों की संख्या बढ़ती जा रही थी। उनका अन्धानुरोध न कर सकने से ऐसे लोग अनेक स्त्रियों के विषय में अपवाद फैला देते थे। बौद्ध धर्म और सनातन धर्म में बड़े कूट शास्त्र-पेचों का प्रयोग किया जाता था। इन धर्मों ने मानों मनुष्य की चिन्ता छोड़ दी थी। धर्म-गुरुओं को अपने-अपने मत का डिंडिम पीटना ही अभिप्रेत था। एक धर्म के साथ राजा था और दूसरे के साथ प्रजा थी। थोड़े-से पण्डित-मानी व्यक्तियों की ईर्ष्याग्नि में, प्रजा ही नहीं, राजा भी जल रहा था और समूचा आर्यावर्त उस ज्वाला के तट पर खड़ा था।

आर्यावर्त के समाज में अनेक स्तर हो गये थे। प्रबल प्रतापी गुप्त नरपतियों ने इस मिथ्या समाज-भेद के साथ उदात्त भावनाओं का समन्वय करना चाहा था। यह समझी थी। देश में आचीरों ने प्रभूत शक्ति संचित करली थी। उनमें किसी स्तर-भेद के लिए अवकाश नहीं दिया गया था।

सामन्त लोग अपनी-अपनी शक्ति के बढ़ाने के उपायों में संलग्न थे। भारतवर्ष

---

१ बाणभट्ट की आत्मकथा, पृ० २३६-३८।

२ वही, पृ० [illegible]

के समाज में सहस्रों जाति-भेद दृष्टिगोचर हो रहे थे। जो ऊँचे थे वे बहुत ऊँचे थे और जो नीचे थे उनकी निचाई का भी कोई पारपार नहीं था। उनकी स्त्रियों में रानी से लेकर परिचारिका तक के और गणिका से लेकर वारविलासिनी तक के सैकड़ों भेद नहीं थे। वे सब रानी भी सब परिचारिका थीं। उस समय भी निकृष्ट सामाजिक वर्गिकता के हटाने की आवश्यकता की प्रतीति हो रही थी।

निम्न वर्ग के लोगों की दृष्टि में ब्राह्मण अब भी देवता थे। वृद्ध महिला के ये वाक्य इस तथ्य को प्रमाणित करते हैं—

'तुम ब्राह्मण हो आर्य पृथ्वी के देवता हो आर्य, तुम्हारे आशीर्वाद से मेरा कल्याण होगा।"[1]

फिर भी ब्राह्मण की कलई खुल चुकी थी। उसे ढरपोक मिथ्याचारी दंभी पाखण्डी प्रपञ्ची आदि अनेक विशेषण भी प्राप्त हो चुके थे।[2]

इस समय वैश्या नारी-कलक थी। समाज में उसकी कला की तो प्रशंसा होती थी किन्तु वह स्वयं सम्मानित नहीं होती थी। उसका आवास बहुत सुन्दर होता था। गीत संगीत नृत्य के अतिरिक्त वह चित्रकला में भी प्रवीण होती थी। वह नाटकों में अभिनय भी करती थी। कुछ वैश्याओं को राज्य-प्रश्रय भी मिलता था और उत्सवों के अवसर पर वह प्रासादों की शोभा बढ़ाती थी।

गुरु प्रायः धर्मगुरु के रूप में ही प्रसिद्ध थे। धर्मगुरुओं का उस समय बड़ा ही आदर होता था। भारत में गुरु का आदर बहुत पुराने समय से होता आ रहा था। रहस्यात्मक साधनाओं के विकास ने गुरु के महत्त्व को और भी बढ़ा दिया था।

उस समय दो प्रकार के काव्यों की परम्परा थी—देव-काव्य और नर-काव्य। नर काव्य भी दो प्रकार का माना जाता था—मृत व्यक्तियों से सम्बन्धित तथा जीवित व्यक्तियों से संबंधित। जीवित व्यक्तियों से संबंधित काव्य को प्रमुख समझा जाता था।

कवियों की वेश-भूषा तथा रुचि कुछ और ही होती थी। पाचक और वाण के वर्णन से उसका पता चल सकता है। "पाचक चटुल जीवन्त परिधान का रूप बना हुआ था। चन्दन के अनुलेप से उपलिप्त उनके वक्षःस्थल पर वासन्ती-दाम सुशोभित हो रहा था, भुजमूलों में नवपुष्प का मनोहर वलय बड़ी सुकुमार भंगी से सजा हुआ था और सँवारे हुए पूर्णित केशों के पिछले भाग में दुर्लभ जाती-कुसुमों का गुच्छ बड़ा ही अभिराम दिखाई दे रहा था। पान खाने में उसने बड़ी निर्दयता का परिचय दिया था, न मुँह पर ही उसने दया दिखाई थी और न ताम्बूल-पत्रों पर ही। परन्तु पान के हरे पत्ते मिल कर भी उसका वास्तोष नहीं कर सके थे। वह मुँह को ऊपर उठा कर अधरोष्ठ को

---

१ बा० भा० क० पृ० ८६।

२. बा० भा० क०, पृ० ६६–६७।

रही है। यह पहला अन्याय नहीं था, अन्तिम भी नहीं था। यह दुर्बल सम्पत्ति का चित्र-चरित रूप था। इसके लिए न्याय की भावना को व्यर्थ बतलाया जा रहा था। धर्म की रक्षा के लिए अपने को मिटा देने की भावना और संकल्प की आवश्यकता थी। अतएव अनुनय-विनय एवं शास्त्र-वाक्यों की संगति लगाने की बात को धर्म-रक्षा में व्यर्थ बतलाया जा रहा था। लोग मान-मर्यादा की ओर से उदासीन हो बैठे थे। वे राजाओं, राजपुत्रों और देवपुत्रों की आशा पर निश्चेष्ट बने हुए थे। प्रजा में मृत्यु का भय छा गया था, जो एक अशुभ लक्षण था।

वे लोग भूल गये थे कि धर्म के लिए प्राणों की भी आवश्यकता हो सकती है। धर्म के लिए प्राण देना किसी जाति का पेशा नहीं है। वह मनुष्य-मात्र का उत्तम लक्ष्य है। लोगों को न्याय की चिन्ता नहीं रही थी। वे उसे किसी भी स्थान से बलपूर्वक लोप लाने के लिए सन्नद्ध नहीं थे। वे भूल गये थे कि न्याय पाना मनुष्य का जन्म-सिद्ध अधिकार है और उसे न पाना अधर्म है।

राजाओं महाराजाओं और सामन्तों को स्वार्थ अपना गुलाम बना रहा था। प्रजा भीरु और कायर होती जा रही थी विद्वान् और शीलवान् नागरिकों की बुद्धि कुण्ठित हो रही थी। वर्णाचरण में व्याघात उपस्थित होने का प्रमुख कारण यह था कि राजा अन्धा था प्रजा अन्धी थी और विद्वान् अन्धे थे। ब्राह्मणों और क्षत्रियों के बीच की एकता बिन्दु बन ही गई थी और समाज ने राजपुत्रों की वेतन-भोगी सेना को रक्षा का साधन मान रखा था।[1] इस समय प्रजा में असन्तोष छा रहा था।[2]

नगरों में विलास रसिकों की संख्या बढ़ती जा रही थी। उनका सन्तानुरोध न कर सकने से ऐसे लोग अनेक स्त्रियों के विषय में अपवाद फैला देते थे। बौद्ध धर्म और सनातन धर्म में बड़े कूट शास्त्रार्थों का प्रयोग किया जाता था। इन धर्मों ने मानों मनुष्य की चिन्ता छोड़ दी थी। धर्म-गुरुओं को अपने-अपने मत का विजय पीटना ही अभिप्रेत था। एक धर्म के साथ राजा था और दूसरे के साथ प्रजा थी। थोड़े-से पण्डित-मानी व्यक्तियों की ईर्ष्याग्नि में, प्रजा ही नहीं, राजा भी जल रहा था और समूचा आर्यावर्त उस ज्वाला के तट पर खड़ा था।

आर्यावर्त के समाज में अनेक स्तर हो गये थे। प्रबल प्रतापी गुप्त नरपतियों ने इस मिथ्या समाज-भेद के साथ उदात्त भावनाओं का समन्वय करना चाहा था। यह चलती थी। देश में आभीरों ने प्रभूत शक्ति संचित कर ली थी। उनमें किसी स्तर भेद के लिए अवकाश नहीं दिया गया था।

सामन्त लोग अपनी-अपनी शक्ति के बढ़ाने के उपायों में संलग्न थे। भारतवर्ष

---

१ बाणभट्ट की आत्मकथा, पृ० २५६-५८।

२ वही पृ० २८१

के समाज में सहस्रों जाति-भेद दृष्टिगोचर हो रहे थे। जो ऊँचे थे वे बहुत ऊँचे थे और जो नीचे थे उनकी निचाई का भी कोई आरपार नहीं था। उनकी स्त्रियों में रानी से लेकर परिचारिका तक के और गणिका से लेकर वारविलासिनी तक के सैकड़ों भेद नहीं थे। वे सब रानी भी सब परिचारिका थीं। उस समय भी निकृष्ट सामाजिक जटिलता के हटाने की आवश्यकता की प्रतीति हो रही थी।

निम्न वर्ग के लोगों की दृष्टि में ब्राह्मण अब भी देवता थे। बुद्ध महिला के ये वाक्य इस तथ्य को प्रमाणित करते हैं—

'तुम ब्राह्मण हो आर्य, पृथ्वी के देवता हो आर्य, तुम्हारे आशीर्वाद से मेरा कल्याण होगा। १

फिर भी ब्राह्मण की कलई खुल चुकी थी। उसे बकपोल मिथ्याचारी, दंभी, पाखण्डी प्रपञ्ची आदि अनेक विशेषण भी प्राप्त हो चुके थे।२

इस समय वेश्या नारी-कलक थी। समाज में उसकी कला की तो प्रशंसा होती थी किन्तु वह स्वयं सम्मानित नहीं होती थी। उसका आवास बहुत सुन्दर होता था। गीत संगीत नृत्य के अतिरिक्त वह चित्रकला में भी प्रवीण होती थी। वह नाटकों में अभिनय भी करती थी। कुछ वेश्याओं को राज्य-प्रश्रय भी मिलता था और उत्सवों के अवसर पर वह प्रासादों की शोभा बढ़ाती थी।

बुद्ध प्राय धर्मगुरु के रूप में ही प्रसिद्ध थे। धर्मगुरुओं का उस समय बड़ा ही आदर होता था। भारत में गुरु का आदर बहुत पुराने समय से होता आ रहा था। रहस्यात्मक साधनाओं के विकास ने गुरु के महत्त्व को और भी बढ़ा दिया था।

उस समय दो प्रकार के काव्यों की परम्परा थी—देव-काव्य और नर-काव्य। नर काव्य भी दो प्रकार का माना जाता था—मृत व्यक्तियों से सम्बन्धित तथा जीवित व्यक्तियों से संबंधित। जीवित व्यक्तियों से संबंधित काव्य को प्रशस्त समझा जाता था।

कवियों की वेश-भूषा तथा रुचि कुछ और ही होती थी। वायक और वाण के वर्णन से उसका पता चल सकता है। "वायक बहुत जीवन्त परिहास का रूप बना हुआ था। चन्दन के म पराग से उपलिप्त उसके वक्ष-स्थल पर मालती-दाम सुशोभित हो रहा था भुजमूलों में बहुना का मनोहर वलय बड़ी सुकुमार भंगी से सजा हुआ था और सँवारे हुए कुंचित केशों के पिछले भाग में दुर्लभ जाती-कुसुमों का गुच्छ बड़ा ही मनोरम दिखाई दे रहा था। पान खाने में उसने बड़ी निर्दयता का परिचय दिया था, न मुँह पर ही उसने दया दिखाई थी और न ताम्बूल-पत्रों पर ही परन्तु पान के इतने पत्ते मिल कर भी उसका आक्रोश नहीं कर सके थे। वह मुँह को ऊपर उठा कर प्रपरीष्ठ को

१ बा० आ० क० पृ० ८६।

२. बा० आ० क० पृ० ९९–९०।

आकाश के समानान्तर करके बोल रहा था परन्तु फिर भी निर्बाध अनर्गल कवित्व-धारा इस प्रकार बरस रही थी मानों कोई सर्व्व-मुख धारायन्त्र (फव्वारा) हो।' १ 'भावक का वही मस्त चोला वही सदा प्रफुल्ल मुख, वही फड़फड़ाना मनवेली छवि। ×× भावक ने बाहुमूल कण्ठदेश और चूड़ा में चमकर मालती दाम का व्यवहार किया है। कन्धे रिक्त दूषित उत्तरीय के साथ जाती-कुसुमों के मिलित आभाव से भावक ने अपने हर्ष-गिर्द एक अद्भुत सुशोभित वातावरण तैयार कर लिया था।''२ बाणभट्ट की वेश-भूषा३ से भी कवियों के वेश का संकेत मिल सकता है। कवियों का वेश आज भी निराला ही है।

ऐसा प्रतीत होता है कि समाज में वेश-भूषाओं के भी वर्ग थे। वारनारियों या वेश्याओं की वेश-भूषा किसी भी कुल-नारी से भिन्न होती थी। उसी प्रकार आभीर नारी की वेश-भूषा राज-वधू की वेश-भूषा से भिन्न होती थी। बौद्धों का वेश अघोर पंथियों के वेश से भिन्न होता था। उसी प्रकार वैष्णव कुलों की वेश-भूषा भी अन्य धर्म-कुलों से भिन्न होती थी। देवी के पुजारियों का वेश भी अपने आप में प्रमित होता था।

धर्म-भेद से खान-पान भी भिन्न होता था किन्तु दूध की बनी हुई मिठाइयाँ सामान्य थीं। इस कृति में भोजनादि का वर्णन बहुत कम किया है। धर्मानुष्ठानों और उत्सवों के समय मदिरा-पान का उल्लेख आया है। कौलाचार और वामाचार में मदिरा धर्म-प्रतिष्ठित थी। उत्सवों के समय स्त्रियाँ भी मदिरा पीती थीं। मदिरा पीने वाली स्त्रियों में परिचारिकाओं का ही उल्लेख किया गया है।

नाच-गानों के आयोजन बड़े सामान्य थे। सामाजिक एवं धार्मिक उत्सवों पर गीत संगीत और नृत्य के आयोजनों से उनके माधुर्य की वृद्धि की जाती थी। राज-परिवारों में ऐसे आयोजन दैनिक चर्या में सम्मिलित थे। वेश्यावासों में भी ऐसे आयोजनों का प्रबन्ध होता था। उत्सवों पर भी दो प्रकार के आयोजन होते थे—सामान्य और विशेष। सामान्य आयोजनों के प्रबन्ध में सामान्य लोगों का हाथ होता था तथा विशेष आयोजन राजा के आदेश तथा प्रबन्ध से होते थे।

लोक-गीतों की भाषा संस्कृत नहीं अपभ्रंश ही होती थी। अभी तक गीतों की पद्य पद्धति भली-भाँति विकसित नहीं हुई थी। फिर भी टेक की परम्परा गीतों में विकसित हो चली थी। इन गीतों को अनेक रागों में गाया जाता था। चर्चरी आदि अनेक राग विकसित होगये थे।

---

१ बा० आ० क०, पृ० २५६।

२. वही, पृ० १४७।

३ बा० आ० क० पृ० १४—"सुक्त व मराय धारण किया सुक्त पुष्पों की माला धारण की आकुल सुक्त पीत उत्तरीय धारण किया यही मेरा प्रिय वेश था।

आयुर्वेद और ज्योतिष में जनता की रुचि ने अधिक प्रवेश पा लिया था। ज्योतिषी भविष्य को प्रकाशित करते थे भाग्य की अन्धी कोठरी का परिचय देते थे। उस समय सिद्धान्तों में जिन यावनी सिद्धान्तों की पैठ मिल गई थी उससे सत्कालीन ज्योतिष विद्या का स्वरूप कुछ का कुछ हो गया था। कर्म-फल और पुनर्जन्म सिद्धान्त का संबंध इस यावनी विद्या से बिल्कुल नहीं था, किन्तु उसके प्रभाव से भारतीय ग्रह-देवताओं ने वर्ण स्वभाव और लिङ्ग तक में अद्भुत विरोध स्वीकार कर लिया था। बाणभट्ट की इस उक्ति से इस परिवर्तन पर कुछ प्रकाश पड़ सकता है।

'इधर हाल ही में यवन लोगों ने जिस होराशास्त्र और प्रश्नशास्त्र नामक ज्योतिष विद्या का प्रचार इस देश में किया है, वह यावनी पुराण-गाथा के आधार पर रचा हुआ एक अटकलपच्चू विधान है। भारतीय विद्या ने जिस कर्म-फल और पुनर्जन्म का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है, उसके साथ इसका कोई मेल ही नहीं है। यहाँ तक कि हमारे पुराण-प्रथित ग्रह-देवताओं की जाति स्वभाव और लिंग तक में अद्भुत विरोध स्वीकार कर लिये गये हैं। हमारे पुराण-प्रसिद्ध शुक्र और चन्द्रमा इस ज्योतिष में स्त्री-ग्रह मान लिये गये हैं क्योंकि यवन-गाथाओं की वीनस और डिएना देवियाँ हैं और वे ही इन ग्रहों की अधिष्ठात्री देवी मान ली गई हैं। ग्रह-मैत्री का तो अद्भुत विधान है। आर्य-पुराण ग्रन्थों से इस मैत्री-बन्ध का कोई समर्थन नहीं होता। इस विद्या ने देश के अधिकांश जन-समूह को खूब प्रभावित किया है और धीरे-धीरे यह विद्या कुसंस्कार के रूप में राजाओं और पंडितों में फैलती जाती है। उससे आश्चर्य तो यह है कि भगवान् बुद्ध के प्रवर्तित सौगत-मार्ग में भी इसका प्राधान्य स्थापित हो गया है।"[1]

इससे स्पष्ट है कि यावनी ज्योतिष शास्त्र को पहले-पहल अधिकारियों ने अपनाया फिर कुसंस्कार रूप यह विद्या राजाओं और पंडितों में भी फैलने का उपक्रम कर रही थी। वैदिकों ने इसे अपनाया यही आश्चर्य की बात नहीं थी वरन् सौगत लोग भी इसे अपना रहे थे। ज्योतिष के योग से सामान्यजनों का मन ऐसी आशंकाओं से पीड़ित हो सकता था— 'ऊपर वृश्चिक राशि पश्चिमाकाश में उगने जा रही थी। उसके पार्श्व में मंगल-ग्रह की लाल तारिका दिखाई दे रही थी। वृश्चिक की पीठ पर मंगल-ग्रह एक विचित्र भय का भाव पैदा कर रहा था, कैसा विचित्र योग है? तो क्या संहिताओं में जो कहा है कि वृश्चिक राशि पर मंगल के संक्रमण से धरित्री रक्तवर्षण से पिच्छिल हो उठेगी वह सत्य है?"[2]

आयुर्वेद भी जनता में बहुत लोकप्रिय बन गया था। आयुर्वेद के घरेलू इलाज बहुत लोकप्रिय हो गये थे। सामान्य व्यक्ति भी कुछ उपचार कर सकता था। बाण का निपुणिका से सम्बन्धित उपचार इसी प्रकार का था।—

---

१ हा० भा० क० पृ० १५८–५९।

२ वही पृ० १००।

"बहिनी ने चतुरतापूर्वक मेरा ध्यान दूसरी ओर खींचा। मुझे वह औषध याद आई जिसे अपराजिता पुष्प के रस में मिलाकर निपुणिका को देने के लिए अवधूतपाद ने दिया था।"[१]

जल एवं स्थल दोनों पर यात्राएं होती थीं। जल-यात्रा का एक मात्र साधन नौका थी (सागरों में पोतों से भी यात्राएं होती थीं)। स्थल पर आवागमन के अनेक साधन थे। हाथी घोड़े शिविका पालकी आदि के उल्लेखों से यह न समझ लिया जाये कि रथादि का अभाव था। रथ-यात्रा का उल्लेख रथ के अस्तित्व को प्रमाणित करता है। संभवतः रथों में घोड़ों के स्थान पर बैलों का प्रयोग कभी इसी समय के आसपास हुआ हो। जब यात्रियों और दुर्बलों के पोषण के कारण देश में बैलों की संख्या बढ़ी होगी तभी कभी उनका प्रयोग गाड़ी में भी किया गया होगा। वैसे बैल सवारी और खेत के काम में पहले से ही आता था।

लेखक ने नारी-समाज में जागृति दिखलाने का प्रयत्न किया है। अत्याचारों के विरुद्ध आवाज बुलन्द करने और देश की रक्षा में अपना योग देने के लिए महामाया आदि नारियों ने जो प्रयत्न दिखलाये हैं-वे-संभवतः (कहा नहीं जा सकता) लेखक की कल्पना से प्रसूत हैं। नारी के अवसादपन से क्षुब्ध और उसकी दुर्दशा से विकल होकर सुधा रखाकी दृष्टिकोण सतर्क हो उठा प्रतीत होता है।

नारी की दशा उस समय भी बहुत अच्छी नहीं थी। धर्म की आड़ में अवधूत के तक अपनी नवयुवती पत्नियों का छोड़कर न जाने किन-किन देश-देशों में भ्रान्त फिरते थे यह बात सुचरिता के चरित्र से स्पष्ट हो सकती है। कभी-कभी स्त्रियों को जीविका की खोज में घर छोड़ना पड़ता था। अवश्य ही मनुष्य के सामाजिक संबंधों का यह में कहीं बहुत बड़ा दोष था। अनेक दुखिया परित्यक्ताओं को काममार्ग या भक्तिमार्ग के सिवा और कहाँ शरण थी? निपुणिका और सुचरिता की स्थिति कुछ ऐसी ही थी। वे धर्म के प्रभाव में अपने मन को धोखा देती थीं।

समाज में सामान्य और विशेष शिष्टाचार की कुछ प्रणालियाँ थीं जिनका अनुपालन उचित समय पर आवश्यक होता था। राजा अपनी सभा में विद्वान् का आदर करता था। अन्य वर्गों के लोग ब्राह्मण को प्रणति-दान करते थे। धर्म-गुरुओं के समीप जाने वाले लोग भी विशेष शिष्टाचार का पालन करते थे। कंचुकी आदि वृद्धों को अभिवादन करने की एक सामान्य प्रथा थी। राजप्रासादों में परिचारक-वर्ग में भी अनेक श्रेणियाँ होती थीं और उनमें शिष्टाचार की विशेष पद्धति का निर्वाह होता था। मंदिरों देवस्थानों आश्रमों आदि में विशेष शिष्टाचार का अनुपालन किया जाता था। फिर भी उच्छृङ्खलता का अभाव तो तब भी नहीं था। उस समय के युवक समाज को भी किसी अपरिचित वृद्ध या आवन्तुक की मजाक बना देना आए दिन का खेल था। कुछ धर्म-

१ बा० भा० क० पृ० २६०।

हाँडियों से तो युवक-लोग छुरकर मजाक करते थे। चण्डी-मंडप के पुजारी के साथ घटी हुई घटनाओं में कुछ तो युवकों द्वारा भी घटाई गई थीं।

समाज में सम्बोधन करने की जैसी शिष्ट-परम्पराएँ आज हैं वैसी ही तब थीं, आज केवल शब्द बदल गये हैं। हमा अम्ब, महादेवि भट्ट भट्टे, आर्ये, देवि, सुभे, आयुष्मान् वत्स, भदन्त अम्ब माता, आर्य वत्से देवी, आचार्यपाद, भट्टारक, महाराज आदि नामों से संबोधन की परम्परा सांस्कृतिक इतिहास की एक कड़ी है। शास्त्रों में इन संबोधनों की विस्तृत मीमांसा की गई है।

बाणभट्ट की आत्मकथा हमारी प्राचीन शिक्षा-पद्धति की भी एक हल्की-सी झाँकी दे देती है। विद्यार्थी लोग कैसे पढ़ते थे और उनकी क्या मर्यादाएँ थीं बौद्ध विहार का वर्णन इनको सहसा हमारे सामने ले आता है। आचार्य-लोग विषय को समझाने के लिए कितना श्रम करते थे और कैसे-कैसे दृष्टान्त देकर उन्हें विषय समझाते थे, इस बात पर कथाकार ने थोड़ा-सा प्रकाश तो डाला ही है। छात्र लोग आसनों पर बैठते थे। कुछ स्थलों पर स्थंडिलों का उल्लेख भी आया है किन्तु आश्रमों या विहारों में नहीं।

सूचना देने या पत्र भेजने के साधन बड़े-विचित्र थे। हरकारे पत्र लाते-ले जाते थे। पत्र को वस्त्र की सुन्दर प्रतोलिका में भेजा जाता था। उस पर भेजने वाले की मुद्रा लगाई जाती थी। पत्रिकाएँ जिस प्रकार लपेटी जाती थीं या व्यवस्थित की जाती थीं उससे भेजने वाले के अभिप्राय की सूचना मिल सकती थी। निम्नलिखित उद्धरण से यह बात प्रकट हो सकती है— 'तीन पत्र एक क्षौम वस्त्र की सुन्दर प्रतोलिका में लिपटे हुए थे। मैंने सावधानी से प्रतोलिका को खोला। भीतर कर्पूर काष्ठ की मनोहर पट्टी थी जिसके चारों ओर लाक्षा-रस से कल्पवल्ली अङ्कित की गई थी। मध्य भाग में महाराजा पिशाच श्री हर्षदेव की मुद्रा थी। मैं आश्चर्य और औत्सुक्य से अभिभूत हो गया। पट्टी के नीचे भूर्जपत्र की पंचपत्री (पाँच तहों में लपेटी हुई) पत्रिका थी। पाँच तह देख कर ही मैं समझ गया कि पत्रिका मित्रता स्थापित करने के उद्देश्य से लिखी गई है।'[1] + + +। 'चार मोड़ का पत्र तो अधीनस्थ सामन्त का पद-गौरव बढ़ाने के लिए लिखा जाता है।[2]

इस समय प्रचार के साधन भी इतने सरल नहीं थे। शपथ और सौगन्ध के बल पर प्रचार-कार्य सम्पन्न कराया जाता था। किसी एक स्थान पर या कुछ स्थानों पर पत्र भेज दिये जाते थे और उनके प्रचार के लिए सौगन्ध से पत्र लिखवाये जाते थे। उदाहरण के लिए इस पत्र को देखिये—

'स्वस्ति। पुष्पपुर से सामवेद की कौथुमीशाखा का अध्यायी जैमिनी गोत्रोत्पन्न काण्वकुल्य भवु शर्मा ब्राह्मणों और श्रमणों के नाम पर, देवमन्दिरों और विहारों के

---

१ बा० आ० क० पृ० २४२।

२ वही पृ० २४२।

नाम पर, स्त्रियों और बालकों के नाम पर समस्त आर्यावर्त के निवासियों को आवेदित करता है। १

+ + + + । 'अपरंच मैं अशीति पर वृद्ध हूँ। मैं सामाध्यायी अग्नयुक्त ब्राह्मण हूँ। मैं मौखरियों का गुरु हूँ—मैं अपनी ही शपथ देकर निवेदन करता हूँ कि जो कोई इस पत्र को पढ़े, वह इसकी दस प्रतियाँ लिखकर अन्य लोगों को दे दे। यह क्रिया तब तक चलती रहे जब तक देवपुत्र की प्राणाधिका कन्या का पता न लग जाय। इति शुभमस्तु।'

उस समय की बन्दीशालाओं का उल्लेख भी आया है। उनकी दशा भी कुछ दिन पहले की जेलों की सी थी। वह पत्थरों का भवन होता था जिसकी ऊँचाई अधिक नहीं होती थी। उसकी छोटी-छोटी गुहा जैसी कोठरियों में बन्दियों को रखा जाता था। नीचे लिखे वर्णन से बन्दीगृह के चित्र की मानसिक अवतारणा कीजिये—

"बन्दीशाला पत्थरों का बना हुआ एक सुदृढ़ भवन था, ऊँचाई इतनी कम थी कि कठिनाई से कोई उसके भीतर खड़ा हो सकता था। सारा भवन एक विराट् जिन की भाँति लग रहा था। द्वार पर विशाल अश्वत्थ-वृक्ष उसकी भयंकरता को और भी बढ़ा रहा था। प्रहरियों ने एक बार मेरा नाम पूछा और द्वार खोल दिया। भीतर घुसने पर मैं एक बड़े आँगन में उपस्थित हुआ। इस आँगन के चारों ओर छोटी गुहाकृति कोठरियाँ थीं। मुझे उन्हीं में से एक के द्वार पर ले जाया गया। उसमें हवा या प्रकाश आने का कोई मार्ग नहीं था। द्वार खुलने पर चन्द्रमा की ज्योत्स्ना से वह छोटा-सा घर उद्भासित हो गया। कुट्टिम भूमि पत्थर से पटी हुई थी, परन्तु एक प्रकार की दुर्गन्ध से सारा कक्ष असह्य-सा लग रहा था। उसी में सुचरिता निवात-निष्कम्प दीपशिखा की भाँति पद्मासन बाँधकर बैठी हुई थी। + + + उसके हाथ और पैर लौह-शृंखला से बँधे थे।'२

जिस मायधर्म की नींव बड़ी गहरी डाली गई थी इस समय तक उसमें भी विघटन पैदा हो गया था। इसका एक कारण तो यही था कि बाह्य तत्त्वों ने इसकी मौलिकता को नष्ट कर दिया था, चाहे वह थोड़े ही अंश तक क्यों न हुई हो। दूसरा कारण था वैदिक-धर्म में से निकले हुए इतर धर्मों का उदय जो इस समय स्वयं विकारग्रस्त होकर अपनी प्राण-रक्षा के लिए भटक रहे थे। वैसे तो इस समय जैन-धर्म भी था किन्तु लेखक ने उसका कहीं उल्लेख नहीं किया। लेखक ने उसको भुला दिया है ऐसा तो नहीं लगता किन्तु उसकी विकृतियों में उसने किसी भयंकरता का साक्षात्कार न किया हो यह संभव है।

पाठक के सामने बाणभट्ट की आत्मकथा में वास्तव में दो ही धर्म आते हैं—सनातन-धर्म और बौद्ध-धर्म। इन दोनों की शाखा-प्रशाखाएँ इनकी मौलिकता को नष्ट

१ बा आ क., पृ १९७-१९९।
२ वही पृ २९३।

करने के लिए पर्याप्त थी। महात्मा बुद्ध ने जिस धर्म को सत्य और अहिंसा के ऊपर खड़ा किया था उसमें इस समय हिंसा वेष से बढ़ रही थी। अनेक मत-मतान्तरों के धर्मों को तर्क-वितर्कों की कंटीली बाड़ में घसीटा जा रहा था। सनातन धर्म भी बौद्धों की विकृतियों के योग से शक्ति, शिव और विष्णु के अवतारों का सहारा लेकर अनेक रूप-कुरूपों में प्रकट हो रहा था। कौलाचार, वामाचार या शाक्ताचार आदि में धर्मों की सम्मिलित विकृतियों को न देखना आलोचक या शोधक के वश की बात नहीं है। डा० हजारीप्रसाद जी ने धर्मों को बड़ी गहराई में पुसकर उनको उचित शिष्टाचार की दृष्टि से देखा है, किन्तु ऐसी बात नहीं है कि ऐसे धार्मिक विगलन से वे व्याकुल नहीं हुए।

'धारमकथा' में सभी ललित कलाओं का परिचय मिलता है। इसके अनुसार वास्तु कला मूर्तिकला चित्रकला, संगीतकला और साहित्यकला के साथ-साथ नृत्यकला और नाट्यकला का काफी विकास हो चुका था। अनेक उत्सवों के अवसर पर इनमें से कुछ कलाओं का प्रदर्शन किया जाता था। उनमें से 'महलोत्सव' प्रधान उत्सव था। जिस प्रकार साहित्य की अनेक शैलियाँ और रूप प्रचलित थे उसी प्रकार संगीत और नृत्य के भी अनेक प्रकार प्रचलित थे। ऐसे अवसरों पर अनेक प्रतियोगिताएँ होती थीं। नाना दिग्देश से समागत कवि कलाकार और गणिकाएँ नृत्य-गीत की प्रतियोगिता में उतरती थीं। धारमकथा के अनुसार काव्य-क्षेत्र में काव्य समस्याओं की पूर्ति का रिवाज भी था। नानाविधि काव्य-समस्याएँ जानती काव्य क्रिया पुस्तक-वाचन, दुर्वाचक योग अक्षर-मुष्टिक, पद्म विन्दुमती आदि कलाओं से समस्त नागरिकों का मनोविनोद होता था।

इन आयोजनों के लिए प्रेक्षागृहों का निर्माण किया जाता था जहाँ सामान्य जनों के बैठने के लिए स्थान नियत थे। नाटकाभिनयों में नाट्यमण्डलियों का योग ही प्रमुख था। अभिनय अभिनेता राजाश्रित नहीं होते थे, बाणभट्ट की धारमकथा से ऐसी ही ध्वनि निकलती है। नाटक-मण्डलियाँ व्यक्तिगत प्रयास के रूप में ही चलती थीं। कालिदास शूद्रक आदि प्रसिद्ध नाटककारों के नाटकों के अभिनय ही अधिक लोकप्रिय थे। महाराजा हर्षवर्धन भी उस समय के प्रसिद्ध साहित्यकारों में गिने जाते थे। उनकी रत्नावली नामक नाटिका का उस समय भी काफी सम्मान था। स्वयं बाणभट्ट ने उसका अभिनय किया करता था।

प्रेक्षागृह की बनावट का परिचय इस प्रकार दिया गया है—"विराट पटवास आसन्नांशु सौलह खम्भों पर टिका हुआ था। वह क्रमशः मनोहर भूमि को छाए हुए था। सभापति का आसन प्रकृष्ट शतरंजों से सजाया गया था। सभापति की दाहिनी ओर संस्कृत के कवियों के लिए आसन निर्दिष्ट थे और बाईं ओर प्राकृत और अपभ्रंश के कवियों के लिए। सभापति के पीछे करणापियों (अफसरों) के लिए स्थान निर्दिष्ट था और दाहिनी ओर के एक पार्श्व में तिरस्करिणी (परदा) के पीछे सभ्रांत महिलाओं के लिए स्थान बनाया गया था सभापति के सामने और बाम ओर के पार्श्व में समस्त नागरिकों के लिए

स्थान निर्दिष्ट था। रंगभूमि ठीक बीच में थी। उसमें अभ्रक से मिला हुआ पिष्टातक चूर्ण बिछा हुआ था। यह मयूर-नृत्य या पद-नृत्य का आधार था।"[१]

"जो प्रथा है वह इस चित्र में नहीं दिखाई देती थी क्योंकि ऐसे भित्तिपट्टों के लिए वज्रलेप के लगाने की प्रथा है जो हवा में ठंडा होकर सूखता है। ऐसे पट्ट बांस की नली में लगे हुए ताम्र-तिम्बुरुओं के उन तूली-कूर्चकों के योग्य ही होते हैं जो बछड़ों के कान के रोमोंसे बनते हैं। इस चित्र में स्पष्ट ही ऐसी रोम-तूलिकाएँ व्यवहृत नहीं हुई थी फिर भी भाव-प्रकाश की कैसी मनोहर कला थी। पहले भाग और भाव में अञ्जन रगड़ कर बनाये हुए रंगों से कैसा स्वर्गीय भाव फूट उठा है।"[२]

इससे यह प्रतीति कराई गई है कि तत्कालीन (बाणकालीन) चित्र भित्तिपट्टों पर बनाये जाते थे। रंगों और तूलिकाओं के निर्माण में विलक्षणता दृष्टिगोचर होती है। साथ ही बाणकालीन और बाण-पूर्वकालीन चित्रोपकरणों में विकास भेद भी बतलाया गया है। लेखक ने एक स्थान पर ऐसा आभास दिया है जहाँ भित्तिपट्ट के होने की संभावना नहीं है। वहाँ पाठक को किसी तरह पट्ट की कल्पना अवश्य करनी पड़ेगी। उस कल्पना के लिए यह उद्धरण पर्याप्त है—

प्रमोदवन के पूर्वी सिरे पर अशोक और बकुल वृक्षों के बीच माधवी लता का मण्डप था। उसके चारों ओर कुरवक का बेड़ा दिया हुआ था। उसी एकांत कुञ्ज में + + + उज्जयिनी की प्रधान गणिका एकाग्रचित्त से चित्र बना रही है।"[३]

राजभवनों, मंदिरों देवयाहों तथा सामान्य गृहों के वर्णनों के आधार पर तत्कालीन वस्तु-कला का अनुमान किया जा सकता है। राजभवन के अनेक भाग जैसे रहे हों वैसे हों किन्तु 'बाणभट्ट की आत्मकथा' अपने ऐतिहासिक आवरण में हमें तत्कालीन राजभवन के दर्शन करा देती है। इसी आवरण में वह पाठक को अन्य भवनों और गृहों के सामने खड़ा कर देती है। महलों के प्रासाद सुचरिता और निपुणिका के आवास तथा चण्डी-मण्डप के वर्णनवास्तु-कला का आभास देने के लिए पर्याप्त हैं। इससे अधिक पृष्ठ पाठक को आशा इस कृति से की भी नहीं जा सकती।

'बाणभट्ट की आत्मकथा' में मूर्तिकला के विकास पर भी थोड़ा-सा प्रकाश डाला गया है। भारतीय और यावनी मूर्तिकला में भेद बतलाया गया है। लेखक ने बड़े कौशल से यक्षों कुषाणों और गुप्तों की मूर्ति-कला के अन्तर को प्रकट करके भारतीय संस्कृति के विकास के अध्ययन की प्रेरणा दी है। निम्नलिखित वर्णन में मूर्तिकला का विकास भेद स्पष्ट हो सकता है—

---

१ बा० आ० क० पृ० १२३।

२ वही १२३–२४।

उस समय स्थान-भेद से लोगों के शौक अलग-अलग थे। कान्यकुब्ज के लोग बड़े कलाप्रिय और चित्र-प्रवण थे। वे मयूर और पद्म-नृत्य जैसी कला को उस समय तक जिलाये हुए थे और उनका सम्मान भी करते थे। मगध में मयूर-नृत्य देखने की उतनी चाहत नहीं थी जितनी कान्यकुब्ज में थी। मगध इन बातों को कब का छोड़ चुका था। वास्तव में मयूर-नृत्य लाटदेश का सबसे घटिया भेद है। साथ ही इसमें अपमान है। पैरों को इस ढंग से ताल देते-देते नचाया जाता था कि उससे कुट्टिम-भूमि के अन्दर में पद्म-चित्र बन जाता था। यह कोई बड़ी रस-सिद्धि नहीं थी। नृत्य का प्रधान उद्देश्य वस्तुतः रस है। कान्यकुब्ज के लोग लास्य की अपेक्षा ताण्डव में अधिक रुचि रखते थे। वे मनुष्य के मनोभावों की अपेक्षा उसके करण-कौशल को अधिक महत्त्व देते थे।

बाजीर नृत्य भी समाज में स्थान पा चुका था। देव-देवी पूजा के अवसर पर बाजीर-युवतियाँ नृत्य-गान करती थीं। उनके साथ घोड़े से पुरुष भी थे जो मर्दल मुरज और मुरली बजाते थे। देवी-पूजा इन लोगों में अनिवार्य थी। महानवमी के दिन देवी पूजा का विशेष अवसर होता था।

भक्ति-समारोहों में तथा कीर्तन के समय भी नृत्य होता था किन्तु वह नृत्य मात्रा भेद में होता था। उस नृत्य में कला का बोध अनिवार्य नहीं था अनिवार्य था भाव। इस समय प्रायः कांस्य, कोडी और करताल का प्रयोग किया जाता था। इस समय भक्ति-गीत भी गाये जाते थे। वे भी संगीत की अपेक्षा रखते थे।

मृदंग, मुरज कांस्य, करताल वीणा आदि वाद्य-यन्त्रों के साथ गीत और नृत्य की आयोजना का प्रचलन था। कभी-कभी गीत वाद्य-यन्त्रों के बिना भी सुने-सुनाये जाते थे। वीणा का सम्मान बहुत था। बाणभट्ट के पुत्र ने वीणा को आत्मसंतोषप्रद बतलाकर 'आत्मसंवादकार' ने वीणा को ऐतिहासिक महत्त्व प्रदान किया है। 'चर्चरी' आदि नामों से लेखक ने राग भेद की ओर भी संकेत किया है।

चित्र-कला के संबंध में कई बातें ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक महत्त्व की सामने आती हैं। वस्तु के समय की और उससे पहले की—आठवीं शती की—जो चित्रांकन पद्धति की उलटा क्रम और भेद भी बाणभट्ट की आत्मकथा में प्रकट किया गया है। इस भेद को समझने के लिए यह उद्धरण पर्याप्त होगा—

"आजकल दीवार को चूने से पोत कर महिष-चर्म की चोट कर लेप लगाने की रीति नरपतियों ने अपनी कुल-कीर्ति के आवेश से इस देश में भारतीय और यावनी शिल्प की जो रमा-मधुनी मूर्तियाँ तैयार कराई हैं उन्हें मैं विस्मृत नहीं करता। वे न तो मूर्ति के अर्थ-गुरुत्व की महत्ता में आती हैं न प्रमेय पाटव में। एक तरफ उनमें यावनी प्रतिमाओं की भाँति व मन-प्रमाण की ओर बेतरह ध्यान दिया गया होता है दूसरी तरफ हाथ और पैर की मुद्राओं में वाक्यार्थ की अपेक्षा वाक्यार्थ को प्रधानता दे दी गई होती है। + + + भारतीय विधियों के अनुकरण पर कुशाण नरपतियों ने ऊर्ध्वभुज-चरण

उसवाले पद्मासन ही बैठाए हैं। प्रमाण-पाटलवाली यावनी मूर्तियोंमें ऐसा पद्मासन ऊर्ध्वा-तन्तु के लिये चीनांशुक के समान बेढाप लगते हैं। इस मूर्ति में बुद्ध का मस्तक मुण्डित बनाया गया था जब कि शक-नरपतियों की मूर्तियों में वसिष्ठावर्त कुंचित केश कुछ जँचते नहीं दिखते। मूर्तिकार ने ऐसी मूर्ति बनाई थी जिसे देखकर भान होता था कि सचमुच ही बुद्ध बैठे हैं। उनके अर्ध-निमीलित नयन के ऊपर भ्रू-लताएँ चारु-चन्द्र की ऊर्ध्व विलिप्त पयोरेखाओं की वक्रिमता लिये हुए थीं बल्कि इस प्रकार आई हुई थी कि वे नासा-वंश के अग्र का काम दे रही थी। हाथ की अंगुलियाँ स्वाभाविक थी। पुष्पों की मूर्ति कलाके साथ उनका कोई दूर का संबंध भी नहीं था। समाधि और निद्रा में एक भेद होता है। अधिकांश कुषाण-मूर्तियाँ उस भेद को समझा भी नहीं होने देतीं पर यह मूर्ति ऐसा बोध लिये हुए थी कि उसके रोम-रोम से जागरूकता प्रकट हो रही थी।"[1]

उस समय बुद्ध वराह, विष्णु, गोपाल वासुदेव की मूर्तियों के अतिरिक्त शंकर, भैरव और देवी की मूर्तियों का अधिक विकास था। गोपाल वासुदेव की त्रिभंगी मूर्ति ने जो शृंगार रस की व्यंजक थी नया प्रचलन प्राप्त किया था।

साहित्य का काव्य को इस रचना में बहुत ऊँचा स्थान दिया है। कविता को मनुष्य की बहुत बड़ी उपलब्धि बतलाया है। कविता ही इस सत्य का प्रचार कर सकती है कि 'नरलोक से किन्नर-लोक तक एकही रसात्मक हृदय व्याप्त है।' इस सत्य के विचार से मनुष्य की दुर्मद वासनाएँ अनियंत्रित कामनाएँ अविचारित धारणाएं कुछ कम भीषण हो सकती हैं। काव्य से मनुष्य की वयाहीन विवेकहीन और धर्महीन वृत्तियाँ उचित कार्य में नियोजित हो सकती हैं। म्लेच्छ समझे जाने वाले मनुष्यों के चित्त को कोमल और संवेदनशील बनाने की अमोघ शक्ति कविता या साहित्य में होती है। मनुष्य में क्रोध, मोह और द्वेष से जो पशुता बढ़ रही है उसका निवारण कविता ही कर सकती है। कविता अन्तःस्रोता सरिता की सात्विक अभिव्यक्ति है। इस क्रोध-मूर्छा के वातावरण के नीचे निर्मोह वरण्य का देवता स्तब्ध है यह संदेश कवि ही दे सकता है। बल और सौन्दर्य की महिमा के प्रसार में भी कविता का बड़ा भारी योग होता है।

सच्चे कवि के चारित्र्यपूत हृदय में ही सरस्वती का निवास होता है। उसकी शक्ति-शालिनी वाक्स्रोतस्विनी इस वर्ग के कल्मष को धो डालती है। केवल पद्य को ही कविता कहना उचित नहीं है। काव्य-निकष ही गद्य है। छन्द और अलंकार काव्य के प्राण नहीं हैं। प्राण है रस विशुद्ध सात्विक रस।

इस प्रकार बाणभट्ट की आत्मकथा जो इतिहास और कल्पना का सुन्दर समन्वय है, कला के ऐतिहासिक स्वरूप को पाठक के सामने ला खड़ी करती है। ईंट और रोड़ों से भानुमती का कुनबा जोड़ने में लेखक ने बड़ी कुशलता से काम किया है।

यह तो अन्यत्र कहा ही जा चुका है कि लेखक की दृष्टि की विशालता वर्णन

---

१ भा० सा० क० पृ० १३०–१३१।

रहे हैं। वर्णन भी तो उसने अनेक प्रकार के किये हैं। जहाँ उसने उषा, प्रभात मध्याह्न सन्ध्या निशा आदि के मनोहर वर्णन किये हैं, वहाँ वसन्त, ग्रीष्म आदि को भी तो नहीं छोड़ा है। वन पर्वत, नदी सरोवर के रम्य दृश्यों का अवलोकन लेखक की प्रतिभा ने बड़े मनोयोग से किया है। कुछ स्थानों पर हर्षचरित और कादम्बरी की-सी बड़ी गहन छाया मिलती है, किन्तु इन वर्णनों में कुछ अधिक शीतलता मिलती है। लेखक इन वर्णनों में आलोचक बनकर प्रविष्ट हुआ है, कवि बनकर रमा है और वाङ्मय होकर पाठक के साथ निकलता दृष्टिगोचर होता है। वर्णनों की समाप्ति यहीं नहीं हो जाती कवि की रुचि का विहार तो उसके पात्रों स्वभावों आदि में भी उसी तल्लीनता से होता है।

यों तो लेखक ने सभी वर्णन बड़े उन्मादकारी रूप में किये हैं किन्तु नर-नारी और स्थान के वर्णन पाठक को समाज से और भी अधिक सम्पृक्त कर देते हैं। इन वर्णनों में वेशभूषा और समाज की धार्मिक और सामाजिक दशा के जो चित्र उतरे हैं वे समाज-चित्रण से विलग नहीं किये जा सकते। प्रमोदवन वैश्यागृह शिक्षापटल धर्मसभा राज सभा बलीयात्रा बुद्ध आदि के वर्णन तत्कालीन समाज को प्रस्तुत करने में बहुत बड़ा योग देते हैं। चण्डी-मंडप का वर्णन पाठक को तत्कालीन समाज में जिस कमाल के साथ ले जाता है उसकी कल्पना दूसरे वर्णनों में भी की जा सकती है। सच तो यह है कि वर्णन समाज के दर्पण हैं। पाठक समाज उनमें अपना मुख देखकर उचित कार्य कर सकता है। यह ठीक है कि आज राजाओं और सामन्तों का वह युग नहीं है सब कुछ होते हुए भी आज का मनुष्य इतना भ्रान्त नहीं है। आज धन-आचरण का युग है डकैतियों और म मारुयतियों का युग नहीं है किन्तु धार्मिक और सामाजिक रीति-रिवाजों के पीछे छिपी हुई विकृतियाँ आज भी आरवकथा में वर्णित युग से अपना सबध जोड़ रही हैं। चण्डी मडप के पुजारी का आज चाहे इतना उपहास न हो, किन्तु उसका मन न जाने कितनी अज्ञात कुण्ठाओं से आकुल न होगा। ग्रामोत्सवों में आज भी देवी-पूजा के दृश्यों को देखा जा सकता है। भारत के गाँव-गाँव में (गाँव से बाहर) जब चतुष्पथ पर देवी की प्रतिष्ठा ग्रामोत्सवों का स्मरण कराये बिना नहीं रह सकती। क्या आज देवी पर नर बलि चढ़ाने वालों का एकान्ताभाव हो गया है? आज भी पुलिस सूचना दे सकती है कि अमुक व्यक्ति ने अपनी पुत्री का सिर देवी को बलि देने के लिए काट डाला और अमुक व्यक्ति किसी दूसरे बालक को फुसला कर देवी पर चढ़ाने के इरादे से ले गया। ये ग्रेजों के आने से पहले तो ये वैतालिक लीलाएं देश में सामान्य थीं। बलीपर्व के वर्णन को पढ़कर पाठक के रोंगटे खड़े हो जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं है—

'बलीपर्व एक विशाल श्मशान था। चारों ओर नीम के पेड़ में चुने हुए मनुष्य के समान जलते शवों की दुर्गन्ध व्याप्त हो रही थी। सारा श्मशान घाट गिद्धों और स्यारों के पद-चिह्नों से भरा था। हड्डियों और मांस के छिन्न खंडों के ऊपर संध्या का धूसर प्रकाश बड़ा भयावना दिखाई दे रहा था।'

११ प्रेम का स्वरूप

'बाणभट्ट की आत्मकथा' में प्रेम एक समस्या है। यहाँ न तो प्रेम का उद्भव दीख पड़ता है और न विकास, बल्कि आविर्भाव की स्थिति दृष्टिगोचर होती है। ऐसा प्रतीत होता है कि भस्मावृत अग्निकणिका की भाँति प्रेम ने तिरोभाव से आविर्भाव प्राप्त किया है। ऐसा क्यों हुआ, यह प्रश्न है। इसी के साथ जुड़े हुए कुछ और प्रश्न भी दृष्टिगोचर होते हैं और इन्हीं सब प्रश्नों में प्रेम की समस्या निहित है। आत्मकथा प्रेम के चार रूपों से सम्बन्धित है। एक तो यह कि नरलोक से किन्नर-लोक तक एक ही तत्त्वात्मक द्रव्य व्याप्त है, दूसरा यह कि कथा का जिस रूप से प्रारम्भ हुआ है, उसकी स्वाभाविक परिणति गूढ़ और अदृष्ट प्रेम में ही हो सकती है, तीसरा यह कि कथा के स्वाभाविक विकास की दृष्टि से इसमें कोई विरोध या दोष नहीं दीखता, पर बाणभट्ट की लेखनी से सम्भवतः अधिक स्पष्ट और अधिक दृष्ट अभिव्यक्ति की आशा की जा सकती है और चौथा यह कि आत्मकथा में लज्जा, अवहित्था, जड़िमा आदि मानस-विकारों का आधिक्य है। इनका ताल-मेल बाण की प्रकृति और प्रेम-सृष्टि से नहीं बैठता क्योंकि बाण-कथा में अनुभावों, हावों, अवलम्ब आदि शारीरिक विकारों का आधिक्य है।

उक्त विचार बिन्दुओं से स्पष्ट है कि (१) आत्मकथा में जिस प्रेम का निरूपण है वह सकोचमुक्त व्यापक और एक है (२) कथा का लक्ष्य गूढ़ और अदृष्ट प्रेम है और उसके निर्वाह का प्रयत्न प्रारम्भ से अन्त तक दृष्टिगत होता है, (३) बाणभट्ट के इतिहासप्रसिद्ध चरित्र के साथ अदृष्ट प्रेम कुछ अटपटा-सा प्रतीत होता है फिर भी उसके रूप का स्वाभाविक विकास अवरुद्ध या दूषित नहीं हुआ, और (४) आत्मकथा में प्रेम मानसिक विकारों के रूप में ही आविर्भूत हुआ है।

प्रेम का जो स्वरूप आज के उपन्यासों में प्रकटित होते लगा है वह आत्मकथा ने स्वीकार नहीं किया। आज के उपन्यास प्रेम के दृष्ट रूप को ही सामने लाते हैं क्योंकि वर्तमान लोक में अदृष्ट प्रेम की सत्ता पर संदेह किया जाता है। इसमें शक नहीं कि दृष्ट प्रेम में ही प्रेम का उच्चतम आदर्श पाया जा सकता है किन्तु वह आत्मविसर्जन के पीछे निहित रहता है, अतएव जब तक आत्मविसर्जन का द्वार नहीं खुलता अदृष्ट प्रेम की झाँकी नहीं मिल सकती। आत्मकथा में बाणभट्ट के सम्बन्ध में इसी प्रेम की झाँकी दी गयी है। पाठक बाणभट्ट की आत्मा में प्रवेश करके ही नरलोक से किन्नर-लोक तक व्याप्त प्रेम के मधुर रूप को देख सकता है।

प्रेम क्या है? —— ?

प्रेम एक महान् देवता है और मानव-शरीर इसका पवित्र मन्दिर है। बाण के

प्रेम का देवता नारी-शरीर में प्रतिष्ठित है। इसीलिए वह उसे बहुत पवित्र और पुण्य मानता है। जो प्रेम आज उद्वेलित हो गया है जिसके चारों ओर कुत्साएँ और कुंठाएँ आरोपित हो गयी हैं, वह बहुत ऊँची और पावन वस्तु है किन्तु 'अहं' की मादकता से विकृत मानव उसको नहीं देख पाता है। प्रेम मानव को विधाता का सर्वोत्कृष्ट उपहार है। विश्व के बहुत थोड़े लोग इस उपहार को स्वीकार कर पाते हैं क्योंकि यह 'अस्मिता' की आड़ में छिपा हुआ है। विश्व के बड़े-बड़े मनीषियों और कवियों को ही इसका साक्षात्कार हो सका है।

प्रेम मनुष्य की बड़ी जटिल प्रेरणा भी है। साधारणतः इस प्रेरणा का निर्वाह कठिन है किन्तु उसका आधान और निर्वाह संयुक्त रूप में होने पर उस पर कुत्साओं का लेप हो जाता है। बाणभट्ट के सामने सुचरिता का प्रश्न प्रेम का विश्लेषण चाहता है।

सुचरिता बोली— क्यों ऐसा होता है आर्य? क्या पूर्व जन्म का बन्धन है यह या परजन्म का निमित्त है? जिस प्रचण्ड दुर्वार शक्ति के एक-मात्र से सबका आकर्षण सीमित अथवा इस प्रकार विचलित हो जाता है, वह क्या पाप है? उसे राक्षसी शक्ति क्यों समझा जाता है आर्य? मैंने जितने लोगों को यह कहानी सुनाई है उन सबने ही बुद्धिमान की भाँति सिर हिलाकर मुझे पापकारिणी बताया है। दीर्घकाल तक मैं स्वयं अपने इस अकारण आरोपित पाप-भावना की चितानि में जलती रही हूँ। वैराग्य क्या इतनी बड़ी चीज है कि प्रेम के देवता को उसकी जठराग्नि में भस्म करके दीप्त अनुभव करे?"

इस प्रश्न का उत्तर ही प्रेम सम्बन्धी शोधकार्य है। प्रेम सुन्दरता नहीं है सुन्दरता का व्यापार है। सर्वोत्कृष्ट प्रेम ही वास्तविक प्रेम है। तपस्या के भीतर से प्रेम का मौलिक रूप आविर्भूत होता है। सुचरिता को बाण का उत्तर इसी का साक्ष्य देता है— 'कालिदास ने प्रेम के देवता को वैराग्य की जठराग्नि से भस्म नहीं कराया है बल्कि उसे तपस्या के भीतर से सौन्दर्य के द्वारों प्रतिष्ठित कराया है। पार्वती की तपस्या से सच्चे प्रेम के देवता आविर्भूत हुए थे। जो भस्म हुआ वह आहार निद्रा के समान जड़ शरीर का विकार धर्म-मात्र था। वह दुर्वार था परन्तु देवता नहीं था। देवता दुर्वार नहीं होता, देवी।

इससे यह न समझ लेना चाहिये कि प्रेम का शरीर से कोई सम्बन्ध ही नहीं है। शरीर प्रेम की सिद्धि का साधन है। भीतर और बाहर दोनों जगह प्रेम आविर्भूत होता है। हृदय बनाते हैं और शरीर जोड़ते-खिलाते हैं। ब्रज-सुन्दरियों के प्रेम की ऐसी ही व्यवस्था थी। भीतर से बाहर तक वे प्रेम-विलास थीं। निखिलानन्द-सन्दोह मुकुन्द की विरह-व्यथा के प्रति उनका जो आकर्षण हुआ वह भी तो प्रेम ही था अन्यथा ब्रजसुन्दरियों का प्रेम ही काम और काम ही प्रेम क्यों होता? जो पार्वती शिव पर

वमन करती थी, अनिकेतन-वासिनी थी, धूप-वर्षा-आँधी-तूफान में स्थिर खड़ी रहती थी और केवल महादेव ही अपनी विद्युन्मयी दृष्टि से बीच-बीच में झाँक कर जिसकी महा तपस्या की साक्षी बनी रही, क्या उस पार्वती की आसक्ति बाह्य जड़धर्म थी ? कदापि नहीं पार्वती ने तो शिव को अपना सर्वस्व समर्पित किया था, किन्तु शिव ने अपने चित्त विकार के हेतु को दिशाओं के उपान्त भाग में खोया था।

प्रेम की अविभाज्यता

प्रेम एक और अविभाज्य है। उसे केवल घृणा और ईर्ष्या के भाव ही विभाजित करके छोटा कर देते हैं। आत्मकथा में प्रेम की एकता और अविभाज्यता सुरक्षित है। बाणभट्ट का प्रेम निपुणिका और भट्टिनी, दोनों के प्रति है, किन्तु उनके बीच में ईर्ष्या का कहीं नाम तक नहीं है। एक-दूसरी के प्रति आत्मोत्सर्ग के लिए कटिबद्ध है। भट्ट के प्रश्न के उत्तर में निपुणिका के ये शब्द बड़े अर्थगर्भित हैं—"भट्ट तुम नहीं देखते कि वासवदत्ता ने किस प्रकार दो विरोधी दिशाओं में जाने वाले प्रेम को एकसूत्र कर दिया है। कहकर ही नहीं निपुणिका ने तो उसे सिद्ध भी कर दिखाया। जिसे बाण भट्ट अभिनय ही समझता रहा 'वह अभिनय से कहीं अधिक था जिन था। वहाँ वास्तव में निपुणिका ने अपने को ही खोल कर रख दिया। अन्तिम दृश्य में जब रत्नावली (भट्टिनी) का हाथ राजा (बाण) के हाथ में देने लगी तो वह सचमुच विचलित हो गयी। वह सिर से पैर तक सिहर गयी। उसके शरीर की एक-एक शिरा शिथिल हो गई। भरत-वाक्य समाप्त होते-होते वह धरती पर बैठ गयी। नागर जन जब साधुवाद से दिगन्त को ध्वनित करते थे उस समय पर्दे के पीछे निपुणिका के प्राण निकल रहे थे। भट्टिनी ने दौड़कर उसका सिर अपनी गोद में ले लिया और कुररी की भाँति कातर चीत्कार के साथ चिल्ला उठी— 'हाय भट्ट अभागिनी का अभिनय आज समाप्त हो गया। उसने प्रेम की दो दिशाओं को एकसूत्र कर दिया। जिस समय भट्टिनी पछाड़ खाकर निपुणिका के मृत शरीर पर लोट गयी उस समय भट्ट स्तब्ध था। उसके प्रेम की मार्मिकता इसी अवसर पर प्रकट होती है जब कि वह अपने ही शब्दों में कहता है— 'अभिनय करके जिसे पाया था, अभिनय करके ही उसे मैंने खो दिया।" महान् प्रेम का यह ज्वलन्त उदाहरण है।

महान् प्रेम

प्रेम की अभिव्यंजना की नहीं जाती, स्वतः हो जाती है। जहाँ प्रेम का प्रदर्शन होता है वहाँ वर्ग होता है महान् प्रेम नहीं हो सकता। बाणभट्ट की आत्मकथा में प्रेम अभिव्यक्त तो हो जाता है, किन्तु वह मुखर होकर आँखों के सामने नहीं आता। यह कथाकार का कौशल ही नहीं, आर्ष-भी है। दृढ़ और महान् प्रेम में कथा की स्वाभाविक परिणति दिखाकर कथाकार ने न तो वास्तविकता से ही किनारा किया है और न

प्रेम को दुष्कर-प्रवाह में ही बहने दिया है। यहाँ कलुषात्मक संवेगों के बीच सहानुभूति के रागात्मक वातावरण में मर्मवेदना का जो स्पर्श होता है वही तो प्रेम की उषा का पदार्पण होता है। निपुणिका और मोहिनी दोनों के सम्बन्ध में यही वातावरण और प्रेमोदय की यही झलक है। सहानुभूति साहचर्य का योग पाकर उत्कर्ष-भाव की प्रांजल भूमिका पर प्रतिष्ठित हो जाती है। यह ठीक है कि निपुणिका के इन शब्दों में बहुत दुःख है— मेरी ही शपथ करके तुम सत्य-सत्य कहो आर्य, मेरा कौनसा ऐसा पापचरित है जिसके कारण मैं आजीवन दुःख की विवाग्नि नदी में जलती रही, क्या स्त्री होना ही मेरे सारे अनर्थों की जड़ नहीं है ?' किन्तु 'इन शब्दों में कितना मर्मान्तक दुःख है यह मैं ही जानता हूँ।' बाणभट्ट के इन शब्दों में भी सहानुभूति की तीव्रता कम है। यही हृदय से हृदय तक की पहुँच है। इससे अधिक गहन वाचिक अनुभाव और क्या हो सकता है ? आलम्बन का उत्कर्ष दिखाने वाले ये वाचिक अनुभाव तो और भी महत्त्वपूर्ण हैं—"निपुणिका में इतने गुण हैं कि वह समाज और परिवार की पूजा का पात्र हो सकती थी, पर हुई नहीं। इतने दिनों से साथ हूँ, उसके चरित्र में मैंने कोई वस्तु नहीं देखा। वह हँसमुख है, दक्ष है, मोहिनी है, शीलावती है—ये क्या दोष हैं ? × × × निपुणिका में देवभाव इतना अधिक है कि मुझे आश्चर्य होता है। बाणभट्ट के ये शब्द निपुणिका के गुणोत्कर्ष की व्याख्या ही नहीं करते, वरन् हृदय पर पड़े हुए मोहनमंत्र के प्रभाव का आभास भी देते हैं। "उसने मेरी सेवा इतने प्रकार से और इतनी मात्रा में की है कि मैं उसका प्रतिपादन जन्म-जन्मान्तर में भी नहीं कर सकूँगा,' बाण की इस उक्ति में निपुणिका के प्रति न केवल कृतज्ञता की भावना की अभिव्यक्ति है, वरन् अभिभूति में होकर समर्पण का आभास भी है।

निपुणिका के प्रति बाण के प्रेम में स्वार्थ या वासना की कोई गन्ध नहीं है। बाण निपुणिका को प्रेम करता है, देखने वाले देखते हैं और समझने वाले समझते हैं किन्तु उसमें मांसल प्रेम प्रकाशित नहीं होता। प्रेम अपनी पवित्रता को अक्षुण्ण रखता है। इसकी प्रतीति बाण ही के शब्द हैं—"वास्तविकता निपुणिका जैसी सेवा-परायण, शीलावती तरुणी के प्रति जिस पुरुष की श्रद्धा और प्रीति उद्भूत न हो उसे वह जड़ पाषाण-बिम्ब से अधिक मूल्य नहीं रखता।"

जिस प्रकार निपुणिका को बाणभट्ट प्रेम करता है उसी प्रकार निपुणिका भी बाणभट्ट को प्रेम करती है। बाण इसकी सूचना निपुण एवं गूढ़ संकेतों से प्राप्त कर लेता है। बाण के ये शब्द उसके प्रेम को उस निपुणिका को प्रकाशित कर देते हैं—"इतने पहले कभी भी अपना राग मेरी ओर प्रकट नहीं किया था, परन्तु उसकी प्रत्येक भाव भंगी में प्रत्येक सेवा में एक मौन उच्छ्वास बराबर बताया करता कि इस क्रिया-व्यापार की आपाततः गहराई में कोई और वस्तु है। आज भी वह वस्तु वहाँ की वहाँ है। केवल उसके ऊपरी उत्तेजना का फेन हट गया है। आज भी उसके हृदय-मन्दिर के अत्यन्त निभृत

कक्ष में कोई देवता स्तब्ध बैठा है जो निश्चय ही मेरी मौन पूजा से ही सन्तुष्ट रहता है।' इतना ही नहीं बाणभट्ट तो अपने हृदय के निभृत कक्ष को भी खोल कर इस प्रकार दिखला देता है—"मेरे मानस को निपुणिका के दर्शन ने एकदम उत्तरल बनाया ही नहीं ऐसा कहना असत्य होगा। मैंने उसकी मानसी मूर्ति की कितनी आराधना की है, वह मेरा अन्तर्यामी ही जानता है। निपुणिका के प्रति बाणभट्ट का यह आकर्षण यह प्रेम मांसल और स्वार्थमय नहीं कहा जा सकता क्योंकि वह रूप में जो बहुत बढ़ी चढ़ी नहीं थी—'वह बहुत अधिक सुन्दरी नहीं थी।' जिस प्रकार भट्टिनी के प्रति उसी प्रकार बाण का प्रेम निपुणिका के प्रति भी सहानुभूति के गर्भ में उदित हुआ था। जिस प्रकार घृणा, घृणा को पैदा करती है उसी प्रकार प्रेम, प्रेम को पैदा करता है। बाण की सहानुभूति ने निपुणिका के हृदय को जीत लिया था और निपुणिका ने एक निगूढ़ प्रेम के पर्दे में अपनी सेवाएँ—अपना सर्वस्व बाण को सौंप दिया था। बाण के अपने शब्द ही इसके प्रमाण हैं— 'हाय निपुणिका का जीवन दुःख की भट्ठी में जलने कष्ट है। मैं उसकी क्या सेवा कर सका हूँ। आज मेरी ही प्राण-रक्षा के लिए उसने सम्मोहन के प्रति प्रलय की बलिवेदी पर अपने को होम दिया है।" इन शब्दों से स्पष्ट है कि निपुणिका के प्रति बाण की सहानुभूति है, कृतज्ञता का भाव है और आत्मसमर्पण की भावना का आभास भी है। यही निगूढ़ और महान् प्रेम है।

बाणभट्ट और भट्टिनी का प्रेम भी गूढ़ और महान् है। बाण जिसको जानता तक नहीं है उसी के प्रति उसकी उत्सर्ग-तत्परता का अर्थ प्रेम नहीं तो और क्या है? दया और सहानुभूति से आविष्ट बाण का प्रेम भट्टिनी के गुणों की प्रशंसा के मार्ग में बलिदान की किसी सीमा तक पहुँच जाता है। उसी प्रकार भट्टिनी भी बाण की प्रशंसक है। वह भट्ट के प्रति कृतज्ञ है और भट्ट के प्रति उसकी ममता भी है किन्तु उस ममता में कोई दुर्गन्ध नहीं है सुगन्ध अवश्य आती है। भट्टिनी के प्रति बाण का आचरण निपुणिका के इन मार्मिक शब्दों की प्रतिक्रिया है— 'भट्ट वह अशोक-वन की सीता है तुम उसका उद्धार करके अपना जीवन सार्थक करो' और प्रथम प्रतिक्रिया इन शब्दों में प्रकट होती है— 'मैं समझ गया,—प्राण-सेवा या देना जरूरी नहीं है पर लेना या देना पड़ ही जाय तो नुकसान क्या है।' बाण भट्टिनी के प्रति प्रारम्भ से ही श्रद्धावान है। प्रथम दर्शन के समय भट्टिनी के प्रति बाण का श्रद्धाभाव इन शब्दों में उदित होता है— 'इसी महावराह की मूर्ति के नीचे इस अन्तःपुर की नई बहू' और हमारी प्रदीक-वन की सीता' आत्मस्थ बैठी थी।' अहा, यह कैसी अपूर्व पवित्रता है! यहाँ क्या मुनियों की ध्यान-सम्पत्ति ही पुञ्जीभूत होकर वर्तमान है या रावण के स्पर्श-भय से भागी हुई कैलास पर्वत की शोभा ही स्त्री-विग्रह धारण करके विराज रही है या मन्दाकिनी की धारा ने ही यह पवित्र रूप धारण किया है।' इन शब्दों में प्रेम की अभिव्यंजना स्पष्ट है, किन्तु प्रेम की निगूढ़ता भी स्पष्ट है। बाण स्वयं कहता है— 'भट्टिनी के सामने मुझ में एक प्रकार की मोहनकारी गरिमा आ जाती है।' बाणभट्ट के इन निगूढ़ शब्दों

में तो प्रेम और भी निपुण दिखाई पड़ता है— 'फिर भी इधर मेरा चित्त बद्ध होता जा रहा है बुद्धि मुक्त होती जा रही है और मस्तिष्क पोंगा हो रहा है। आखिर वह कौनसा अन्तर्विकार है जो मेरे चित्त को बद्ध बना रहा है और मेरी बुद्धि को मोहग्रस्त बना रहा है। मेरे लिए इसका उत्तर पाना कठिन हो रहा है। आज मैं स्वयं अपनी समस्या हो रहा हूँ।

वास्तव में यह समस्या नहीं है प्रेम की महत्ता और निपुणता है। दोनों हृदय खिंच रहे हैं, बहुत पास आ गये हैं। यह एक निपुण सत्य है जिससे दोनों हृदय परिचित हैं। इससे भी अधिक विचित्र बात तो यह है कि प्रेम केवल बाण या निपुणिका अथवा बाण या भट्टिनी के बीच ही नहीं है वरन् निपुणिका और भट्टिनी में भी उतना ही महत्त और निपुण है। यहाँ भी प्रेम का आविर्भाव सहानुभूति और कृतज्ञता में होता है और दो भावों का एक ही आलंबन होते हुए भी दोनों में किसी ईर्ष्यात्मक विकार का आविर्भाव नहीं होता यह इस प्रेम की विचित्रता है। जिस प्रकार बाण और भट्टिनी के मध्य निपुणिका उनके प्रेम की साक्षिका है उसी प्रकार बाण और निपुणिका के मध्य भट्टिनी उनके प्रेम की साक्षिका है। भट्टिनी के करुण कातर स्वर में निकलते हुए ये शब्द इसका ज्वलन्त प्रमाण हैं— 'निपुणिका ने कुछ अनुचित कहा हो, तो मन में न लाना। वह मुझे अपने प्राणों से भी अधिक प्यार करती है। तुम्हारे ऊपर उसकी जो अपार श्रद्धा है उसका प्रमाण तो मिल ही चुका है।" निपुणिका भी भट्टिनी का कोई अनिष्ट सहन नहीं कर सकती। इसीलिए वह अनुनय के स्वर में भट्ट को समझाती है— 'निपुणियों की बात छोड़ो × × ×, पर भट्टिनी बालिका हैं। उन्हें संसार की कटुता का लेशमात्र भी ज्ञान नहीं है।'

इस प्रेमित्रयी के प्रेम की महत्ता और निपुणता को बाण के ये शब्द अधिक अच्छी तरह प्रकट कर देते हैं— 'भट्टिनी ने निपुणिका को धीरे-धीरे अपनी ओर खींच लिया। वे बड़े प्रेम से उसके ललाट पर हाथ फेरती हुई बोलीं—'ना बहन ऐसा भी कहते हैं। भट्ट हमारे अभिभावक हैं उनको सब करने का अधिकार है। हमारे मंगल के लिए और सारे देश के मंगल के लिए उन्होंने जो कुछ भी किया है वह हमें मान्य होना चाहिये।"

इसके अतिरिक्त बाणभट्ट की आत्मकथा में एक और भी प्रेमित्रयी है जो इतनी प्रशस्त तो नहीं कही जा सकती किन्तु महत्त प्रेम भावना का संकेत अवश्य देती है और वह है सुचरिता तपस्वी तथा बाण से निर्मित प्रेमित्रयी। जिस प्रकार सुचरिता का प्रेम बाणभट्ट के प्रति पावन और श्रद्धामय है उसी प्रकार विरतिवज्र के प्रति भी है किन्तु विरतिवज्र के प्रति उसका प्रेम-सम्बन्ध कहीं अधिक निपुण है। महामाया और अघोर भैरव का गहन सम्बन्ध भी गूढ़ प्रेम की दुहुनी है। एक ओर दोनों की साधना है और दूसरी ओर सहजता है। इसे प्रेम-साधना कहा जाये अथवा साधनात्मक प्रेम। यह एक उलझा हुआ रहस्य है। क्या यह गूढ़ प्रेम नहीं है?

यह है बाणभट्ट की आत्मकथा में निगूढ़ और महत्त्व प्रेम की स्थिति। इसमें प्रेम के अनेक रूप नहीं मिलते, प्रेम का विभाजन नहीं होता। यह ब्रह्म की भाँति एक और अनन्त है। जिस प्रकार अनेक पात्रों में पड़े हुए प्रतिबिम्ब से बिम्ब का एकत्व भ्रष्ट नहीं होता उसी प्रकार अनेक आधारों के होने से मौलिक प्रेम विभाजित नहीं होता। कथा में बाणभट्ट प्रेम का केन्द्र है। वहीं से चारों ओर प्रेम प्रसृत होता दीखता है। उस प्रेम की प्रतिक्रिया निपुणिका, भट्टिनी सुचरिता के प्रेम के रूप में होती है। दोनों पक्ष का प्रेम अहैतुक एवं स्वार्थरहित है। मानवता की पुकार इसी प्रेम के लिए है। इसी को आदर्श प्रेम कहते हैं। कथा के रचयिता ने हिन्दी उपन्यास के इतिहास में प्रेम संबंध में जो क्रांति की है वह अद्वितीय है, उसके आदर्श में मानवता का शाश्वत मधुर स्वर है।

आत्मकथा में आविर्भूत प्रेम की विशेषता उसकी उदात्तता है। वह सहानुभूति से उदित होकर उसीमें तिरोहित हो जाता है। प्रेम की सीमा कोई वर्ग या वर्ण नहीं है। ऐसी बात नहीं है कि प्रेम का प्रसार किसी एक ही स्तर पर होता हो। स्तर उसका प्रतिबन्ध नहीं है। वह तो मानवता जितना उदार है। नर लोक से किन्नर लोक तक एक ही रागात्मक हृदय की झलक दिखायी देती है। यहाँ तो उदारचित्त में वसुधा ही कुटुम्ब बन जाने की योग्यता रखती है।

बाणभट्ट की आत्मकथा का प्रारम्भ प्रेम के आविर्भाव का सूचक है और अन्त तिरोभाव का। इसी को उपसंहार में निगूढ़ और महत्त्व प्रेम की परिस्थिति कहा गया है। साधारणतया प्रेम का झुकना और टूटना देखने में आता है किन्तु यहाँ झुकना और टूटना जैसी कोई चीज दिखायी ही नहीं पड़ती। हाँ यह दिखाई पड़ता है कि लेखक की दृष्टि में भट्ट निपुणिका और भट्टिनी—यही एक प्रेमित्रयी रही है। इसमें प्रेम जिस सहज रूप में आविर्भूत होता है उसी के अनुरूप सहजरूप में तिरोभूत भी हो जाता है। यदि प्रारम्भ के अनुरूप उसकी परिस्थिति न होती तो प्रेम अपनी महत्त्वता को अक्षुण्ण न रख पाता और न वह अपनी उदारता और पावनता को ही सुरक्षित रख पाता। जिस पावन और वासनाहीन प्रेम से कथा का प्रारम्भ होता है उसकी परिणति भी पावन और वासनाहीन प्रेम में ही होती है। यदि प्रेम का आविर्भाव इतना सहज न होता तो उसका तिरोभाव अवश्य ही दुष्कर होता क्योंकि वासना का प्रारम्भ दुःखान्त होता है। यहाँ न दुःख है न सुख है, एक मनःस्थिति का भाव है जिसमें मानवता का आग्रह और पावनता का प्रकाश है और ऐसे कथारम्भ के लिए यही उपयुक्त भी था।—

१२. नारी का महत्त्व

आत्मकथा की अनेक समस्याओं में से नारी की समस्या भी प्रधान है। प्रत्येक युग में नारी की उपेक्षा की। पुरुष ने उसके सही मूल्य को आँकने में सदैव भूल की। विलासियों ने नारी को विलास की सामग्री समझा और विरक्तों ने नारी के शरीर को नरक-कुण्ड बतलाया। इतिहास ने यही कहा है— 'पुरुषों के समस्त वैराग्य के आयोजन, तपस्या के विशाल मठ, मुक्ति साधना के अनुसरणीय आश्रम नारी की एक वेधक दृष्टि में ढह गये हैं। क्या यह दृष्टि सत्यानाशिनी नहीं है?' यह वह दृष्टिकोण है जो सुन्दरियों की सृष्टि को विध्वंसक देखता है।

नारी के दुःख की थाह लेने का प्रयत्न किसी ने नहीं किया। उस दुःख का प्रमाण शायद किसी ने नहीं दिया। 'स्त्री के दुःख इतने गंभीर होते हैं कि उसके शब्द उसका दसवाँश भी नहीं बता सकते। उस मर्म-वेदना का किंचित् आभास सहानुभूति के द्वारा ही पाया जा सकता है। साधारणतः जिन स्त्रियों को चंचल और कुलभ्रष्टा माना जाता है, उनमें एक दैवी शक्ति होती है। यह बात लोग भूल जाते हैं।

इसमें सन्देह नहीं है कि स्त्री में कुछ अपनी विशेषताएँ होती हैं जिनको पुरुष समाज उसकी दुर्बलता बतलाता है। कहा जाता है कि पुरुष नारी की अपेक्षा अधिक सक्रिय होता है। यदि स्त्रियाँ चाहें भी तो शक्तिहीन होकर कहाँ काम कर सकती हैं? कुछ लोग यह समझने की भूल कर सकते हैं कि 'यूरोप की स्त्रियाँ सब कुछ कर सकती हैं। यह गलत बात है। वे भी पराधीन हैं। 'समाज की पराधीनता बहुत कम है पर प्रकृति की पराधीनता तो हटाई नहीं जा सकती।' इसके अतिरिक्त सहजभीरुता भी नारी की एक विशेषता या दुर्बलता मानी जाती है। नारी अपने मर्यादा-ज्ञान को कलंकित हुए बिना नहीं भुला सकती। उसका आचरण संयम की सीमा नहीं तोड़ सकता। सुकुमार भावना नारी का प्रमुख परिचय चिह्न है।

मानव-समाज कितना विडम्बनीय है कि पशु, पक्षियों और वस्तुओं की तरह इसमें नारी का क्रय-विक्रय होता रहा है। प्राचीन भारत में नगरों में निचली श्रेणी के धिर्ते विदूषकों और सम्पन्न के कुछ प्रमुख गृह होते थे जहाँ नारियों की इज्जत बिकती थी। नारी की यह दुर्दशा जो आधुनिक भारत के लिए शायद अपरिचित नहीं रही मेरुक के मर्म को छुए बिना नहीं रहती है। वह उत्कर्षापकर्ष के मिश्र भाव के साथ नारी की व्याख्या इन शब्दों में प्रस्तुत कराता है— 'यह जड़ मांस पिंड न नारी है, न पुरुष। वह निर्वेदतत्त्व ही नारी है। + + +। जहाँ कहीं अपने आपको सतर्क करने की, अपने आपको छला देने की भावना प्रधान है, वहीं नारी है। जहाँ कहीं दुःख-सुख

की साज-साज धाराओं में अपने को दमित आत्मा के समान निचोड़ कर दूसरे को तृप्त करने की भावना प्रबल है वही नारी-तत्त्व है। + + + । नारी निषेधरूपा है। वह आनन्द भोग के लिए नहीं आती, आनन्द लुटाने के लिए आती है। उसका मानस धर्म की उर्वरा भूमि है। इसीलिए धर्म भावना को प्रश्रय और पोषण स्त्रियों से ही अधिक मिलता है।

कितने खेद की बात है कि त्याग और तपस्या की प्रतिमा नारी के प्रति सम्मान तो अलग रहा, सहानुभूति भी नहीं दिखाई गई। उसके शरीर को मिट्टी का ढेला समझ लिया गया। बेशक ने इस दुर्दशा को बड़ी वेदना से देखा और वह नारी के मुख से बोल उठा—"मेरा यह शरीर भार नहीं है, केवल मिट्टी का ढेला नहीं है—वह उससे बड़ा है। विधाता ने जब उसे बनाया था तो उनका उद्देश्य मुझे दण्ड देना नहीं था। उन्होंने मुझे नारी बनाकर मेरा उपकार किया था। फिर वह एक दूसरे स्वर में छटपटा कर बोला— हे स्वर्ग की देवांगना तुमने नरक के इन अभिनेताओं को समझने में गलती की है, लेकिन यह प्रमाद बुरा नहीं है।

नारी-सौन्दर्य संसार की सबसे अधिक प्रभावोत्पादिनी शक्ति है वह पूजा की वस्तु है। इस रहस्य को बाणभट्ट ने समझा है जो स्त्री-शरीर को देव-मंदिर के समान पवित्र मानता है। इसीलिए वह उस पर की गई अनुकूल टीकाओं को सहन नहीं कर सकता। अज्ञात देवता के पावन मंदिर के प्रति वह परम श्रद्धा रखता है। वह उस मंदिर के उचित गौरव की रक्षा के लिए सदैव कटिबद्ध रहता है। लोगों की भावनाओं के डर से उस मंदिर को कीचड़ में बसा हुआ छोड़ जाना उसके बस की बात नहीं है। वह उस पवित्र देव-प्रतिमा नारी-सौन्दर्य का अपमान किसी भी दशा में सहन नहीं कर सकता।

नारी से बढ़कर मनमोहन दृश्य और क्या हो सकता है? नारी की-सी मोहकता कोमलता मधुरता और त्याग भावना और कहाँ है? उसके कोमल कंठ में कैसी अद्भुत शक्ति है? फिर भी उसकी ऐसी दुर्दशा! कितने विस्मय की बात है। सचमुच स्त्रियाँ ही रत्नों को भूषित करती हैं, रत्न स्त्रियों को क्या भूषित करेंगे! स्त्रियाँ तो रत्न के बिना भी मनोहारिणी होती हैं। धर्म कर्म भक्ति, ज्ञान शांति सौमनस्य कुछ भी नारी का संस्पर्श पाये बिना मनोहर नहीं होते। नारी-देह वह स्पर्शमणि है जो प्रत्येक ईंट-पत्थर को सोना बना देती है।

आत्मकथाकार ने नारी को एक अद्भुत शक्ति के रूप में प्रस्तुत किया है। राज्य गठन राज्य-संचालन मठ-स्थापन और निर्जन वास पुरुष की समताहीन मर्यादाहीन शृंखलाहीन महत्त्वाकांक्षा के परिणाम हैं। इनको नियंत्रित कर सकने की शक्ति नारी है। + + + इतिहास साक्षी है कि इस महिमामयी शक्ति की उपेक्षा करने वाले साम्राज्य

नष्ट होगये हैं, मठ विध्वस्त होगये हैं, ज्ञान और वैराग्य के जंजाल फेन-बुद्बुद की भाँति क्षण भर में विलुप्त होगये हैं।

नारी का अपमान कब तक होगा ? क्या वह कभी धन्य नहीं होगा ? यह बड़ा महत्वपूर्ण प्रश्न है कि संसार की सबसे बहुमूल्य वस्तु क्या इसी प्रकार अपमानित होती रहेगी ? इस प्रश्न का उत्तर भी इतना ही महत्वपूर्ण है—हाँ, जब तक राज्य रहेंगे, सैन्य-संगठन रहेंगे, पौरुष-दर्प का प्राचुर्य रहेगा, तब तक यह होता ही रहेगा।

जो लोग नारी का परित्याग करके तपस्या की बात करते हैं वे भूल करते हैं। 'नारीहीन तपस्या संसार की बड़ी भूल है।" पुरुष नारी के बिना शान्ति नहीं पा सकता। नारी-तत्त्व शान्ति की प्रथम आवश्यकता है। नारी-तत्त्व की प्रधानता के अभाव में सिद्ध-नारियों का बल भी देश में शान्ति की स्थापना नहीं कर सकता। अवधूत की साधना इसीलिए अधूरी रही कि उन्हें विशुद्ध-नारी का सहबल नहीं मिला, शक्ति नहीं मिली।

शक्ति स्त्री का ही नाम है। स्त्री में विश्वमोहिनी का वास होता है। निपुणिका के शब्दों में नारी की सार्थकता का कितना सुन्दर संकेत है— 'मैंने प्रथम बार अनुभव किया कि मेरे भीतर एक देवता है जो आराधक के अभाव में पुरुषायित हुआ छिपा बैठा है। मैंने प्रथम बार अनुभव किया कि भगवान् ने नारी बनाकर मुझे धन्य किया है मैं अपनी सार्थकता पहचान गई।" + + 'सारा जीवन मैं इसी विश्वास पर चलती रही हूँ। जप, तप, साधन भजन सबका एक लक्ष्य रहा है—सार्थकता।" संक्षेप में सार्वभौमिक निष्कर्ष केवल यह है कि नारी की सफलता पुरुष को बाँधने में है और सार्थकता उसको मुक्त करने में।

●

१३ साधना तथा नारी

यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो बाणभट्ट की आत्मकथा' एक विचित्र दार्शनिक ग्रन्थ है। इसमें बौद्ध, शैव और शाक्त दर्शन तो है ही समाज-दर्शन भी है जिसमें बौद्ध दर्शन की झाँकियों में नारी-दर्शन भी है। नारी के संबन्ध में लेखक की अपनी विचार धारा है यद्यपि उसका सूक्ष्म आधार शाक्त मत में मिल सकता है। इसी प्रकार सूत और सत्य के सम्बन्ध में भी लेखक ने निजी मत दिया है। कुछ मतों को पुष्ट करने के लिए लेखक के पास महाभारतादि ग्रन्थों के तर्क हैं और कुछ उसकी मौलिक उद्भावनाएँ हैं।

बाणभट्ट की आत्मकथा' का समस्त कथानक हर्षकालीन है। यह वह समय था जबकि बौद्ध धर्म विकसित रूप में था। वैदिक धर्म से टक्कर लेने के लिए यदि कोई धर्म उस समय समर्थ था तो बौद्ध धर्म था। इधर शैव मत में कुछ खामियाँ आ गई थीं और उसके नए सिद्धान्त चेहरे पर लेखक के शब्दों की तरह टँक गये थे। उस समय कौलाचार कुछ नई मान्यताओं में आविर्भूत हो रहा था। शैव मत एक ओर शक्ति की मान्यता की प्रबलता से शाक्त मत को प्रेरित कर रहा था। शक्ति भी अपनी डगमगाती टाँगों से अपनी गति बढ़ाने के लिए जनता का अवलम्ब खोज रही थी। बाणभट्ट की आत्मकथा से यह स्पष्टता बोधित होता है कि उस समय वाराहोपासना का प्रचार विष्णु के चतुर्भुज रूप से अधिक था।

बौद्ध-दर्शनवाद के शून्यवाद ने देश में पर्याप्त ख्याति प्राप्त कर ली थी। असम के बकल में 'शून्यता' को बहुत महत्त्व मिल चुका था और उस महत्त्व की चर्चा चारों ओर होती रहती थी। दर्शन के क्षेत्र के लिए 'शून्य' की प्रतिपत्ति एक समस्या थी क्योंकि जो वस्तु है भी नहीं नहीं भी नहीं है और नहीं दोनों में भी नहीं और इन दोनों का अभाव भी नहीं उसे 'शून्यता' कहा गया। इसका सही बोध 'निरालम्ब' और 'परम-तत्त्व' जैसे शब्द नहीं करा सकते थे।

सौगत पंडितों का एक सम्प्रदाय 'निरालम्ब' शब्द को महत्त्व देने लगा था किन्तु इन निषेधात्मक शब्द से उस वस्तु का बोध नहीं हो सकता था जो 'नहीं भी नहीं'। और परम तत्त्व कहने से 'तत्' वस्तु की सत्ता तो माननी ही पड़ेगी फिर उसे 'है भी नहीं'' कैसे कहा जा सकता है?"[1] वस्तुस्थिति यह है कि शून्यता या निरालम्ब या निर्वाण एक अनुभवगम्य वस्तु है। यह भाषा की कमजोरी है कि वह उस पदार्थ को कह नहीं सकती। वह तो केवल प्रज्ञप्ति के लिए एक काम-चलाऊ शब्द-व्यवहार किया गया है।

---

१ बा० आ० क०, पृ ६२-६३।

एक दूसरी समस्या इस आख्यिका में बुद्ध के पूजा-ग्रहण के संबंध में उठाई गई है। बुद्ध निर्वाण प्राप्त होने के पश्चात् भी पूजा कैसे ग्रहण करते हैं? इसी प्रश्न के दो आधार पूछता है:—प्रथम यह कि बुद्ध पूजा ग्रहण करते हैं। ऐसी अवस्था में लोक के साथ उनका संयोग है, वे भव के ही अन्तर्गत हैं और हम और मनुष्यों की भाँति एक साधारण व्यक्ति हैं। फिर उनकी पूजा निष्फल हो जाती है अन्यथा सिद्ध होती है। दूसरी बात यह हो सकती है कि वे परिनिर्वाण प्राप्त कर गये हैं, लोक के साथ उनका कोई संबंध नहीं है वे भव से मुक्त हैं। ऐसी अवस्था में भी उनकी पूजा निष्फल होगी क्योंकि परिनिर्वाण-प्राप्त व्यक्ति कुछ ग्रहण नहीं कर सकता और ऐसे व्यक्ति के उद्देश्य से निवेदन की हुई पूजा अन्यथा है निष्फल है।

इस समस्या का समाधान अग्नि और इन्धन के दृष्टान्त से किया गया है। 'कोई अतिमहान् अग्नि-राशि जब प्रज्वलित होकर निर्वाण को प्राप्त होती है बुझ जाती है तो तृणकाष्ठ आदि इन्धन-समूह को ग्रहण नहीं करती है, किन्तु वह अग्नि जब उपरत-उपशान्त हो जाती है तो संसार में से अग्नि का होना एक दम नहीं उठ जाता है। क्योंकि इन्धन-रूप काष्ठ अग्नि का आश्रय-स्थान है अतएव अग्नि की कामना करने वाले मनुष्य अपने-अपने उद्यम से अग्नि उत्पन्न कर लेते हैं। वे काष्ठ का मंथन करके या अन्य स्थान से अग्नि-संग्रह करके फिर से महान् अग्नि-राशि उत्पन्न कर लेते हैं और अपना काम चलाते हैं। १

'इसी प्रकार भगवान् की बात समझनी चाहिये। जिस प्रकार महान् अग्नि राशि प्रज्वलित हुई थी भगवान् भी उसी प्रकार दस सहस्र संसार के ऊपर बुद्ध-सूर्य द्वारा प्रज्वलित हुए थे। जिस प्रकार वह महान् अग्नि-राशि प्रज्वलित होकर निर्वाण-प्राप्त हुई थी उसी प्रकार भगवान् भी दस सहस्र लोक के ऊपर बुद्ध-सूर्य द्वारा प्रज्वलित होने के पश्चात् निरवशेष निर्वाण द्वारा परिनिर्वाण प्राप्त हुए थे। जिस प्रकार निर्वाण-प्राप्त अग्नि तृण, काष्ठ आदि इन्धनों को नहीं ग्रहण करती उसी प्रकार लोक-हितकारी भगवान् भी कुछ परिग्रहण नहीं करते। परन्तु जिस प्रकार इन्धनहीन अग्नि के निर्वाण प्राप्त होने पर मनुष्यगण अपने अपने उद्यम से अग्नि उत्पन्न करके अपना-अपना कार्य सिद्ध करते हैं उसी प्रकार देव और मनुष्य-गण परिनिर्वाण-प्राप्त तथागत के धातुओं से स्तूपादि निर्माण करके पीठादि का अनुष्ठान करते हैं और सम्पत्ति-लाभ प्राप्त करते हैं। इस प्रकार यद्यपि तथागत कुछ भी ग्रहण नहीं करते तथापि उनके उद्देश्य से निवेदित पूजा सफल होती है अवश्य होती है।'२

इस समस्या के हल के लिए दूसरा दृष्टान्त 'वायु' का है। महान् वायु बह जाने के बाद जब उपरत-उपशान्त हो जाती है तो उसकी वायु-संज्ञा नहीं हो सकती है। ठीक

१ देखिये बा० आ० क० पृ० २१८–२१९।

२ बा० आ० क० पृ० २१९–२२०।

वृन्त और व्यजनवायु के कारण हैं। जिन्हें वायु की आवश्यकता होती है, वे अपने उद्यम से उसे उत्पन्न करके अपना ताप शमन करते हैं। वैसे ही शास्ता (बुद्ध) दस सहस्र लोकों पर मृदु-मधुर वायु के समान मैत्री रूप में बहते रहे। जिस प्रकार प्रचण्ड वायु बह जाने के बाद उपरत-उपशान्त हो जाती है वैसे ही भगवान् भी निर्वाण को प्राप्त हो गये। जिस प्रकार तापग्रस्त प्राणी व्यजन के सहारे वायु को फिर से ले आकर अपना ताप शमन करते हैं उसी प्रकार देवता और मनुष्य भगवान् के शरीर-धातु की सहायता से शीलादि का अनुष्ठान करके भव-ताप दूर करते हैं। इस प्रकार यद्यपि तथागत कुछ भी ग्रहण नहीं करते तथापि उनके उद्देश्य से निवेदित पूजा सफल होती है अवश्य होती है। १

भगवान् बुद्ध के सम्बन्ध में एक प्रश्न और उठाया गया है कि वे ध्यान करने पर ही कुछ जान सकते थे, नहीं तो तत्काल वे उसी प्रकार मूढ़ रहते थे, जिस प्रकार हम लोग हैं। यह बात ठीक है। भगवान् की सर्वज्ञता इसी में थी कि वे ध्यान से सब बातों को जान लेते थे।

किन्तु इससे भगवान् की सर्वज्ञता खण्डित नहीं होती। इसकी स्थापना के लिए चक्रवर्ती राजा का दृष्टान्त दिया गया है। उसके घर में अन्न दूध दही घृत शर्करा आदि का कोई अभाव नहीं है। यदि कोई अतिथि उसके घर असमय में आ जाये उस समय भोजनालय का पक्व अन्न समाप्त हो चुका हो और उसके अतिथि सत्कार में देर हो जाये तो वह निर्धन सिद्ध नहीं हो सकता। समय-बे-समय चक्रवर्ती के भोजनागार में भी अन्न नहीं रहता परन्तु इसीलिए वह निर्धन नहीं कहा जा सकता। उसी तरह बुद्धों की सर्वज्ञता आवर्जन-प्रतिबद्ध होती है तत्काल ज्ञान के अभाव में वे मूढ़ नहीं सिद्ध होते। वे ध्यान करते ही सब कुछ जान लेते हैं। यही साधारण जनों से वे विशिष्ट होते हैं। २

इस रचना में सौगत-तन्त्र की कुछ विशेषताओं पर प्रकाश डाला गया है। उनका प्रथम सिद्धान्त नैरात्म्य की भावना में स्थिर रहने का है। नैरात्म्यवादी अपने ऊपर विश्वास करने वाले को भी छोड़ सकता है उसे तुम और मैं का भेद भूलने में कोई रस नहीं मिलता। वह पुरुष और स्त्री का भेद भूल जाता है। बुद्ध और बुद्ध का भेद उसे अच्छा नहीं लगता।३

बौद्ध दर्शन के साथ कौलाचार-दर्शन की समानता का प्रसङ्ग भी इस रचना में मिलता है। कौल-मार्ग की साधना शक्ति पर आधारित है। उसमें अनासक्ति के महत्त्व की प्रतिष्ठा है। कौलाचार-दर्शन पुरुष और स्त्री के भेद-भाव को स्वीकार नहीं करता। जब तक यह भेद रहता है तब तक साधना अधूरी या अपूर्ण रहती है और जब तक

१ बो० आ० क०, पृ० २२१।
२ वही, पृ० २२१–२२२।
३ वही, पृ० १०१।

आसक्ति बनी रहती है तब तक तुम और मैं का भेद नहीं मिटता। कौल-मार्ग न प्रवृत्तियों के छिपाने को उचित समझता है, न उनसे डरने का ही समर्थन करता है और न उनसे सन्धित होने को ही युक्तियुक्त मानता है। गुरु की आज्ञा प्रधान होती है। साधना चक्र में बैठना अनिवार्य है।

इस चक्र में सिद्ध के साथ प्रायः साधक ही बैठते हैं। इसमें आनन्दभैरव और आनन्दभैरवी की आराधना अभिप्रेत होती है। दोनों का सम्मिलित वाहन वृष माना जाता है। आनन्दभैरव के शरीर में कोटि-कोटि सूर्यों की और कोटि-कोटि चन्द्रमा से अधिक शीतलता की कल्पना की जाती है। वे अठारह हाथ वाले होते हैं। आनन्दभैरवी सुरा देवी उनकी सहचरी है। आनन्दभैरव के समान इनके भी पाँच मुख तीन नेत्र और अठारह भुजाएँ मानी जाती हैं। आनन्दभैरवी का वर्ण हिम कुन्द और चक्र की भाँति धवल है। वे आनन्द की मूर्ति मन्त्रों की प्रसव-भूमि सौन्दर्य का विश्रान्ति-स्थल आत्मा का आवास-गृह और जीवन का मूल निग्रह मानी जाती हैं।[1]

चक्र के केन्द्रस्थल में लाल कपड़े से ढँका हुआ कारण (मदिरा) से भरा पात्र और उसके ऊपर अष्टदल कमल के आकार का कोई पात्र रहता है। साधक साथ भैरव और सुरादेवी का ध्यान करते हैं और जप करते जाते हैं। सुरादेवी की प्रतिनिधि महामाया कारण घट में पात्र पूर्ण करती हुई अस्फुट ध्वनि में मन्त्र पढ़ती जाती है। पात्र उठा उठा कर देने से पूर्व वे सुधा-देवी का मन्त्र पढ़ती हैं। फिर दोनों हाथों के सहयोग से कुछ विशेष मुद्राओं से पात्र को मुद्रांकित किया जाता है और फिर एकबार अपने चारों ओर घुटकी बजा कर कोई अनुष्ठान किया जाता है। समवेत यह दिग्बन्धन की विधि होती है। जैसे ही गुरु पात्र को उठाता है वैसे ही साधक भी अपने-अपने पात्र उठा लेते हैं। प्रथम पात्र की वन्दना-स्तुति यह मन्त्र प्रस्तुत करता है।

> श्रीमद्भैरवशेखर प्रविलसत्सुधामृताप्लावितम्
> क्षेत्रीभूतरसोर्मिनीमणिमहासिद्धैः समाहेवितम् ॥
> आनन्दार्णवकं महात्मकमिदं मायाद्वितीयस्थामृतम्
> वन्दे श्रीप्रथम करामुजयत पात्रं विशुद्धिप्रदम् ॥

(कौलावलिनिर्णय अष्टम उल्लास)

गुरु अपनी शक्ति के अधरों से लगा कर सुरा पीते हैं। साधक भी वैसा ही करते हैं। सुरा-पान के समय साधक बाँया दाहिने हाथ से कुछ विशेष प्रकार की मुद्राएँ धारते हैं। वे इस प्रकार से सात बार पान करते हैं और पात्र के साथ मुद्रा और जप चलते रहते हैं। चक्र-साधना के अन्त में शान्तिपाठ होता है। उस अवसर पर दुन्दुभि-ध्वनि से वाता वरण को सुगन्धित किया जाता है। साधकों के मस्तकों पर सिन्दूर-तिलक लगाया जाता

---

१ का० ज्ञा० क० पृ० १०४-१ ६।

है। इस अवसर पर प्रसाद वितरण किया जाता है जिसमें मधु अदरख चुना हुआ कन्द तथा अपराजित पुष्प के कुछ दल होते हैं। कौल-गुरु सिद्ध अवधूत भी कहलाते हैं।

इस मत में स्त्री-पुरुष की शक्ति मानी जाती है जिसके बिना साधना नहीं चल सकती। स्त्री में त्रिभुवनमोहिनी का वास होता है। वह पुरुष का सत्य है। स्त्री का सत्य ठीक वैसा ही नहीं है, किन्तु उसका विरोधी नहीं पूरक है। पूरक अविरोधी हुआ करता है।

इस मत के अनुसार साधकों को दो बातें प्रमुखतया अभिप्रेत होती हैं—कुण्डलिनी की जागृति तथा कौल-अवधूत का प्रसाद। मनुष्य-शरीर देवता का निवास है। नर-नारी का जो रूप साधक को मोह में वही उसका देवता है।

पुरुष वस्तु-विच्छिन्न भाव-रूप सत्य में आत्मत्व का साक्षात्कार करता है, स्त्री वस्तु-परिग्रहीत रूप में रस पाती है। पुरुष निःसंग है, स्त्री आसक्त, पुरुष निर्ग्रन्थ है, स्त्री ग्रन्थोन्मुखी, पुरुष मुक्त है, स्त्री बद्ध। पुरुष स्त्री को शक्ति समझ कर ही पूर्ण हो सकता है पर स्त्री स्त्री को शक्ति समझ कर अधूरी रह जाती है। १

स्त्री की पूर्णता के लिए पुरुष को शक्तिमान् मानने की आवश्यकता नहीं है। उससे स्त्री अपना कोई उपकार नहीं कर सकती पुरुष का अपकार कर सकती है। स्त्री प्रकृति है उसकी सफलता पुरुष को बाँधने में है किन्तु सार्थकता पुरुष की मुक्ति में है।

पुरुष अपने को पुरुष और स्त्री अपने को स्त्री समझने की भूल कर सकती है, किन्तु कौल मत में यह भूल प्रमाद है। स्त्री में पुरुष की अपेक्षा प्रकृति की अभिव्यक्ति की मात्रा अधिक है, इसलिए वह स्त्री है। पुरुष में प्रकृति की अपेक्षा पुरुष की अभिव्यक्ति अधिक है, इसलिए वह पुरुष है। यह लोक की प्रज्ञप्ति-प्रज्ञा है वास्तव सत्य नहीं। ऐसी स्त्री प्रकृति नहीं है प्रकृति का अपेक्षाकृत निकृष्टतर प्रतिनिधि है और ऐसा पुरुष प्रकृति का दूरस्थ प्रतिनिधि है। यह संभव है कि पुरुष में उसके ही भीतर के प्रकृति-तत्त्व की अपेक्षा पुरुष-तत्त्व अधिक हो किन्तु यह भी संभव है कि वह पुरुष तत्त्व किसी स्त्री के पुरुषत्व की अपेक्षा अधिक न हो। इससे स्त्री पुरुष की अपेक्षा अधिक निःसंग अधिक निर्ग्रन्थ और अधिक मुक्त हो सकती है। ऐसी स्त्री अपने भीतर की अधिक मात्रा वाली प्रकृति का अपने ही भीतर वाले पुरुष-तत्त्व से अभिभूत नहीं कर सकती। ऐसी स्त्री की साधना किसी भी 'पुरुष' प्रज्ञप्ति वाले मनुष्य के योग से कदापि नहीं हो सकती। विशेष पुरुष ऐसी स्त्री को उसकी अन्तःस्थिता प्रकृति के रूप में सार्थकता प्रदान करता है।

'परम शिव के दो तत्त्व एक ही साथ प्रकट हुए थे—शिव और शक्ति। शिव निर्विकल्प है और शक्ति निर्विकल्पा। इन्हीं दो तत्त्वों के प्रस्पन्द-विस्पन्द से यह संसार

१ ना० ना० क० पृ ११०।

आभासित हो रहा है। पिण्ड में शिव का प्राधान्य ही पुरुष है और शक्ति का प्राधान्य नारी।"[1]——

इस मांस-पिण्ड को स्त्री या पुरुष समझना भूल है। यह जड़ मांस-पिण्ड न नारी है न पुरुष। वह निषेधरूप तत्त्व ही नारी है। + + + 'जहाँ कहीं अपने आपको उत्सर्ग करने की अपने आपको खपा देने की भावना प्रधान है, वही नारी है। जहाँ कहीं दुःख-सुख की लाख-लाख धाराओं में अपने को बलित द्राक्षा के समान निचोड़कर दूसरे को तृप्त करने की भावना प्रबल है वही नारी-तत्त्व है या शास्त्रीय भाषा में कहना हो तो 'शक्ति-तत्त्व' है। नारी निषेधरूपा है। वह आनन्द भोगने के लिए नहीं आती, आनन्द लुटाने के लिए आती है।"[2]

साधक को त्रिभुवनमोहिनी जिस रूप में मोह ले, वही उसका देवता है। उसे उसी रूप की पूजा करनी चाहिये।

यह जो कुछ हो रहा है त्रिपुर भैरवी की ही लीला है। शूलपाणि की मुण्डमाल की रचना में कोई भी बाधा नहीं डाल सकता। उसकी लीला को केवल वही तोड़ सकता है जिसने अपने को सम्पूर्णरूप में त्रिपुर-भैरवी के साथ एक कर दिया है। त्रिपुर-सुन्दरी को जो जितना दे देता है उतना ही उसका अपना भरम होता है।"[3]

बौद्ध और शैव साधना में योग का स्थान भी प्रमुख रहा है। इस रचना में लेखक योग की ओर संकेत करके रह गया है सम्भवतः इसलिए कि योग-निरूपण उसको अभिप्रेत नहीं था। चक्र-साधना में षट्चक्र की बात की गई है। एक स्थान पर प्राणों और नाड़ियोंका उल्लेख हुआ है। योगके ग्रन्थों में बहत्तर हजार नाड़ियाँ बताई गई हैं। सम्मोहन के संबंध से नाग कूर्म कृकल देवदत्त और धनञ्जय नामक पाँच प्राणों का उल्लेख किया गया है। सम्भवतः शेष पाँच प्राणों से सम्मोहन का संबंध दिखलाना लेखक को इष्ट नहीं है।

जिस प्रकार सम्मोहन का संबंध पाँच प्राणों से जोड़ा गया है उसी प्रकार बहत्तर हजार नाड़ियों में से केवल पाँच का संबंध मन से जोड़ा गया है। कल्पिका से संकल्प और विकल्पिका से अनेक विकल्प होते हैं। स्थीवा से जड़ता आती है मूर्च्छना से मूर्च्छा आती है और मन्या से मनः शक्ति प्राप्त होती है।

बौद्ध और शैव-साधना के अतिरिक्त इस ग्रन्थ में भक्ति-साधना का भी उल्लेख है। लेखक ने जो रुचि भक्ति की ओर दिखाई है वह इतर साधनाओं की ओर नहीं है। बौद्ध दर्शन अपनी स्थापनाओं में विलक्षण है कौल-मार्ग की साधना विलक्षण है किन्तु भक्ति का द्रावक प्रभाव सबसे अधिक विलक्षण है। लेखक ने आत्मकथा में जिस प्रकार भक्ति

---

१ ब० आ० क० पृ० १६३।

२ वही पृ० १६४।

३ वही, पृ० २०१।

है। इस अवतार पर प्रसाद वितरण किया जाता है जिसमें मधु अदरख भुना हुआ कन्द तथा अपराजित पुष्प के कुछ अंश होते हैं। कौल-गुरु सिद्ध अवधूत भी कहलाते हैं।

इस मत में स्त्री–पुरुष की शक्ति मानी जाती है जिसके बिना साधना नहीं चल सकती। स्त्री में विमुक्तमोहिनी का वास होता है। वह पुरुष का सत्य है। स्त्री का सत्य ठीक वैसा ही नहीं है, किन्तु उसका विरोधी नहीं पूरक है। पूरक अविरोधी हुआ करता है।

इस मत के अनुसार साधकों को दो बातें प्रमुखतया अभिप्रेत होती हैं—कुण्डलिनी की जागृति तथा कौल-अवधूत का प्रसाद। मनुष्य-शरीर देवता का निवास है। नर-नारी का जो रूप साधक को मोह में वही उसका देवता है।

पुरुष वस्तु–विशिष्ट भाव-रूप सत्य से आनन्द का साक्षात्कार करता है, स्त्री वस्तु-परिग्रहीत रूप में रस पाती है। पुरुष निःसंग है, स्त्री आसक्त; पुरुष निर्द्वन्द्व है स्त्री द्वन्द्वोन्मुखी; पुरुष मुक्त है स्त्री बद्ध। पुरुष स्त्री की शक्ति समझ कर ही पूर्ण हो सकता है पर स्त्री स्त्री की शक्ति समझ कर अधूरी रह जाती है।"[1]

स्त्री की पूर्णता के लिए पुरुष को शक्तिमान् मानने की आवश्यकता नहीं है। उससे स्त्री अपना कोई उपकार नहीं कर सकती पुरुष का अपकार कर सकती है। स्त्री प्रकृति है उसकी सफलता पुरुष को बाँधने में है किन्तु सार्थकता पुरुष की मुक्ति में है।

पुरुष अपने को पुरुष और स्त्री अपने को स्त्री समझने की भूल कर सकती है किन्तु कौल मत में यह भ्रम प्रमाद है। स्त्री में पुरुष की अपेक्षा प्रकृति की अभिव्यक्ति की मात्रा अधिक है, इसलिए वह स्त्री है। पुरुष में प्रकृति की अपेक्षा पुरुष की अभिव्यक्ति अधिक है, इसलिए वह पुरुष है। यह लोक की प्रज्ञप्ति प्रज्ञा है वास्तव सत्य नहीं। ऐसी स्त्री प्रकृति नहीं है प्रकृति का अपेक्षाकृत निकटतम प्रतिनिधि है और ऐसा पुरुष प्रकृति का दूरतम प्रतिनिधि है। यह संभव है कि पुरुष में उसके ही भीतर के प्रकृति–तत्त्व की अपेक्षा पुरुष-तत्त्व अधिक हो किन्तु यह भी संभव है कि वह पुरुष तत्त्व किसी स्त्री के पुरुषत्व की अपेक्षा अधिक न हो। इससे स्त्री पुरुष की अपेक्षा अधिक निःसंग अधिक निर्द्वन्द्व और अधिक मुक्त हो सकती है। ऐसी स्त्री अपने भीतर की अधिक मात्रा वाली प्रकृति का अपने ही भीतर वाले पुरुष-तत्त्व से अभिसृत नहीं कर सकती। ऐसी स्त्री की साधना किसी भी 'पुरुष' प्रज्ञप्ति वाले मनुष्य के योग से कदापि नहीं हो सकती। विशेष पुरुष ऐसी स्त्री को उसकी अन्तःस्थिता प्रकृति के रूप में सार्थकता प्रदान करता है।

"परम शिव के दो तत्त्व एक ही साथ प्रकट हुए हैं—शिव और शक्ति। शिव निर्विकल्प है और शक्ति निर्विकल्पा। इन्हीं दो तत्त्वों के प्रसन्न–विसन्न से यह संसार

---

१ का आ० क० पृ० ११०।

भासित हो रहा है। पिण्ड में शिव का प्राधान्य ही पुरुष है और शक्ति का प्राधान्य नारी।"[1]———

इस मांस-पिण्ड को स्त्री या पुरुष समझना भूल है। यह जड़ मांस-पिण्ड न नारी है न पुरुष। वह निर्विकल्प तत्त्व ही नारी है। + + + 'जहाँ कहीं अपने आपको उत्सर्ग करने की, अपने आपको लुटा देने की भावना प्रधान है, वहीं नारी है। जहाँ कहीं दुःख-सुख की साक्षात् धाराओं में अपने को दलित द्राक्षा के समान निचोड़कर दूसरे को तृप्त करने की भावना प्रबल है वही नारी-तत्त्व है, या शास्त्रीय भाषा में कहना हो तो 'शक्ति-तत्त्व' है। नारी निर्विकल्पता है। वह आनन्द भोगने के लिए नहीं आती आनन्द लुटाने के लिए आती है।"[2]

साधक को त्रिभुवनमोहिनी जिस रूप में मोह ले वही उसका देवता है। उसे उसी रूप की पूजा करनी चाहिये।

'यह जो कुछ हो रहा है त्रिपुर सुन्दरी की ही लीला है। सृष्टिपालि की सुव्यवस्था की रचना में कोई भी बाधा नहीं डाल सकता। उसकी लीला को केवल वही भोग सकता है जिसने अपने को सम्पूर्णरूप में त्रिपुर सुन्दरी के साथ एक कर दिया है। त्रिपुर-सुन्दरी को जो जितना दे देता है उतना ही उसका अपना स्वत्व होता है।"[3]

बौद्ध और शैव साधना में योग का स्थान भी प्रमुख रहा है। इस रचना में लेखक योग की ओर संकेत करके रह गया है सम्भवतः इसलिए कि योग-निरूपण उसको अभिप्रेत नहीं था। चक्र-साधना में षट्चक्रों की बात की गई है। एक स्थान पर प्राणों और नाड़ियों का उल्लेख हुआ है। योगके ग्रन्थों में बहत्तर हजार नाड़ियाँ बताई गई हैं। सम्मोहन के सम्बन्ध में नाग कूर्म कृकल देवदत्त और धनञ्जय नामक पाँच प्राणों का उल्लेख किया गया है। सम्भवतः शेष पाँच प्राणों से सम्मोहन का संबंध दिखलाना लेखक को इष्ट नहीं है।

जिस प्रकार सम्मोहन का संबंध पाँच प्राणों से जोड़ा गया है उसी प्रकार बहत्तर हजार नाड़ियों में से केवल पाँच का संबंध मन से जोड़ा गया है। कल्पिका से संकल्प और विकल्पिका से अनेक विकल्प होते हैं। रसोना से जड़ता आती है मूर्च्छना से मूर्च्छा आती है और मन्दा से मनः शक्ति प्राप्त होती है।

बौद्ध और शैव-साधना के अतिरिक्त इस ग्रन्थ में भक्ति-साधना का भी उल्लेख है। लेखक ने जो रुचि भक्ति की ओर दिखाई है वह इतर साधनाओं की ओर नहीं है। बौद्ध दर्शन अपनी स्थापनाओं में विलक्षण है कौल-मार्ग की साधना विलक्षण है किन्तु भक्ति का द्रावक प्रभाव सबसे अधिक विलक्षण है। लेखक ने आत्मकथा में जिस प्रकार भक्ति

---

१ ब० आ० क० पृ १६३।
२ वही पृ० १६४।
३ वही पृ० १०१।

का परिचय दिया है उससे भक्ति के विकास पर भी प्रकाश पड़ जाता है। बाणभट्ट के प्रति वृद्ध की यह वाणी भक्ति के विकास को अति संक्षेप में ही सही सामने ला देती है—

"वे वेंकटेश भट्ट पहले जहियाम पीठ में सौगत तंत्र की उपासना करते थे। वहाँ से न जाने क्या बात हुई कि वे श्रीपर्वत पर चले आये और अब तो काम्यकुब्ज को ही पवित्र कर रहे हैं। चुक-चुक में कुछ चपलस्वभावा स्त्रियों ने ही उनसे दीक्षा ली थी। एक छोटे अन्तःपुर की परिचारिका निउनिया थी उनसे उसने प्रथम दीक्षा ली थी। वह तुरन्त कहीं अन्तर्धान हो गई। दूसरी सेवी उसी की एक सखी सुचरिता हुई। इसी गली में वह माने में प्रसिद्ध थी। वह इस समय नगर की प्रधान भक्तिमती मानी जाने लगी है। अब तो यह हालत है कि संध्या हुई नहीं कि नगर का अन्तःपुर निःशेष भाव से उमट कर इस आयोजन में शामिल हो जाता है। कांस्य और करताल के साथ समवेत नाच उन्माद का वातावरण पैदा करता है और उसमें सुचरिता के गान मोहिनी मंत्र की तरह सबको मंत्रमुग्ध बना लेते हैं। वेंकटेश भट्ट जब आवेश में नाच उठते हैं, तो ऐसा लगता है कि भूतों का राजा आसव पीकर प्रमत्त हो गया है। यह विचित्र धर्म है।' १

इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि उसी शती में कुछ लोग सौगत-तंत्र को छोड़ने लगे थे। संभवतः बौद्ध धर्म की बढ़ती हुई विकृतियों से कुछ लोगों को वृत्ति समाप्त हो गई थी। सातवीं शती में भक्ति की उत्पत्ति हुई और पहले-पहल इसकी ओर कुछ स्त्रियाँ आकृष्ट हुईं। धीरे-धीरे भक्ति-भावना स्त्रियों के हृदय में अपना घर करती गई। भक्ति में गीत संगीत और नृत्य को प्रमुख मिलने से सामान्य आकर्षण की दृष्टि अधिक हो गई। प्रारम्भ में भक्ति पुरुषों का विशेषतः उच्चवर्ण के पुरुषों को मुग्ध न कर सकी।

बाणभट्ट ने संक्षेप में जिस का जो वर्णन किया है, वह भी भागवत धर्म के विकास की—एक अद्भुत मिश्रण की—सूचना देता है। आचार्य वेंकटेश भट्ट एक चन्दन काष्ठ के आसन पर पद्मासन बाँध कर बैठे थे। उनके मुख से एक प्रकार का आनन्द-पद्मन भाव प्रकट हो रहा था आसन के ठीक सामने एक वेदी पर कलश स्थापित था। XX माथ और तन्दुल से एक ऊर्ध्वमुख त्रिकोण को आड़े भाव से विद्ध करके अधोमुख त्रिकोण चक्र ठीक उसी प्रकार अंकित था जिस प्रकार शाक्त तान्त्रिकों का श्रीचक्र हुआ करता है। उस चक्र के मध्य में प्रफुल्ल सतदल देख कर मैं और भी आश्चर्य चकित रह गया। मैंने अब तक यही समझा था कि ऊर्ध्वमुख त्रिकोण शिवतत्त्व का प्रतीक है और अधोमुख त्रिकोण शक्तितत्त्व का। भागवत सम्प्रदाय से तो इनका कुछ का सम्बन्ध भी नहीं है। यह पद्म तो किसी प्रकार वहाँ नहीं चल सकता क्योंकि पद्म के साथ चक्र होना चाहिये। ऐसा होता तो सौगत तन्त्र ही इसे मान लेते परन्तु यह तो अद्भुत मिश्रण है। मगध का साधारण मनुष्य भी इस अनुष्ठान का विरोध किये बिना नहीं रह सकता परन्तु

१. बा० भा० क पृ० २२८।

कान्यकुब्ज विचित्र देश है। यहाँ बाह्य आचारों में तो तिलमात्र भी परिवर्तन नहीं बहुत किया जाता; पर धार्मिक अनुष्ठान में प्रतिदिन नये-नये उपादान मिश्रित होते रहते हैं। ××× 'मैंने और भी ध्यान से चक्र को देखा केन्द्र में वहाँ पद्म था उसके चारों ओर सिन्दूर से एक गोल चक्र अंकित था। इस साधना का बल यही था क्या? पद्म के ऊपर तांबे का घट स्थापित था। घट के ऊपर आम के पल्लव थे और उनके भी ऊपर एक ताम्र पात्र में जौ भरा हुआ था। अभी दीप-स्थापन की क्रिया चल रही थी। आचार्य की दाहिनी ओर एक वृद्ध पुरोहित मन्त्रोच्चार कर रहे थे और एक युवती स्त्री उनकी बताई हुई विधि से क्रिया कर रही थी। ××× 'फिर पुरोहित के दीप-दान-कालीन संकल्प-वाक्य से मेरा अनुमान सत्य सिद्ध हुआ। ××× 'भक्ति-भाव से जानुओं के बल खड़ी हुई। गुरु की पूजा ही उसकी क्रिया का प्रधान अङ्ग जान पड़ता था।"[1]

इससे प्रकट हो जाता है कि भक्ति के अनुष्ठान में नये उपादान मिश्रित हो गये थे। भागवत सम्प्रदाय लोगों और शास्त्रों की कुछ धार्मिक प्रक्रियाओं से भी प्रभावित हो चला था। भक्ति में गुरु की पूजा प्रमुख थी। आरती का प्रचलन हो गया था। स्वयं बाणभट्ट के मुख से लेखक ने कहलवाया है कि— 'धर्म चर्चा का यह अभिनव आयोजन था। यह एकदम नई वस्तु थी। संगीत और नाच का ऐसा मधुर मिश्रण मैंने कभी नहीं देखा था।"[2] इतर आयोजनों में स्त्रियों को ताल बजाते नहीं देखा जाता था किन्तु इस भजन-साधन में स्त्रियाँ ताल बजाती थीं। गुरु नाम-कीर्तन करते-कराते थे और फिर वे नारायण-नारायण आदि कह कर नाच उठते थे।

भक्ति के लिए आलम्बन के दो रूप ही चुने गये दिखलाये गये हैं—महावराह की मूर्ति और क्षीर-सागरशायी नारायण की मूर्ति। महावराह की मूर्ति का उल्लेख इस प्रकार किया गया है— 'महावराह की भावपूर्ण मूर्ति पुष्पमाल्य से विभूषित विराज रही थी। महावराह का विशाल वक्ष आकाश की ओर इस प्रकार उठा हुआ था मानो अभी वेग पूर्वक समुद्र से बाहर उठा है उस पर धरिणी की प्रीति-चकित मूर्ति बहुत ही मनोहारिणी दिख रही थी। महावराह की आँखें ठीक प्रस्फुटित पद्म के समान दिख रही थीं और साथ शरीर उन्नमनत्व के समान अनविच्छिन्न ज्योतिर्मयी का दिखा रहा था।'[3]

क्षीर-सागरशायी नारायण की मूर्ति के साथ विष्णु भगवान का मोक्षप्रद वासुदेव वाला रूप भी मूर्ति-पूजा में प्रचलित हो गया था। यह मूर्ति शृङ्गार रस की व्यञ्जक थी, उसका वर्णन बाण के मुख से इस प्रकार कराया गया है—

विद्युल्लतिका के आधार पर विभंगी-मूर्ति एक ही पत्थर को काट कर बनाई गई थी। विष्णुमूर्ति का यह विन्यास नवीन विधान था क्योंकि विभंगी रूप शृङ्गार-रस का व्यञ्जक है। अब तक मैंने इस प्रकार वाली विष्णुमूर्ति नहीं देखी थी। वासुदेव के बाँये

१ बा० भा० क०, पृ० २२९ ३१।
२ वही पृ २३३
३ वही पृ० ३८

मे कोई माया-सी बिछ रही थी। सामने एक अष्टदल पद्म के भीतर उसी प्रकार ऊर्ध्व मुख और अधोमुख त्रिकोण अङ्कित थे जिस प्रकार सायंकाल की उपासना के समय कलश स्थापन के लिए अङ्कित मंत्र में मैंने देखा था। पद्म के भीतर वज्र था और बाहर चतुर्द्वार। अङ्कन की भंगी बड़ी मनोहर थी। मैंने जरा और निकट जाकर देखा तो आश्चर्य से स्तम्भित रह गया। इस मन्त्र के भीतर नाना-रूप-बीजों के विन्यास के बाद काम-गायत्री लिखी हुई थी। एक बार मैं उस वासुदेव की ओर देखता था और एक बार इस गायत्री की ओर। यह कैसा विचित्र मिलन है! क्या यह कामसूति है?—यह तो हो ही नहीं सकता। मैं क्या देख रहा हूँ—विष्णु-मूर्ति और काम-गायत्री। १

जिस प्रकार भागवत धर्म में एक विलक्षण विकास हो रहा था वह अनुष्ठान के सम्बन्ध में देखा जा चुका है। इस समय गीता के सिद्धान्तों के प्रभाव से कुछ भक्ति सिद्धान्त भी विकसित हो रहे थे। संक्षेप में वे ये थे—

'शरीर नरक का साधन है यह कहना प्रमाद है। यही वैकुण्ठ है। इसी को आश्रय करके नारायण अपनी आनन्दलीला प्रकट कर रहे हैं। आनन्द से ही यह भुवन मण्डल उद्भासित है। आनन्द से ही विधाता ने सृष्टि उत्पन्न की है। आनन्द ही उसका उद्गम है आनन्द ही उसका लक्ष्य है। लीला के सिवा इस सृष्टि का और क्या प्रयोजन हो सकता है? २ नारायण मनुष्य के बाहर नहीं हैं, मनुष्य प्रसन्न हैं तो निश्चय ही नारायण प्रसन्न हैं। मनुष्य नारायण का ही रूप है। पापिष्ठ मन मनुष्य को नारायण रूप में नहीं देख सकता। जो कर सकते हैं वह नारायण ही कर सकते हैं, मनुष्य तो निमित्तमात्र है। इस जीवन की नौका के कर्णधार नारायण ही हैं। मन में किसी बात का सोच नहीं करना चाहिये यह किसी कार्य का उत्तरदायी नहीं है। सब हानि लाभ, सुख-दुःख नारायण के ऊपर छोड़ देना चाहिये' 'दुःख या सुख जो कुछ मिले अपने नारायण की पूजा उसी से करनी चाहिये। ३ वस्तुतः दुःख भी मनुष्य का अपना सत्य है। उसे स्वीकार करके ही वह सार्थक हो सकता है। बचाने से वह मनुष्य को नष्ट कर देता है। समस्त पुण्य और अवगुण जब तक निर्विकार चित्त से नारायण को नहीं सौंप दिये जाते तब तक वे भारमात्र हैं।"

काम को लोग गलत समझ लेते हैं। अपने उदात्त रूप में प्रेम और काम अभिन्न हैं 'व्रज-सुन्दरियों ने निखिलानन्द-सन्दोह मुकुन्द की विग्रह-माधुरी के प्रति जो आकर्षण दिखाया वह क्या प्रेम नहीं था? व्रज-सुन्दरियों का प्रेम ही काम है और काम ही प्रेम है।"—

'प्रेमैव गोपरामाणां काम इत्यभिधीयते

(भक्तिरसामृतसिन्धु×)

नारायण का प्रसाद समझकर सारे क्लेशों को आनन्दपूर्वक स्वीकार कर लेना भक्ति का ही एक अङ्ग है।

---

१ बाणभट्ट की आत्मकथा पृ २६७-६८

२ वही पृ० २७१।

×बाणभट्ट की आत्मकथा लेखक द्वारा उद्धृत देखिये पृ २७३ (प्रथम संस्करण)

३ वही पृ० २८३

१४ नारी विषयक कुछ समस्याएँ

वर्तमान समाज में अन्य समस्याओं की भाँति नारी भी एक समस्या है। भारत वह देश है जहाँ कभी नारी का बड़ा सम्मान था। आज उसी देश में नारी की बड़ी दुर्दशा है। जबकि अनेक देशों में नारी-समाज प्रगति कर रहा है, यहाँ वह अपनी समस्याओं में उलझा बैठा है। प्रगतिशील मनीषियों ने कुछ समय से समाज की पिछड़ी दशा को देखकर उद्बोधन की फूँक से क्रान्ति की चिनगारी को सुलगाना प्रारम्भ किया है। सामान्यतः ये प्रयत्न पचास-साठ वर्ष से किये जा रहे हैं किन्तु गत बीस वर्ष से क्रान्ति ने कुछ इस रूप धारण कर लिया है। पुरुष और नारी के संबंधों पर प्रकाश डालकर नारी के स्थान को दिखाया जा रहा है। अधिकार और कर्तव्य, दोनों उनके सामने लाये जा रहे हैं। यह संभव है कि आज की नारी गृहिणी के रूप से आगे बढ़ कर अपने रण-चण्डी के रूप को देखकर आश्चर्य करने लगे और वह शायद अपने इस रूप में विश्वास भी न करे, किन्तु कोमी की रानी जैसी वीरांगनाओं ने अपने इस रूप को प्रमाणित कर दिया है।

यों तो प्राचीन भारतीय साहित्य में नारी की विवेचना ने एक दार्शनिक रूप धारण कर लिया था, किन्तु मध्यकाल में आते-आते नारी का व्यावहारिक गौरव क्षीण हो गया और नारी पुरुष की इच्छा का दास बन गयी। वैराग्य की सीमाओं में उस पर, न जाने कितनी कीचड़ उछाली गयी और उसको समाज का एक गर्हित प्राणी बना दिया गया। सामाजिक रूढ़ियों ने उसको अपने कठोर शिकंजे में कस कर 'अबला' बना दिया और फिर वह भी मुँह ताकती रह गयी। कुछ समकालीनों ने उसकी दुर्दशा को देखा उनका हृदय द्रवित हुआ और उनके प्रति सहानुभूति व्यक्त करते हुए एक आवाज उठाई। ऐसी ही आवाज बाणभट्ट की आत्मकथा' में सुनायी पड़ सकती है।

उक्त कथा के लेखक ने नारी के संबंध में बड़े कौशल से एक दार्शनिक विवेचना प्रस्तुत की है, जिसमें सामाजिक दृष्टिकोण का भी समावेश है। नारी क्या है? वह कितनी पवित्र है। उसमें कितनी शक्ति और सौन्दर्य है? उसका सम्मान कितना सुखद और उसका कितनी घातक है? इस प्रकार के अनेक प्रश्नों के उत्तर इस कृति में समाविष्ट किये गये हैं। लेखक ने 'नारी क्या है? इस प्रश्न का उत्तर तात्विक विवेचना के साथ दिया है।

नारी क्या है?

परम शिव में ही सत्य एक ही भाव प्रकट हुआ है— 'शिव और शक्ति। शिव

विधिरूप है और शक्ति निषेधरूपा। इन्हीं दो तत्त्वों के प्रस्पन्द विस्पन्द से यह संसार आभासित हो रहा है। पिंड में शिव का प्राधान्य ही पुरुष है और शक्ति का प्राधान्य नारी है। इस मांस-पिंड को—इस जड़ शरीर को पुरुष या नारी समझना भूल है। निषेधरूप तत्त्व नारी है। जहां कहीं अपने आपको उत्सर्ग करने की अपने आपको खपा देने की भावना प्रधान है वही नारी है। जहां कहीं दुःख-सुख की लाख लाख धाराओं में अपने को बलित धारा के समान निर्बाध कर दूसरे को तृप्त करने की भावना प्रबल है वही 'नारी-तत्त्व' है, या शास्त्रीय भाषा में उसी को शक्ति-तत्त्व कहते हैं।"

नारी का प्रयोजन

नारी निषेधरूपा है। वह आनन्द भोग के लिए नहीं आती आनन्द लुटाने के लिए आती है। आज के धर्म-कर्म के आयोजन संघ-संगठन और राज्य-विस्तार विधि रूप हैं। उनमें अपने आपको दूसरों के लिए गला देने की भावना नहीं है इसीलिए वे एक बुलबुले पर उठ जाते हैं फिर पर बिक जाते हैं। वे फेन बुद्बुद की भांति अनित्य हैं। वे सैकत-सेतु की भांति अस्थिर हैं। वे मरीचिका की भांति नश्वर हैं। उनमें अपने आपको दूसरों के लिए मिटा देने की भावना जब तक नहीं आती, तब तक वे ऐसे ही रहेंगे। उन्हें जब तक पुत्राहीन विधवा और भ्रातृहीन बहिनें अनुतप्त नहीं करतीं और जब तक निष्कलंक अध्यवसाय उन्हें कुरेद नहीं देता तब तक उनमें निषेधरूपा नारी-तत्त्व का अभाव रहेगा और तब तक वे केवल दूसरों को दुःख दे सकते हैं।

नारी की पावनता

स्त्री-शरीर एक देव-मंदिर के समान पवित्र है। उसे किसी अज्ञात देवता का मंदिर समझना चाहिये। एक समय आर्यावर्त में नारी का बड़ा गौरव था। ब्राह्मण और श्रमण की भांति नारी भी सम्मान की वस्तु थी। आर्य-भूमि की पवित्रता के अनेक कारणों में नारी की पवित्रता प्रमुख थी। इस पवित्रता का एक रूप नारी-सौन्दर्य भी था। जब तक इस सौन्दर्य का सम्मान रहा भारतीय गौरव प्रतिष्ठित रहा किन्तु इस देव-प्रतिमा के अपमानित होते ही भारत की शक्ति-समग्रता खंडित हो गयी।

सामाजिक रूढ़ियां नारी-सौन्दर्य की पवित्रता को अपनी तोल से तोलकर केवल अपमानित कर सकती हैं, सौन्दर्य के देवता की प्रतिष्ठा घटा सकती हैं, किन्तु उसे मिटा नहीं सकती हैं क्योंकि वह मिटने वाली चीज नहीं है। जो इस देवता को समझते हैं वे आदर करते हैं और जो नहीं समझते वे अपने कलुष से उसे कलुषित करने का प्रयत्न करते हैं किन्तु यह कालुष्य उन्हीं का अपमान है।

बड़े आश्चर्य और खेद की बात है कि यह लोक प्रस्तर-प्रतिमा की पूजा करता है और हाड़-मांस की पवित्र देव-प्रतिमाओं को ठुकराता है। यदि पुरुष ने उस पवित्र देव-प्रतिमा के सामने अपने आपको निःशेष भाव से उंडेल दिया होता तो उसका जीवन सार्थक होता। अज्ञान की इस भूल को बाणभट्ट ने पकड़ लिया है। इसीलिए वह कहता

है— 'हाय संसार में इस हाड़-मांस के देव-मंदिर की पूजा नहीं की। वह वैराग्य और शक्ति-मद की बालू की दीवार खड़ी करता रहा। उसे अपने परम साराम्य का पता नहीं लगा। लेकिन इन सब बातों में क्या रखा है? मैं बहुत देख चुका हूँ। शोभा और कान्ति की विभ्रम और विभ्रिति पर बिकते देखकर मैं जिस दिन प्रथम बार विचलित हुआ था उस दिन की बात याद आती है, तो मेरी सम्पूर्ण सत्ता विद्रोह कर उठती है। माधुर्य और लावण्य की अपेक्षा हिंसा और विलोक का सम्मान देखकर घटना है। परन्तु मैं यह भी जानता हूँ कि इन सारे आपाततः परस्पर-विरोधी दिखने वाले आवरणों में एक सामरस्य है—निरंतर परिवर्तमान बाह्य आवरणों के भीतर एक परम मंगलमय देवता स्तब्ध है।

क्या पावन नारी अपावन हो सकती है?

पावन नारी अपवित्र नहीं की जा सकती। पावक को कभी कलंक स्पर्श नहीं करता, दीप-शिखा को अन्धकार की कालिमा नहीं समती चन्द्रमण्डल को आकाश की नीलिमा कलंकित नहीं करती और जाह्नवी की वारिधारा को धरती का कलुष भी स्पर्श नहीं करता।" 'स्वार्थों के स्पर्श से सिंह-किशोरी कलुषित नहीं होती। असुरों के गृह में जाने से लक्ष्मी पतिता नहीं होती। चोटियों के स्पर्श से कामधेनु अपमानित नहीं होती। चरित्रहीनों के बीच वास करने से सरस्वती कलंकित नहीं होती। हमारे समाज में प्राचीनता की प्रांतियाँ चलती हैं जिनसे पावन नारी का मार्ग अवश्य रुक जाता है, किन्तु उसकी पावनता निष्कलुष ही रहती है।

नारी सम्माननीय तथा रक्षणीय है

नारी शक्ति की प्रतीक और उसका शरीर देव-मन्दिर है। साधारणतः जिन स्त्रियों को चंचल और कुलभ्रष्टा माना जाता है, उनमें एक दैवी-शक्ति भी होती है। इस रहस्य को बालबुद्धि समझता है। वह उस स्थान को नरक-कुण्ड समझता है जहाँ मद और मद की लीलाओं के साथ नारी के क्रय विक्रय का कारबार भी होता है। ऐसे दृश्यों से नारी की रक्षा समाज का परम धर्म है। नारी जहाँ भी हो और जिस अवस्था में भी हो सम्मान और श्रद्धा की वस्तु है।

एक सामान्य अपमानित नारी के दुःख की कल्पना कीजिये जब कि वह समाज की कुत्सित रुचि पर अपने को तिल-तिल कर होमती है। स्त्री के दुःख इतने गंभीर होते हैं कि उसके शब्द उनका यथार्थ भी नहीं बता सकते। सहानुभूति के द्वारा ही इस मर्म-वेदना का किंचित् आभास पाया जा सकता है। जो स्त्री आजीवन दुःख की विदारक भट्टी में निरन्तर जलती रहती है क्या उसका स्त्री होना ही सारे अनर्थों की जड़ है? वस्तुतः दोष उस वस्तु में है, जो नारी के सारे सद्गुणों को दुर्गुण कहकर व्याख्या कर देती है। क्या वह एक बड़ा अन्याय नहीं है जो सत्य के नाम पर समाज

मे घर बना बैठा है ? उसी ने अनेक सामाजिक कुत्साओं का रूप धारण कर लिया है। स्त्रियां सदैव सम्मान के योग्य हैं। उनके सम्मान की रक्षा प्राण-पण से करनी चाहिये। इसीलिए भैरवियों के गान में यह ध्वनि सुनायी पड़ती है— अमृत के पुत्रो मरण-यज्ञ की आहुति बनो। माताओं के लिए, बहनों के लिए, कुल-ललनाओं के लिए प्राण देना सीखो।

स्त्रियों का सम्मान करना ही नहीं कराना भी चाहिये और इस काम को प्रति आचार्य मनुष्य बड़ी आसानी से कर सकते हैं। भट्टिनी के शब्दों में यही आशय ध्वनित हो रहा है— 'तुम्हारी प्रतिभा हिमनिर्झरिणी की भांति शीतल और धवल है तुम्हारे मुख में सरस्वती का निवास है। × × तुम निर्दय जाति के चित्त में समवेदना का संचार कर सकते हो उन्हें स्त्रियों का सम्मान कराना सिखा सकते हो।"

महापुरुष का यह कर्तव्य है कि अबला कहलाने वाली नारी का उद्धार करे और यह कर्तव्य पुरुष की वाणी से बड़ी सरलता से सम्पन्न हो सकता है। इसी आशय को भट्टिनी भट्ट से कहती हुई इस प्रकार व्यक्त करती है— तुम्हारी वाणी मेरी जैसी अबलाओं में भी आत्मशक्ति का संचार करती है। तुम्हारी छाया पाकर अबलाएं भी इस देश की सामाजिक जटिलता को कुछ शिथिल कर सकती हैं।

क्या नारी उपेक्षणीय है ?

नारी की उपेक्षा की जाती है उसे ठुकराया जाता है। क्यों ? इसीलिए न कि यहां पौरुष-दर्प का प्राचुर्य है। जब तक पुरुष अपने आपको ही समझता रहेगा तब तक उसकी दृष्टि में नारी का गौरव नहीं समा सकता। दर्प का कारण भौतिक शक्ति का अति महत्त्व है। इस शक्ति के प्रधान रहते हुए दर्प का बहिष्कार नहीं हो सकता। दर्प उस समय तक रहेगा जब तक कि नारी के प्रति सम-भाव न आजायेगा। इसका संकेत महामाया के तीव्र स्वर में दीख सकता है— क्या विरोह प्रजा की बेटियां उसकी नयन तारा नहीं हुआ करती ? क्या राजा और सेनापति की बेटियों का खो जाना हो संसार की बड़ी दुर्घटनाएं हैं ?'

ममता वात्सल्य करुणा और समर्पण की मूर्ति नारी भूमि पर साक्षात् देवता है। उसके साथ इस प्रकार का आचरण होना चाहिये कि वह यह अनुभव न करे कि उसका जीवन केवल भार है उसका शरीर केवल मिट्टी का ढेला है और विधाता ने उसे केवल बंध देने के लिए बनाया है वरन् वह नारी के रूप में विधाता का उपकार माने और अपने को धन्य समझे।

सच तो यह है कि पुरुष की साधना बिल्कुल नारी के सहयोग के बिना अधूरी ही रहती है और नारी की बलिदान की आकांक्षा जो पुरुष के अवलम्ब के बिना अपूर्ण रहती है। बाणभट्ट के शब्दों में 'अवधूतपाद की साधना इसलिए अधूरी है कि उन्हें

विशुद्ध नारी का सहयोग नहीं मिला और निपुणिका की अभिलाषाकांक्षा इसलिए अपूर्ण है कि उसे पुरुष का कर्तव्यमय नहीं मिला।' बाण ने इस रहस्य को अच्छी तरह समझ लिया है कि नारी से बढ़कर और कोई अनमोल रत्न नहीं है पर उससे अधिक दुर्दशा भी और किसी की नहीं हो रही है।

नारी शक्ति है

नारी नाना रूपों में पुरुष को मोहती है। त्रिभुवन का पुरुष तत्त्व उसी के रूपों पर मुग्ध है। अतएव शाक्त तन्त्रों में वह त्रिभुवन-मोहिनी नाम से भी अभिहित होती है। 'पुरुष वस्तु निरपेक्ष (मुक्त) भाव-रूप सत्य में आनन्द का साक्षात्कार करता है और स्त्री वस्तु-युक्त रूप में रस पाती है। पुरुष अनासक्त है, स्त्री आसक्त पुरुष निर्द्वन्द्व है, स्त्री द्वन्द्वमयी पुरुष मुक्त है स्त्री बद्ध। पुरुष स्त्री को शक्ति समझकर ही पूर्ण हो सकता है, पर स्त्री स्त्री को शक्ति समझ कर अपूर्ण रह जाती है। स्त्री की पूर्णतया के लिए पुरुष को शक्तिमान् मानने की आवश्यकता नहीं है। यदि स्त्री ऐसा मानती है तो उपकार के स्थान पर वह अपना अपकार ही कर सकती है।

राज्य-गठन सैन्य-संचालन मठ-स्थापन और निर्जन-वास पुरुष की समताहीन मर्यादाहीन, शृङ्खलाहीन महत्त्वाकांक्षा के परिणाम हैं। इनको नियन्त्रित करने की एकमात्र शक्ति नारी है। इतिहास साक्षी है कि इस अहिंसामयी शक्ति की उपेक्षा करने वाले साम्राज्य नष्ट हो गये हैं मठ विध्वस्त हो गये हैं ज्ञान और वैराग्य के बजाय ऐन-बुद्ध-बुद्ध की भाँति अस्तमय में विलुप्त हो गये हैं। पुरुषमोहिनी के इस गौरव को कालिदास जैसे कुछ ही मनीषियों ने हृदयंगम और प्रकाशित किया है। महासत्य का साक्षात्कार करके उसे प्रकाशित करना प्रतिभा का वरदान मात्र है।

स्त्री और प्रकृति

स्त्री प्रकृति है। उसकी सफलता पुरुष को बाँधने में है किन्तु सार्थकता पुरुष की मुक्ति में है। स्त्री में पुरुष की अपेक्षा प्रकृति की अभिव्यक्ति की मात्रा अधिक होती है, इसलिए वह स्त्री है और पुरुष में प्रकृति की अपेक्षा पुरुष की अभिव्यक्ति अधिक है इसलिए वह पुरुष है। यह बात लोक-बुद्धि प्रसूत है लोक के समझने-समझाने के लिए है वास्तव सत्य नहीं है। अतएव पुरुष को पुरुष और स्त्री को स्त्री समझ कर भूल हो सकती है। इस रहस्य का उद्घाटन महामाया ने बाणभट्ट के सामने इस प्रकार किया है— 'तू क्या अपने को पुरुष समझ रहा है और मुझे स्त्री? यही प्रमाद है। तुममें पुरुष की अपेक्षा प्रकृति की अभिव्यक्ति की मात्रा अधिक है इसलिए मैं स्त्री हूँ। तुममें प्रकृति की अपेक्षा पुरुष की अभिव्यक्ति अधिक है इसलिए तू पुरुष है। यह लोक की प्रवृत्ति प्रज्ञा है वास्तव सत्य नहीं। इससे स्पष्ट है कि प्रत्येक स्त्री प्रकृति का सही प्रतिनिधित्व नहीं करती। यदि महामाया जैसी स्त्री ने प्रकृति का उपेक्षाकृत निकृष्टतर प्रति

विधित्व है तो बाण जैसे पुरुष में प्रकृति का दूरस्थ प्रतिनिधित्व है। इसीलिए महामाया कहती है— यद्यपि तुम्हें तेरे ही भीतर के प्रकृति-तत्त्व की अपेक्षा पुरुष-तत्त्व अधिक है पर वह पुरुष तत्त्व मेरे भीतर के पुरुष-तत्त्व की अपेक्षा अधिक नहीं है। मैं तुम्हारे अधिक निःसंग अधिक निर्द्वन्द्व और अधिक मुक्त हूं।

स्त्री और पुरुष में निहित 'प्रकृति' की अभिव्यक्ति 'पुरुष' से होती है। इसीलिए महामाया कहती है— 'मैं अपने भीतर की अधिक मात्रा वाली प्रकृति को अपने ही भीतर वाले पुरुष-तत्त्व से अभिभूत नहीं कर सकती। इसीलिए मुझे अघोर भैरव की आवश्यकता है। जो कोई भी 'पुरुष'—अशान्ति वाला मनुष्य मेरे विकास का साधन नहीं हो सकता।

क्या स्त्री विघ्नरूपा है?

नारी का जन्म विघ्न के लिए ही हुआ है। पुरुषों के समस्त वैराग्य के आयोजन तपस्या के विशाल मठ मुक्ति-साधना के अनुसंधान आश्रय नारी की एक बंकिम दृष्टि में ढह जाते हैं। नारीहीन तपस्या संसार को नहीं सुख है। नारी के सहयोग के बिना संसार के अनेक विकास आयोजन असफल एवं ध्वस्त हो जाते हैं और सारा ठाट बाट संसार में केवल अशान्ति पैदा कर सकता है।

नारी को विघ्न रूप में कोई विघ्न न समझ लेना चाहिये। विघ्न नारी कोई महत्त्वपूर्ण वस्तु नहीं है। महत्त्वपूर्ण वस्तु तो नारी-तत्त्व है। महिषी के इस प्रश्न के उत्तर में— 'तो क्या माता, क्या स्त्रियाँ सेना में भरती होने लगें या राजगद्दी पाने लगें, तो यह अशान्ति दूर हो जायगी?'' महामाया का यह उत्तर बहुत महत्त्वपूर्ण है—''सत्य है, मैं दूसरी बात कह रही थी। मैं विघ्न नारी को कोई महत्त्वपूर्ण वस्तु नहीं मानती। तुम्हारे इस भट्ट ने भी मुझसे पहली बार इसी प्रकार का प्रश्न किया था। मैं नारी-तत्त्व की बात कह रही हूं रे! सेना में अगर विघ्न नारियों का दल भरती हो भी जाय, तो भी जब तक असल नारी तत्त्व की प्रधानता नहीं होती तब तक अशान्ति बनी रहेगी।'

अपने निषेधरूप में भी नारी की शक्ति के दो लोक हैं—एक में वह बन्धन करती है और दूसरे में पुरुष को मुक्त करती है। पुरुष को बाँधने में उसकी सफलता है और मुक्त करने में सार्थकता। तपस्वी के इन शब्दों में नारी की सार्थकता का संकेत मिल जाता है—''मैं माता की आज्ञा से तुम्हारा हाथ पकड़ना चाहता हूं!'' क्या तुम जीवन में मेरे लक्ष्य की ओर बढ़ने में मुझे सहायता पहुँचाने को तैयार हो!' सुचरिता की बातों भी इसी का प्रमाण दे रही है— 'मैं नारायण पर उत्सृष्ट पुष्प-वृन्त के समान गन्धहीन होकर भी सार्थक ही हूं।

नारी सौंदर्य की महिमा

नारी-सौन्दर्य गर्हणीय नहीं है जैसा कि कुछ लोग समझते रहे हैं। आर्य-भूमि में नारी के वास्तविक सौन्दर्य की पूजा होती रही है। ''स्त्रियाँ ही रत्नों को भूषित करती हैं, रत्न स्त्रियों को क्या भूषित करेंगे! स्त्रियाँ तो रत्न के बिना भी मनोहारिणी

होती है, किन्तु स्त्री का अङ्ग-संग पाये बिना रत्न किसी का मन हरण नहीं करते।" बृहत्संहिता में वराहमिहिर ने यही कहा है—

'रत्नानि विभूषयन्ति योषा भूष्यन्ते वनिता न रत्नकान्त्या।
चेतो वनिता हरन्त्यरत्ना नो रत्नानि विनाङ्गनाङ्गसङ्गात्॥'

आज यदि आचार्य वराहमिहिर यहाँ उपस्थित होते तो और भी आगे बढ़कर कहते— धर्म-कर्म, भक्ति-ज्ञान शान्ति-सौमनस्य कुछ भी नारी का सस्पर्श पाये बिना मनोहर नहीं होते—नारी-देह वह स्पर्श-मणि है जो प्रत्येक ईंट-पत्थर को सोना बना देती है।'

नारी का एक भेद, गणिका

आज हमारे यहाँ गणिका की स्थिति बड़ी शोच्य है। समाज उसके कलावैशिष्ट्य को भूलकर उसे हीन या कुत्सित नारी मान बैठा है। बाणभट्ट के सामने गणिका का प्रश्न एक जटिल समस्या है। 'गणिका नगर का शृङ्गार होती है या नगर का अङ्गार। वह क्या एक ही साथ अमृत और विष का मिश्रण है? शूद्रक ने वसन्तसेना को पद्म-हीन लक्ष्मी अनंगदेवता का ललित अस्त्र कुल-वधुओं का शाप और मदनवृक्ष का पुष्प कहा था। आज का कैसा दुर्ललित परिहास है। जो लक्ष्मी है वही शाप भी है जो फूल है वही मारणास्त्र भी है।

नारी के अनेक स्तर

हमारे समाज में रानी से लेकर परिचारिका तक के और गणिका से लेकर वारु-वनिता तक के सैकड़ों स्तर हैं यह बड़े खेद की बात है। बाणभट्ट स्वर्ग की कल्पना उसी समाज में करता है जिसमें ये स्तर नहीं हैं। "यह जो दुःखताप है निर्यातन है पर्वत है परस्तरविमर्द है ये विकृत समाज-व्यवस्था के विकृत परिणाम हैं।'

निष्कर्ष यह है कि बाणभट्ट की आत्मकथा में विविध पहलुओं के आवह से 'नारी' ने एक समस्या का रूप धारण किया है। क्या उसकी कोई सत्ता नहीं है? उसकी उपेक्षा क्यों की जाती है? क्या उसकी शक्ति का समुचित मूल्यांकन किया जाता है? क्या उसकी भुवनमोहिनी क्षमता निष्फल और व्यर्थ है? क्या नारी को अनेक स्तरों पर रख कर देखना उचित होगा? क्या उसके सौन्दर्य की पावनता का अवमान नहीं किया जा रहा है? आदि-आदि प्रश्न आत्मकथा के प्राण हैं। इन सबका उत्तर बाणभट्ट की एक दृढ़ मान्यता में मिल जाता है—"नारी-देह देव-मन्दिर के समान पवित्र है और नारी संसार की सब से सम्पूर्ण वस्तु है। उसका अपमानित होना लज्जाजनक एवं असह्य है।"

१५ प्रमुख पात्रों का मूल्यांकन

'आत्मकथा' के स्त्री और पुरुष पात्रों को अनेक वर्गों में विभक्त किया जा सकता है। विशेष और सामान्य के नाम से पात्र दो वर्गों में रखे जा सकते हैं। विशेष वर्ग के तीन उपवर्ग हो सकते हैं—(क) राजा राजपुरुष तथा सामंत, (ख) सिद्ध साधक एवं साधिकाएँ—गुरु-शिष्य (ग) गणिका एवं नर्तकियाँ। इन वर्गों और उपवर्गों से बचे हुए पात्र सामान्य वर्ग में रखे जा सकते हैं। वर्गों से परिचित होते ही 'आत्मकथा' का एक ऐसा चित्र पाठक की दृष्टि में भर जाता है जिसमें वर्गबद्ध पात्र अपने-अपने स्थान पर प्रतिष्ठित दिखाई देते हैं।

इन वर्गों के अतिरिक्त वर्गीकरण का एक अन्य आधार भी स्वीकार किया जा सकता है। इस आधार पर तीन प्रकार के पात्र दृष्टिगोचर होते हैं—(१) वे पात्र जो कथा-चित्र की रेखाएँ बने हुए हैं (२) वे पात्र जो उस चित्र में वर्ण का काम करते हैं, तथा (३) वे पात्र जो कथा-चित्र की पृष्ठ-भूमि के निर्माण में योग देते हैं। पात्रों के महत्त्व को आँकने की दृष्टि से यह वर्गीकरण अधिक ग्राह्य है।

वैसे तो कथा की सृष्टि में दीदी के महत्त्व को भी भुलाया नहीं जा सकता। महत्त्व की दृष्टि से दीदी के संबंध में अन्यत्र विचार किया जा चुका है, किन्तु वे पात्र जो कथा चित्र की रेखाएँ बने हुए हैं कथा के तात्त्विक उपकरणों में विशेष महत्त्व रखते हैं और वे तीन ही हैं—बाण निपुणिका तथा भट्टिनी। बाण ऐतिहासिक पात्र है किन्तु उसका 'वर्ण' काल्पनिक है। निपुणिका और भट्टिनी की सृष्टि कल्पना से हुई है। बाण के काल्पनिक वर्णाभिव्यंजन में भी इन दोनों का बहुत बड़ा योग है।

पाठक के समक्ष सामान्यतया बाणभट्ट निपुणिका भट्टिनी सुचरिता, हर्षवर्धन कृष्णवर्धन, बौद्धाचार्य तार्किक अघोरभैरव महामाया धोरिकदेव बौद्धभिक्षु, राज्यश्री आदि पात्र ही अपने महत्त्वपूर्ण आचरण में प्रकट होते हैं, किन्तु आलोचक की दृष्टि में उक्त तीन पात्र ही तात्त्विक मीमांसा के प्रमुख उपादान का रूप धारण करते हैं।

बाण पर लेखक की उदारता और कृपा की प्रमुख वृष्टि हुई है। वैसे तो लेखक की कृपा का पात्र बहुधा प्रमुख पात्र ही होता है किन्तु आ द्विवेदी की सहृदयता बाण पर बरस उठी है। वे बाण के चरित्र को गरिमा प्रदान करके पाठक को ऊँचा उठाने में पूर्णतः सफल हुए हैं।

बाण का वास्तविक नाम वत्स था किन्तु प्रसिद्ध वात्स्यायन व शोण अवन्त भट्ट का पौत्र वह बालक जन्म का आवारा, गप्पी, अस्थिरचित्त और घुमक्कड़ था। अपने गाँव से निकल भागते समय वह अपने साथ गाँव के और भी छोकरों को भगा लेगया।

वे सब उसके साथ न रह सके तो भी वह गाँव में बदनाम तो हो ही गया। मगध की बोली में 'बग्ग' पूछकटे बैल को कहते हैं। यहाँ यह कहावत बहुत प्रसिद्ध है कि 'बग्ग आप गये सो गये, साथ में सौ हाथ का पगहा भी लेते गये।' सो लोग उसे (बाण को) 'बग्ग' कहने लगे। इसी शब्द को सुधार कर (तत्सम रूप में परिवर्तित करके) उसने इसे अपनी उपाधि बना लिया।

छोटी ही आयु में बाण की माँ का निधन होगया चौदह वर्ष की आयु में वह पिता चित्रभानु के स्नेह से भी वंचित होगया। वास्तव में आवारापन के बीज तो बाण में माँ की मृत्यु के उपरान्त ही जम गये थे। पिता के बाद बड़े चचेरे भाई उपपतिभट्ट के अभाव स्नेह में निमग्न रहने से उसके आवारापन में सुधार न हुआ। आवारा बाण नगर-नगर, जनपद-जनपद मारा-मारा फिरता रहा। सट्टकर्म, कलानुशीलनों के क्षेत्र नाट्याभिनय, पुराण-वाचन आदि अनेक व्यवसायों से सम्बद्ध होकर भी उसकी वृत्ति कहीं रम न सकी। फिर भी उसके प्रत्येक कर्म से लोग प्रभावित हुए बिना न रह सके। इसका प्रमुख कारण उसका रूप-लावण्य और वाक्चातुर्य था। उसकी किशोरावस्था और युवावस्था में उसके इन दो गुणों ने उसकी बड़ी सहायता की किन्तु उसके अनुचित कार्य-कलाप को देखकर लोग उसे 'बग्ग' समझते थे।

वह स्नान करके शुक्ल पुष्पों की माला धारण करता था आयुक्त शुक्ल पीत उत्तरीय धारण करता था—यही उसका प्रिय वेश था। अग्नान् स्पन्दक का उपासक बाण बड़ा साहसी व्यक्ति था और किसी भी काम में बड़े उत्साह से जुट जाता था। उत्साह आदि गुणों के होते हुए भी बाण किसी काम की योजना बनाकर नहीं करता था इसीलिए वह अपनी किसी पुस्तक को समाप्त नहीं कर पाया। वह कभी किसी बन्धन में नहीं बँधा और न बंधन उसे रोचक ही प्रतीत होता था। भट्टिनी की रक्षा का भार लेकर अवश्य ही बाण को एक बंधन की प्रतीति हुई थी किन्तु दैवाभाव ने उसे भट्टिनी के प्रति जो प्रेम अर्पित कर दिया था उससे वह बंधन उसकी प्रवृत्ति को आकुंचित नहीं करता था।

बाण मुक्त वृत्ति था, अतएव उसको भावों की प्रचुर निधि और सौन्दर्यबोध की अद्भुत क्षमता स्वतः ही प्राप्त थी। सुन्दर क्या है? इसे वह अक्षर और वर्तिका-तूलिकाओं से आँकता था। निपुणिका को व दुनियों के मुखावलोकन में उसका इस बोध शक्ति को देखिये—

"निपुणिका बहुत अधिक सुन्दरी नहीं था। उसका रंग अवश्य मेघालिका के कुसुम-मलाव के रंग से मिलता था परन्तु उसकी सबसे बड़ी चारुता-सम्पत्ति उसकी आँखें और भौंहें थीं। भौंहों को मैं बहुत महत्त्वपूर्ण सौन्दर्योपादान समझता हूँ। मुखों को प्राणोद्भासन और चेहरे-मुहाँ को सजीव बनाने में पतली सुरुचिपूर्ण भौंहें अद्भुत प्रभाव डालती हैं।"

१५ प्रमुख पात्रों का मूल्यांकन

'आत्मकथा' के स्त्री और पुरुष पात्रों को अनेक वर्गों में विभक्त किया जा सकता है। विशेष और सामान्य के नाम से पात्र दो वर्गों में रखे जा सकते हैं। विशेष वर्ग के तीन उपवर्ग हो सकते हैं—(क) राजा, राजपुरुष तथा सामंत, (ख) सिद्ध, साधक एवं साधिकाएँ—गुरु-शिष्य (ग) गणिका एवं नर्तकियाँ। इन वर्गों और उपवर्गों से बचे हुए पात्र सामान्य वर्ग में रखे जा सकते हैं। वर्गों से परिचित होते ही 'आत्मकथा' का एक ऐसा चित्र पाठक की दृष्टि में भर जाता है जिसमें वर्गगत पात्र अपने-अपने स्थान पर प्रतिष्ठित दिखाई देते हैं।

इन वर्गों के अतिरिक्त वर्गीकरण का एक अन्य आधार भी स्वीकार किया जा सकता है। इस आधार पर तीन प्रकार के पात्र दृष्टिगोचर होते हैं—(१) वे पात्र जो कथा-चित्र की रेखाएँ बने हुए हैं (२) वे पात्र जो उस चित्र में वर्ण का काम करते हैं, तथा (३) वे पात्र जो कथा-चित्र की पृष्ठ-भूमि के निर्माण में योग देते हैं। पात्रों के महत्त्व को आँकने की दृष्टि से यह वर्गीकरण अधिक ग्राह्य है।

वैसे तो कथा की सृष्टि में दीदी के महत्त्व को भी भुलाया नहीं जा सकता। महत्त्व की दृष्टि से दीदी के संबंध में अन्यत्र विचार किया जा चुका है; किन्तु वे पात्र जो कथा-चित्र की रेखाएँ बने हुए हैं कथा के तात्त्विक उपकरणों में विशेष महत्त्व रखते हैं और वे तीन ही हैं—बाण निपुणिका तथा भट्टिनी। बाण ऐतिहासिक पात्र है किन्तु उसका 'वर्ण' काल्पनिक है। निपुणिका और भट्टिनी की सृष्टि कल्पना से हुई है। बाण के काल्पनिक वर्णाभिव्यंजन में भी इन दोनों का बहुत बड़ा योग है।

पाठक के समक्ष सामान्यतया बाणभट्ट निपुणिका भट्टिनी, सुचरिता हर्षवर्धन कृष्णवर्धन, बौद्धाचार्य तार्किक अघोरभैरव महामाया लोरिकदेव बौद्धभिक्षु, राजश्री आदि पात्र ही अपने महत्त्वपूर्ण आचरण में प्रकट होते हैं किन्तु आलोचक की दृष्टि में उक्त तीन पात्र ही तात्त्विक मीमांसा के प्रमुख उपादान का रूप धारण करते हैं।

बाण पर लेखक की प्रखरता और कृपा की प्रखर दृष्टि हुई है। वैसे तो लेखक की कृपा का पात्र बहुधा प्रमुख पात्र ही होता है, किन्तु डा० द्विवेदी की सहृदयता बाण पर बरस उठी है। वे बाण के चरित्र को गरिमा प्रदान करके बाण को ऊँचा उठाने में पूर्णतः सफल हुए हैं।

बाण का वास्तविक नाम दक्ष था, किन्तु प्रसिद्ध वात्स्यायन वंशीय जयन्त भट्ट का पौत्र यह बालक जन्म का आवारा, गप्पी, अस्थिरचित्त और घुमक्कड़ था। अपने गाँव से निकल भागते समय वह अपने साथ गाँव के और भी छोकरों को भगा लेगया।

वे सब उसके साथ न रह सके तो भी वह गाँव में बदनाम तो हो ही गया। मगध की बोली में 'बग्ग' पुष्पकटे बेल को कहते हैं। वहाँ यह कहावत बहुत प्रसिद्ध है कि 'बग्ग आप गये सो गये साथ में भी हाथ का पगहा भी लेते गये।' सो लोग उसे (बाण को) 'बग्ग' कहने लगे। इसी शब्द को सुधार कर (तत्सम रूप में परिणित करके) उसने इसे अपनी उपाधि बना लिया।

छोटी ही आयु में बाण की माँ का निधन होगया चौदह वर्ष की आयु में वह पिता चित्रभानु के स्नेह से भी वंचित होगया। वास्तव में आवारापन के बीज तो बाण में माँ की मृत्यु के उपरान्त ही जम गये थे। पिता के बाद बड़े चचेरे भाई उपपतिभट्ट के अभाव स्नेह में निमग्न रहने से उसके आवारापन में सुधार न हुआ। आवारा बाण नगर-नगर, जनपद-जनपद मारा-मारा फिरता रहा। नटकर्म, कठपुतलियों के खेल, नाट्याभिनय, पुराण-वाचन आदि अनेक व्यवसायों से संबद्ध होकर भी उसकी रुचि कहीं रम न सकी। फिर भी उसके प्रत्येक कर्म से लोग प्रभावित हुए बिना न रह सके। इसका प्रमुख कारण उसका रूप-लावण्य और वाक्चातुर्य था। उसकी किशोरावस्था और युवावस्था में उसके इन दो गुणों ने उसकी बड़ी सहायता की किन्तु उसके बहुविध कार्य कलाप को देखकर लोग उसे 'धूर्त' समझते थे।

वह स्नान करके शुक्ल पुष्पों की माला धारण करता था आपुण्ड्र धवल धौत उत्तरीय धारण करता था—यही उसका प्रिय वेश था। भगवान् त्र्यम्बक का उपासक बाण बड़ा साहसी व्यक्ति था और किसी भी काम में बड़े उत्साह से कूद जाता था। उत्साह आदि गुणों के होते हुए भी बाण किसी काम को योजना बनाकर नहीं करता था इसीलिए वह अपनी किसी पुस्तक को समाप्त नहीं कर पाया। वह कभी किसी बन्धन में नहीं बँधा और न बंधन उसे रोचक ही प्रतीत होता था। भट्टिनी को रक्षा का भार लेकर अवश्य ही बाण को एक बंधन की प्रतीति हुई थी किन्तु दैवाभाव ने उसे भट्टिनी के प्रति जो प्रेम अर्पित कर दिया था, उससे वह बंधन उसकी प्रकृति को आहत नहीं करता था।

बाण मूलतः कवि था, अतएव उसको भावों की प्रखर निपि और सौन्दर्यबोध की अद्भुत क्षमता स्वतः ही प्राप्त थी। सुन्दर क्या है? इसे वह अवसर और परिस्थितियों से आँकता था। निपुणिका की अंगुलियों के मूल्यांकन में उसकी इस बोध शक्ति को देखिये—

"निपुणिका बहुत अधिक सुन्दरी नहीं थी। उसका रंग अवश्य रोचनिका के कुसुमनाम के रंग से मिलता था परन्तु उसकी सबसे बड़ी चारुता-सम्पत्ति उसकी आँखें और अँगुलियाँ ही थीं। अँगुलियों को मैं बहुत महत्वपूर्ण सौन्दर्योपादान समझता हूँ। नटी की प्राणवान्वित और पताक-मुद्राओं को सफल बनाने में पतली लम्बी अँगुलियाँ अद्भुत प्रभाव डालती हैं।"

भट्ट की कवित्व-शक्ति से उनके साथ रहने वाले परिचित हैं। उनकी वाणी से उनके कवित्व का परिचय मिल जाता है। निपुणिका ऐसे ही शब्दों को पहचान कर कहती है—"भट्ट! XX कविता छोड़ो।" भट्टिनी भी भट्ट की कवित्वशक्ति से परिचित और विश्वस्त है। उनके शब्दों में इसका परिचय यह है—

'निपुणिका XXX भट्ट पर मेरा पूर्ण विश्वास है। कवित्व की शक्ति तू नहीं जानती। भट्ट कवि हैं।" कौन कहता है, भट्ट कि तुम कवि नहीं हो? श्लोक बनाना ही तो कविता नहीं है। XXX तुम्हारे चारित्र्यपूत हृदय में सरस्वती का निवास है। तुम्हारे अधरों से विमल-धारा की भाँति वाणी का स्रोत झरता रहता है। कौन कहता है कि तुम कवि नहीं हो? XXX भट्ट, कविता श्लोक को नहीं कहते। कविता का प्राण है रस विशुद्ध सात्त्विक रस। तुम सच्चे कवि हो। मेरी बात गाँठ बाँध लो, तुम इस आर्यावर्त के द्वितीय कालिदास हो।" एकबार नहीं भट्टिनी ने अपनी इस धारणा को दूसरे स्थान पर भी दुहराया है— 'तुम इस आर्यावर्त के द्वितीय कालिदास हो, तुम्हारे मुख से निर्मल वाग्धारा झरती रहती है तुम्हारा अन्तःकरण पर-कल्याण-कामना से परिपूर्ण है XXX तुम्हारे मुख में सरस्वती का निवास है।"

बाण का भावुक हृदय संकट के समय अपने आस्तिक्यपूर्ण मन से शक्ति सकलित करता है। उसे ईश्वर की शक्ति में पूर्ण विश्वास है और यह विश्वास उसके विकीर्ण साहस को सकलित कर देता है। गंगा में नौका पर आरूढ़ होने के समय उसके आस्तिक हृदय की उत्साह-स्फूर्ति देखने योग्य है—

'मेरे मन में कहीं भी कोई आशा नहीं थी, पर फिर भी आशावाद के अरोसे मैं थोड़ा आश्वस्त हो लेना चाहता था। दुर्बल का संबल ही ईश्वर है। मैं उठ पड़ा। जय हो उस महाविष्णु की, उस नरसिंह-मूर्ति की, जिसकी क्रोध-कम्पायित नाल दृष्टि ने ही हिरण्यकशिपु का वक्ष विकीर्ण कर दिया था। जय हो उस महिमाशाली वराहमूर्ति की, जिसके चक्रकिरणों के अंकुर के समान दाँतों ने असुर-कुल में अन्धकार उत्पन्न कर दिया था। मैं उठ पड़ा।

बाण स्त्री-सौन्दर्य का प्रशंसक है, किन्तु उसकी सौन्दर्य-दर्शिनी दृष्टि में कलुष का कहीं नाम नहीं है। उसे सौन्दर्य की ओट में दीप्त ही विनायिका शक्ति की ज्योति दिखलाई देती है—

"भट्टिनी के चारों ओर एक अनुपम-शक्ति सहज रही थी। मैं थोड़ी देर तक उस शोभा को देखता रहा। मन-ही-मन मैंने सोचा कि कैसा आश्चर्य है, विधाता का कैसा रूप-विधान है।"

ऐसे स्थलों पर बाण का कवि उभर आता है उसकी भावुकता झलकने लगती है और सौन्दर्य-बोधकी विमल दीप्ति शब्दों में चमकने लगती है। नारी-सौन्दर्य किसी भी

भावुक के हृदय को आन्दोलित कर सकता है किन्तु कवि-हृदय की तरलता विशेष रूप से द्रष्टव्य है। बाण की शक्ति में इसका प्रमाण इस प्रकार है—"मैं नारी-सौंदर्य को संसार की सबसे अधिक प्रभावोत्पादिनी शक्ति मानता रहा हूँ।" छोटे राजकुल के अन्तःपुर में भट्टिनी की छवि पर विचार करता हुआ बाण स्त्री को— 'सृष्टि की सबसे बहुमूल्य वस्तु" मानता है। उसकी मान्यता में 'नारी-सौंदर्य' पूज्य है, वह देव-प्रतिमा है।

निपुणिका के शब्दों में तो बाण 'देवता' है। वह स्त्री का आदर करता है, उसके सौंदर्य का पूजा मानता है, किन्तु स्त्री के तलवे नहीं चाटता।

निपुणिका बाण को देवता-तुल्य आदर देती है। उसके ये शब्द इस बात का प्रमाण हैं—"देखो भट्ट, तुम नहीं जानते कि तुमने मेरे इस पाप-मलिन शरीर में कैसा प्रचुर्य चन्दन लिपा रखा है। तुम मेरे देवता हो, मैं तुम्हारा नाम अपने वाणी अधम नारी हूँ।" निउनिया के इस भाव की पुष्टि भट्टिनी के इन शब्दों से भी हो जाती है—तो तू भट्ट को क्या समझती है, बेटी? "क्या समझती हूँ, भगवति सो मैं नहीं जानती। निउनिया कहती थी कि भट्ट देवता हैं।"

इस भाव की बाण ने अपनी सहृदयता, उदारता और सेवा-वृत्ति से अर्जित किया है। उसकी सेवा-वृत्ति किसी कामना या स्वार्थ से प्रेरित नहीं है, उसमें भक्त की सी अनासक्त भावना है—निर्मल एवं अनाविल। बाणके प्रेम में आसक्ति कहीं नहीं है। उसे "निरन्तर परिवर्तमान बाह्य आवरणों के भीतर एक परम अपरिवर्तनीय देवता की स्तब्ध प्रतिमा" दृष्टि-गोचर होती है। "उस देवता के नहीं देखने वाले ही यौवन को मत्त मदराज कहा करते हैं, अनुराग को मानस-अन्धकार बताया करते हैं सहज भाव को अकिंचन सीधा का नाम दिया करते हैं।" बाण के देवता की सही तस्वीर उसके इन शब्दों में और साफ दीख जाती है— 'यामवीणता को घेर कर जब मधुकर श्रेणी गुंजार करती रहती है तो मैं स्पष्ट ही पुष्पों के भीतर नीरस के रूप में स्तब्ध उस महा देवता को देख पाता हूँ' नहीं जब उन्मत्त वेग से अपने सर्वस्व को दोनों हाथ से लुटाते हुए समुद्र की ओर दौड़ती रहती है, तो उस महाशान्तरूप देवता का मुझे साक्षात्कार होता है' मेघ के श्यामल-मेदुर वक्ष-स्थल में क्षण भर के लिए जब विद्युत्प्रभा विद्युत् चमक कर छिप जाती है तो उस समय भी मैं उस व्याकुल वेदना के देवता को देखना नहीं भूलता।"

बाण शरीर से पुष्ट और मनसे धैर्यवान है। वह अनेक विद्याओं और कलाओं का पंडित और कवि होने में असमर्थ-सा प्रतीत होता है। निराहार रहने की साधना में तो बाणों वह पक्का साधक है। अपने आवारा जीवनमें उसने यही साधना की है। उसके बलवान परिचय अघोरघंट को यदा कदा वह देखनेवाली घटना से मिल सकता है। 'मैंने अघोरघंट को कंधे पर उठा लिया और किस प्रकार का साहस किया, वह तो याद नहीं है' पर इतना याद है कि श्मशान का कोई भी कोना मेरे उत्ताल भवन से अस्पृष्ट नहीं रहा। अन्त में मैंने अघोरघंट को गंगा में फेंक दिया।" उसके अच्छे तैराक होने से भी उसकी शक्ति का

अनुमान लगाया जा सकता है। बाणके शब्दों में उसकी शक्ति का प्रमाण लीजिये– 'मुझ में न जाने कहाँ से अद्भुत शक्ति आगई थी। भट्टिनी को मैंने पकड़ लिया और अपनी पीठ पर डाल लिया। XXXX धारा के विरुद्ध मैं देर तक नहीं जूझ सका। लाचार होकर धारा के अनुकूल बहने लगा।"

यह ठीक है कि बाण ने अपना सारा जीवन अजङ्घाल की जाति मस्ती से बिताया है, किन्तु वह उसकी भाँति अनर्गलचारी नहीं है। उसे अपने कर्तव्य का ध्यान है। वह वीरव्रती और प्रजापालक है। एक बार भट्टिनी के उद्धार का बीड़ा उठाकर किसी भी परिस्थिति में भट्टिनी का साथ छोड़ने वाला नहीं है। कुमार कृष्णवर्धन को उसने अपनी प्राणवीरता का परिचय भी दे दिया है। उसे लोग अपशकुन कहते हैं, यह उसका अतिरंजित आरोप है। उसमें एक किशोर का-सा स्वाभिमान, वीर की-सी निर्भीकता, निर्द्वन्द्व व्यक्ति की-सी आत्मनिर्भरता और महाबली का-सा आत्मविश्वास है।

उसके मनमें आत्मोद्धारक की सहज संवेदन-शीलता का आभास है। वह दुखी-जनों के दुःख-मोचन को धर्म समझता है। इससे स्पष्ट है कि वह धर्म-कर्म की संकीर्ण परिधि-सीमाओं में जकड़ने वाला ब्राह्मण नहीं है। उसने निउनिया को बड़े स्पष्ट शब्दों में बता दिया है– 'साधारणतः लोग जिस उचित-अनुचित के बंधे रास्ते में सोचते हैं उससे मैं नहीं सोचता। मैं अपनी बुद्धि से अनुचित-उचित की विवेचना करता हूँ। मैं मोह और लोभवश किये गये समस्त कार्यों को अनुचित मानता हूँ।' इन वाक्यों से भी स्पष्ट है कि मोह और लोभ के घोर शत्रुओं को बाण के अनासक्ति-भाव के सामने घुटने टेकने पड़े हैं।

पहाड़ की चिन्तनी चिताने वाला बाण भट्टिनी के उद्धार के बचन में इतना कस जायगा यह कौन सोच सकता है। उसकी स्वतन्त्रता स्वार्थोत्थित परतन्त्रता में बदल गई है। विस्मय की बात तो यह है कि जिस पराधीनता को बाण स्वयं मोल लेता है उसके विरुद्ध उसका मन एक बार भी तो विद्रोह नहीं करता है। भट्टिनी और निपुणिका दोनों उसके प्रेम-नवनीत की कोमल पुतलियाँ हैं। उसके अनुराग की अर्धाङ्गिनी दोनोंमें झलकती है। दोनों के प्रति उसकी प्रकाम सहानुभूति है किन्तु निपुणिका के प्रति उसकी करुणा का अटूट प्रवाह है और भट्टिनी के प्रति आदर और श्रद्धा का। दोनों के हृदय-सौन्दर्य का वह पुजारी है। दोनों के भक्ति-भाव का वह आदर करता है। भट्टिनी के प्रति उसके भाव का मूल्य उस समय अभिव्यक्त हो जाता है जब वह वाममार्गी बाबा अघोर भैरव के सामने यह स्वीकार करता है– 'उस कन्या का सेवक होना गौरव का विषय है आर्य! मैं उसके मंगल के लिए प्राण तक दे सकता हूँ। X X X X भट्टिनी के प्रति मेरी पूज्य भावना है।

निपुणिका और भट्टिनी के प्रति बाण के भावों का रूप-चित्र उसके शब्दों में इस प्रकार दिया गया है– 'निपुणिका से मैं खुलकर बातें कर सकता हूँ। भट्टिनी के सामने

मुक्त में एक प्रकार की मोहनकारी गरिमा आ जाती है।" इससे स्पष्ट है कि भट्ट निउ निया के 'अन्तर' का समीप से जानता है, किन्तु वह भट्टिनी के रूप पर मुग्ध है। भट्टिनी को रूप-माधुरी को वह देखता ही रह जाता है। बाण को निपुणिका का हृदय अत्यन्त मोहक और आकर्षक प्रतीत हुआ है। वह जानता है कि "निपुणिका में इतने गुण हैं कि वह समाज और परिवार की पूजा का पात्र हो सकती थी।" "निपुणिका में सेवा-भाव इतना अधिक है कि मुझे आश्चर्य होता है। उसने मेरी सेवा इतने प्रकार से और इतनी मात्रा में की है कि मैं उसका प्रतिदान जन्म-जन्मान्तर में भी नहीं कर सकूँगा।+++ निपुणिका जैसी सेवा-परायण चारुस्मिता शीलावती ललना के प्रति जिस पुरुष की श्रद्धा और प्रीति उच्छ्वसित न हो उठे वह वज्र पाषाण-पिण्ड से अधिक मूल्य नहीं रखता।

बाण भट्टिनी के सौन्दर्य से अभिभूत तो है ही प्रतीत ऐसा भी होता है कि वह उसके कुल और वंश की पृष्ठभूमि से भी प्रभावित होता है। वह भट्टिनी के आदेश को पालने में गौरव समझता है और भट्टिनी की सेवा करने में अपना अहो-भाग्य। उसी के वाक्यों में देखिये—"हाय महाकवि क्यों नहीं तुम मेरे चित्त में सचमुच अवतार ग्रहण करते? कम से कम भट्टिनी का आदेश पालन करने की बुद्धि मुझे दो। ऐसा हो कि मेरी प्रतिभा का अकुण्ठ विलास नर-लोक से किन्नर-लोक तक फैले हुए एक ही रागात्मक हृदय का परिचय पा सके।' +++ मैंने व्याकुल गद्गद कंठ से कहा—'देवि, मेरे पास जो कुछ भी है वह तुम्हारा है। अगर कोई काव्य-शक्ति मेरे पास हो तो वह निश्चय ही तुम्हें समर्पित होकर धन्य होगी।"

कहने की आवश्यकता नहीं कि भट्टिनी के प्रति बाण की ममता, भक्ति की सीमा में पहुँचकर पावन हो गई। बाण को हृदय से प्यार करने वाली भट्टिनी उसके द्वारा देवी रूप में पूजित होकर बड़े संकोच में पड़ गई। बाण ने भट्टिनी को सदैव एक ही ऊँचाई पर रख कर देखा है क्योंकि उसके अनुसार अपना ही सौन्दर्य है आत्मदमन ही सुरुचि है, अपाएँ ही माधुर्य है। नहीं तो यह जीवन व्यर्थ का बोझ होजाता। वास्तविकताएँ नग्न-रूप में प्रकट होकर कुत्सित बन जाती।"

बाण साहसी और अटल निर्भीक और निरीह, कारुणिक और विनोदी भक्त और रसिक, ब्राह्मण और शूद्र, अनासक्त और स्वाभिमानी तथा भोला और विद्वान्‌ है। उसके चरित्र का एक लघु किन्तु दीप्त चित्र उसी के शब्दों में देख सकते हैं—

'आकाश के नक्षत्रों वाली रहना बाणभट्ट पथ-भ्रान्त अकर्मा नहीं है छिन्न रज्जु पतङ्गवान् की भाँति अनर्थकारी नहीं है केदारीपाटित दुर्बादल की भाँति रास्ते पर विक्षिप्त हतभाग्य नहीं है वनमें खिलकर मुरझा जाने वाले पंचमी फूल की भाँति निष्फल जन्मा नहीं है सुरसुषुप्त पुलिकता के समान आश्रयहीन नहीं है मरुदावार में सूख जाने वाली नदी के समान व्यर्थ काम नहीं है।" इस चित्र में बाण की आत्मा निष्ठा भावुकता, कर्मव्यता, कवित्वता आदि का सहज संकेत मिल जाता है। हिन्दी

अनुमान लगाया जा सकता है। बाणके शब्दों में उसकी शक्ति का प्रमाण लीजिये–"युद्ध में न जाने कहाँ से अद्भुत शक्ति आगई थी। भट्टिनी को मैंने पकड़ लिया और अपनी पीठ पर डाल लिया। ×××× धारा के विरुद्ध मैं देर तक नहीं जूझ सका। लाचार होकर धारा के अनुकूल बहने लगा।

यह ठीक है कि बाण ने अपना सारा जीवन अनहलाद की भाँति मस्ती से बिताया है, किन्तु वह उसकी भाँति अनर्गलचारी नहीं है। उसे अपने कर्तव्य का ध्यान है। वह वीरव्रती और प्रजापालक है। एक बार भट्टिनी के उद्धार का बीड़ा उठाकर किसी भी परिस्थिति में भट्टिनी का साथ छोड़ने वाला नहीं है। कुमार कृष्णावर्धन को उसने अपनी प्राणवीरता का परिचय भी दे दिया है। उसे लोग लम्पट कहते हैं, यह उसका प्रतिकूल पारोप है। उसमें एक किशोर का-सा स्वाभिमान, वीर की-सी निर्भीकता, सिद्ध पुरुष की-सी आत्मनिर्भरता और महाकवि का-सा आत्मविश्वास है।

उसके मनमें आत्मोद्धारक की सहज संवेदन-शीलता का आभास है। वह दुखी-जनों के दुःख-मोचन को मुख्य समझता है। इससे स्पष्ट है कि वह धर्म-कर्म की संकीर्ण रूढ़ि-बीथियों में भटकाने वाला ब्राह्मण नहीं है। उसने निपुणिका को बड़े स्पष्ट शब्दों में बता दिया है– साधारणतः लोग जिस उचित-अनुचित के बँधे रास्ते से सोचते हैं, उससे मैं नहीं सोचता। मैं अपनी बुद्धि से अनुचित-उचित की विवेचना करता हूँ। मैं मोह और लोभवश किये गये समस्त कार्यों को अनुचित मानता हूँ। इन वाक्यों से भी स्पष्ट है कि मोह और लोभ के घोर शत्रुओं को बाण के अनासक्ति-भाव के सामने घुटने टेकने पड़े हैं।

उच्छृंखल की जिन्दगी बिताने वाला बाण भट्टिनी के उद्धार के बंधन में इतना कस जायगा यह कौन सोच सकता है। उसकी स्वतन्त्रता स्वाधीन परतंत्रता में बदल गई है। विस्मय की बात तो यह है कि जिस पराधीनता को बाण स्वयं मोल लेता है उसके विरुद्ध उसका मन एक बार भी तो विद्रोह नहीं करता है। भट्टिनी और निपुणिका दोनों उसके प्रेम-नवनीत की कोमल पुतलियाँ हैं। उसके अनुराग की उर्वशियाँ दोनोंमें झलकती हैं। दोनों के प्रति उसकी प्रगाढ़ सहानुभूति है किन्तु निपुणिका के प्रति उसकी करुणा का अटूट प्रवाह है और भट्टिनी के प्रति आदर और श्रद्धा का। दोनों के हृदय-सौन्दर्य का वह पुजारी है। दोनों के भक्ति-भाव का वह आदर करता है। भट्टिनी के प्रति उसके भाव का मुख्य उस समय अभिव्यक्त हो जाता है जब वह वामनार्यी बाला अघोर भैरव के सामने यह स्वीकार करता है– उस कन्या का सेवक होना गौरव का विषय है आर्य! मैं उसके मंगल के लिए प्राण तक दे सकता हूँ। × × × × भट्टिनी के प्रति मेरी पूज्य भावना है।

निपुणिका और भट्टिनी के प्रति बाण के भावों का रूप-चित्र उसके शब्दों में इस प्रकार दिया गया है– 'निपुणिका से मैं खुलकर बातें कर सकता हूँ। भट्टिनी के सामने

मुग्ध में एक प्रकार की मोहनकारी जड़िमा आ जाती है।" इससे स्पष्ट है कि भट्ट मित्र निपुणिका के 'अन्तर' को समीप से जानता है किन्तु वह भट्टिनी के रूप पर मुग्ध है। भट्टिनी की रूप-माधुरी को वह देखता ही रह जाता है। बाण को निपुणिका का हृदय अत्यन्त मोहक और आकर्षक प्रतीत हुआ है। वह जानता है कि "निपुणिका में इतने गुण हैं कि वह समाज और परिवार की पूजा का पात्र हो सकती थी।" "निपुणिका में सेवा-भाव इतना अधिक है कि मुझे आश्चर्य होता है। उसने मेरी सेवा इतने प्रकार से और इतनी मात्रा में की है कि मैं उसका प्रतिदान जन्म-जन्मान्तर में भी नहीं कर सकूँगा।+++ निपुणिका जैसी सेवा-परायण चारुस्मिता लीलावती ललना के प्रति जिस पुरुष की श्रद्धा और प्रीति पल्लवित न हो उठे वह जड़ पाषाण-पिण्ड से अधिक मूल्य नहीं रखता।

बाण भट्टिनी के सौन्दर्य से अभिभूत तो है ही, प्रतीत ऐसा भी होता है कि वह उसके कुल और वंश की पृष्ठभूमि से भी प्रभावित होता है। वह भट्टिनी के आदेश को मानने में गौरव समझता है और भट्टिनी की सेवा करने में अपना अहो-भाग्य। उसी के शब्दों में देखिये—"हाय महाकवि क्यों नहीं तुम मेरे चित्त में सचमुच अवतार ग्रहण करते? कम से कम भट्टिनी का आदेश पालन करने की बुद्धि मुझे दो। ऐसा हो कि मेरी प्रतिभा का अमुक्त विलास नर-लोक से किन्नर-लोक तक फैले हुए एक ही रागात्मक हृदय का परिचय पा सके।" +++ मैंने व्याकुल गद्गद कंठ से कहा— 'देवि मेरे पास जो कुछ भी है वह तुम्हारा है। अगर कोई काव्य-शक्ति मेरे पास हो तो वह निश्चय ही तुम्हें समर्पित होकर धन्य होगी।"

कहने की आवश्यकता नहीं कि भट्टिनी के प्रति बाण की श्रद्धा, भक्ति की सीमा में पहुँचकर पावन हो गई। बाण को हृदय से प्यार करने वाली भट्टिनी उसके द्वारा देवी रूप में पूजित होकर बड़े संकोच में पड़ गई। बाण ने भट्टिनी को सदैव एक ही ऊँचाई पर रख कर देखा है क्योंकि उसके अनुसार 'बंधन ही सौन्दर्य है, आत्मदमन ही सुरुचि है, बाधाएँ ही आयुर्वृद्धि हैं। नहीं तो यह जीवन व्यर्थ का बोझ हो जाता। वास्तविकताएँ नग्न रूप में प्रकट होकर कुत्सित बन जाती हैं।"

बाण साहसी और भद्र, निर्भीक और निरीह, कार्यरत और विनोदी, भक्त और रसिक, ब्राह्मण और वीर, प्रसन्नता और स्वाभिमानी तथा प्रेमी और विरक्तात्मा है। उसके चरित्र का एक अंश, किन्तु दीप्त चित्र उसी के शब्दों में देख सकते हैं—

"आकाश के नक्षत्रों, साक्षी रहना बाणभट्ट पथ भ्रान्त अकर्मा नहीं है, छिन्न रज्जु प्रलम्बाद की भाँति अनर्थसंचारी नहीं है, वेदारोपप्रोतित दुर्बादल की भाँति रास्ते पर विक्षिप्त हतभाग्य नहीं है, अनर्थ बिखेरकर मुरझा जाने वाले अंधकारी फूल की भाँति निष्फल जन्मा नहीं है, सुरसुन्दरी पुलिन्दरा के समान आश्रयहीन नहीं है, मरुदावान्तार में सूख जाने वाली नदी के समान व्यर्थ काम नहीं है।" इस चित्र में बाण की आस्था निष्ठा भावुकता कर्मण्यता धार्मिकता आदि का सहज संकेत मिल जाता है। हिन्दी

साहित्य को इतिहास का सबसे बड़ा अनुदान 'बाण' का चरित है। धार्मिक प्रबन्ध रचनाओं में ऐसे चरित्र मिल सकते हैं, किन्तु थोड़े से; परन्तु उपन्यासों में ऐसे चरित्र दुर्लभ हैं। "पुतिया की दृष्टि से आचार्य, सम्राट, 'भुजंग,' 'बन्धु' आदि रूपों में गृहीत बाण के चरित्र को लेखक ने इस प्रकार चित्रित और अनुरंजित किया है कि वह अपने सम्पूर्ण मानवीय गुणों से दीप्त होकर 'नरोत्तम' बन गया है।

निपुणिका

इस कृति का दूसरा प्रमुख पात्र निपुणिका है। वह अपूर्व स्त्री थी। विवाह के एक वर्ष पश्चात् ही वह विधवा हो गई थी। इसके बाद कुछ ऐसे कारण समुपस्थित हो गये थे जिनसे वह घर छोड़ने के लिए विवश हो गई। उस समय बाण ने नाटक-मंडली बना रखी थी। वह उसी में सम्मिलित हो गई। जिस समय वह बाण के पास आई उसकी आयु १६ वर्ष के आसपास थी। वह बहुत डरी हुई मालूम हो रही थी। यद्यपि उसे आश्रय देने में बाण को भय की आशंका थी फिर भी उसे आश्रय दिया। वह बहुत रोती रही और उसके दुःख का अनुभव करके बाण को उस पर इतनी दया आई कि उस दिन रात भर वह सो भी नहीं सका। बाण ने उसकी परिस्थितियों के सम्बन्ध में अधिक पूछताछ भी नहीं की किन्तु वह उसने पहली बार अनुभव किया कि मनुष्य के सामाजिक संबंधों की जड़ में कहीं बहुत बड़ा दोष रह गया है। निपुणिका के गुणों को देख कर बाण को विस्मय होता था। वह सोचता था कि जिस स्त्री में इतने गुण हों वह समाज और परिवार की पूजा का पात्र हो सकती है। वह कुलीन है, कृतज्ञ है, मोहिनी है, शीलावती है। उसमें सेवा-भाव तो इतना अधिक है कि उससे बाण को आश्चर्य होने लगता है।

सेवा भाव और त्याग-भावना के अतिरिक्त उसके स्वभाव की एक बड़ी विशेषता सहनशीलता है। भट्टिनी के कष्ट को देख कर वह व्याकुल हो उठती है और उसे सुख कराये बिना उसे चैन नहीं मिलता। यह काम सरल नहीं था। भट्टिनी को छुड़ाने के लिए उसने भट्ट का और अपने आपको खतरे में डाल कर जो काम किया उसमें परदुःख-कातरता, सहानुभूति, उत्साह और साहस का भाव स्पष्ट है। त्याग का भाव भी निपुणिका के हृदय की अनमोल निधि है। गंगा में दोनों डूब रही हैं। फिर भी वह भट्ट को कहती है—"मुझे छोड़ो, भट्टिनी को संभालो। मृत्यु के मुँह में पहुँचने पर इस प्रकार का त्याग किसी ही उदाहरणों के बीच में आता है।

निपुणिका और भट्टिनी दोनों का आलम्बन बाण है किन्तु निपुणिका में ईर्ष्या या स्पर्धा का भाव कभी भी तो दृष्टिगोचर नहीं होता। वह जिस भाव को लेकर भट्टिनी के प्रति झुकती है उसका निर्वाह वह निरन्तर करती है। भट्टिनी के उद्धार के लिए उसके प्रकरणों में जो सहानुभूति की भावना थी वह आजन्म सुरक्षित रहती है। इस सहानुभूति से प्रेरित होकर वह बाण को कहती है—"महाराज ही मेरे वास्तविक सहायक हैं।

उन्होंने ही तुम्हें यहाँ भेजा है। तुम न आते तो भी मुझे तो यह करना ही था। बोलो भट्ट! तुम यह काम कर सकोगे? तुम असुर गृह में आबद्ध सखी का उद्धार करने का साहस रखते हो? मदिरा के पंक में डूबी हुई कामधेनु का उबारना चाहते हो? बोलो अभी मुझे आना है।" इन वाक्यों में निपुणिका की करुणार्द्र तथा धैर्य उत्साह और आत्मबलिदान के भाव उमड़ते दीख रहे हैं।

इतना ही नहीं जिस भट्टिनी को निपुणिका अपने प्रयत्नों से मुक्त करती है उसके प्रति उसका भाव सम्बन्ध ऊँचा उठता है। वह उसके मान और सम्मान की रक्षा के लिए सदैव सतर्क रहती है। महाराजा के आमंत्रण पर भट्टिनी के स्नानघरोदर जाने की बात पर वह उसके सम्मान की रक्षा के लिए तिलमिला उठती है। बाण को झिड़कती हुई सी निपुणिका बोलती है— "ऐसा बात भट्ट स्पष्ट बात को तुम फिर अस्पष्ट बना रहे हो। आभीर राज की सेना के साथ भट्टिनी स्वतन्त्र राज्य की रानी की भाँति चलेंगी। महाराजाधिराज को गरज होगी तो वार भट्टिनी के दर्शन का प्रसाद जाँचने आयेंगे भट्टिनी की मर्यादा के विरुद्ध पता भी लगेगा तो रक्त की नदी बह जायगी। और कोई नहीं मरेगा तो तुम और मैं तो निश्चय ही इस कार्य में बलि हो जायेंगे। इसमें डर कहाँ है? मैं भट्टिनी की मर्यादा की कसौटी होकर चलूँगी तुम प्राण देने में क्यों हिचकते हो?

भट्टिनी के सम्मान की रक्षामें सचेष्ट निपुणिका के भाव का दर्शन उसके इन शब्दों में भी किया जा सकता है— मन्त्र में पाशाहत सिंहिनी की भाँति गर्ज कर अपना कन्धा झाड़ते हुए उसने कहा—धिक्कार है भट्ट तुम कैसे भट्टिनी का अपमान करने पर तत्पर हो गये! काम्यकुब्ज का सम्राट-सदृश राजा क्या भट्टिनी के सेवक को अपना समाधान बनाने की स्पर्धा रखता है?"

प्रारम्भ में भट्ट के प्रति निपुणिका को मोह उत्पन्न हुआ था, किन्तु उसे अपनी ओर भट्ट की प्रकृति का ज्ञान होने से वह सचेत हो गई। इसके पश्चात् उसने मोह का निवारण करने का प्रयत्न किया। वे वर्ष तक कुटिल दुनिया में असहाय मारी-मारी फिरी और फिर उसका मोह भक्ति में केन्द्रित हो गया।

निपुणिका भट्ट की गरिमा को पहचानती है। वह उसकी उपलब्धियों के संबंध में आश्वस्त है। इसके अतिरिक्त उसने अपने हृदय की प्रभूत निधि भट्ट को अर्पित कर दी है। वह भट्ट का ही कल्याण चाहती है। इसीलिए वह कहती है—"भट्ट मुझे किसी बात का पछतावा नहीं है। मैं जो हूँ उसके सिवा और कुछ हो ही नहीं सकती थी। परन्तु तुम जो कुछ हो उससे कहीं श्रेष्ठ हो सकते हो। इसीलिए कहती हूँ तुम यहाँ मत रहो। मैं पश्चात्ताप करूँ तो जिस नरक में पड़ी हूँ वहाँ भी स्थान नहीं मिलेगा। तुम संभवतः जानो, तो जिस स्वर्ग में स्थान पाओगे उसकी कोई कल्पना मेरे मन में भी नहीं है तुम्हारे मन में भी नहीं है। मैंने दुनिया कम नहीं देखी है। इस दुनिया में तुम्हारे जैसे पुरुष रत्न दुर्लभ हैं।"

साहित्य को इतिहास का सबसे बड़ा अनुदान 'बाण' का चरित्र है। धार्मिक प्रबन्ध-रचनाओं में ऐसे चरित्र मिल सकते हैं, किन्तु थोड़े से; परन्तु उपन्यासों में ऐसे चरित्र दुर्लभ हैं। "दुनिया की दृष्टि से आवारा, लम्पट, 'भुजंग, 'बच्चा' आदि रूपों में प्रचलित बाण के चरित्र को लेखक ने इस प्रकार चित्रित और अनुरंजित किया है कि वह अपने सम्पूर्ण मानवीय गुणों से दीप्त होकर 'नरोत्तम' बन गया है।

निपुणिका

इस कृति का दूसरा प्रमुख पात्र निपुणिका है। वह अवर्ण स्त्री थी। विवाह के एक वर्ष पश्चात् ही वह विधवा हो गई थी। इसके बाद कुछ ऐसे कारण उपस्थित हो गये थे जिनसे वह घर छोड़ने के लिए विवश हो गई। उस समय बाण ने नाटक-मंडली बना रखी थी। वह उसी में सम्मिलित हो गई। जिस समय वह बाण के पास आई उसकी आयु १६ वर्ष के आसपास थी। वह बहुत डरी हुई मालूम हो रही थी। यद्यपि उसे आश्रय देने में बाण को भय की आशंका थी, फिर भी उसे आश्रय दिया। वह बहुत रोती रही और उसके दुःख का अनुभव करके बाण को उस पर इतनी दया आई कि उस दिन रात भर वह सो भी नहीं सका। बाण ने उसकी परिस्थितियों के सम्बन्ध में अधिक पूछताछ भी नहीं की, किन्तु वह उसने पहली बार अनुभव किया कि मनुष्य के सामाजिक संबंधों की जड़ में कहीं बहुत बड़ा दोष रह गया है। निपुणिका के गुणों को देख कर बाण को विस्मय होता था। वह सोचता था कि जिस स्त्री में इतने गुण हों वह समाज और परिवार की पूजा का पात्र हो सकती है। वह दृढ़संकल्प है, कुशल है, मोहिनी है सौजन्यवती है। उसमें सेवा-भाव तो इतना अधिक है कि उससे बाण को आश्चर्य होने लगता है।

सेवा-भाव और त्याग भावना के अतिरिक्त उसके स्वभाव की एक बड़ी विशेषता सहनशीलता है। भट्टिनी के कष्ट को देख कर वह व्याकुल हो उठती है और उसे मुक्त कराये बिना उसे चैन नहीं मिलता। यह काम सरल नहीं था। भट्टिनी को छुड़ाने के लिए उसने भट्ट को और अपने आपको खतरे में डाल कर जो काम किया उसमें परदुःख-कातरता, सहानुभूति, उत्साह और साहस का भाव स्पष्ट है। त्याग का भाव भी निपुणिका के हृदय की अन्तर्मोत निधि है। गंगा में डोंगी डूब रही है। फिर भी वह भट्ट को कहती है— 'मुझे छोड़ो भट्टिनी को सँभालो। मृत्यु के मुंह में पहुँचने पर इस प्रकार का त्याग विरले ही सहृदयों के घट में आता है।

निपुणिका और भट्टिनी दोनों का अवलम्ब बाण है किन्तु निपुणिका में ईर्ष्या या स्पर्धा का भाव कभी भी तो दृष्टिगोचर नहीं होता। वह जिस भाव को लेकर भट्टिनी के प्रति झुकती है उसका निर्वाह वह निरन्तर करती है। भट्टिनी के उद्धार के लिए उसके प्रयत्नों में जो सहानुभूति की भावना थी वह आजन्म सुरक्षित रहती है। इस सहानुभूति से प्रेरित होकर वह बाण को कहती है—' महाभाग ही मेरे वास्तविक सहायक हैं।

उन्होंने ही तुम्हें यहाँ भेजा है। तुम न आते तो भी मुझे तो यह करना ही था। बोलो भट्ट! तुम यह काम कर सकोगे? तुम असुर गृह में आबद्ध लक्ष्मी का उद्धार करने का साहस रखते हो? मदिरा के पंक में डूबी हुई कामधेनु को उबारना चाहते हो? बोलो अभी मुझे जाना है।' इन वाक्यों में निपुणिका की कर्तव्यनिष्ठा का धैर्य उत्साह और आत्मबलिदान के भाव उमड़ते दीख रहे हैं।

इतना ही नहीं जिस भट्टिनी को निपुणिका अपने प्रयत्नों से मुक्त करती है उसके प्रति उसका भाव सदैव ऊँचा रहता है। वह उसके मान और सम्मान की रक्षा के लिए सदैव सतर्क रहती है। महाराजा के आमंत्रण पर भट्टिनी के स्थाण्वीश्वर जाने की बात पर वह उसके सम्मान की रक्षा के लिए तिलमिला उठती है। बाण को झिड़कती हुई सी निपुणिका बोलती है—"कैसा जाल भट्ट, स्पष्ट बात को तुम फिर अस्पष्ट बना रहे हो। बाणीर राज की सेना के साथ भट्टिनी स्वतन्त्र राज्य की रानी की भाँति चलेगी। महाराजाधिराज को वरण होगी तो आर भट्टिनी के दर्शन का प्रसाद बाँटने आयेंगे भट्टिनी की मर्यादा के विरुद्ध पत्ता भी खड़का तो रक्त की नदी बह जायगी। और कोई नहीं मरेगा तो तुम और मैं तो निश्चय ही इस कार्य में बलि हो जायेंगे। इसमें डर कहाँ है? मैं भट्टिनी की मर्यादा की कसौटी होकर जलूँगी तुम प्राण देने में क्यों हिचकते हो?

भट्टिनी के सम्मान की रक्षामें उमड़ निपुणिका के भाव का दर्शन उसके इन शब्दों में भी किया जा सकता है— 'अन्त में पाषाहत सिंहिनी की भाँति गर्ज कर अपना कन्धा झाड़ते हुए उसने कहा—धिक्कार है भट्ट, तुम ऐसे भट्टिनी का अपमान करने पर राजी हो गये! कान्यकुब्ज का सम्राट-वरण राजा क्या भट्टिनी के सेवक को अपना सभासद् बनाने की स्पर्धा रखता है?"

— प्रारम्भ में भट्ट के प्रति निपुणिका को मोह उत्पन्न हुआ था, किन्तु उसे अपनी और भट्ट की प्रकृति का ज्ञान होने से वह सचेत हो गई। इसके पश्चात् उसने मोह का विवाह रूप करने का प्रयत्न किया। ग्यारह-बारह वर्ष तक कुटिल दुनिया में असहाय मारी-मारी फिरी और फिर उसका मोह जाति में प्रेरित हो गया।

निपुणिका भट्ट की प्रतिभा को पहचानती है। भट्ट उसकी उपलब्धियों के संबंध में आश्वस्त है। इसके अतिरिक्त उसने अपने हृदय की अमृत निधि भट्ट को अर्पित करदी है। वह भट्ट का ही कल्याण चाहती है। इसीलिए वह कहती है—"भट्ट मुझे किसी बात का पछतावा नहीं है। मैं जो हूँ उसके सिवा और कुछ हो ही नहीं सकती थी। परन्तु तुम जो कुछ हो, उससे कहीं श्रेष्ठ हो सकते हो। इसीलिए कहती हूँ तुम यहाँ मत रुको। मैं पश्चाताप करूँ तो जिस नरक में पड़ी हूँ वहाँ भी स्थान नहीं मिलेगा। तुम संयम धारो, तो जिस स्वर्ग में स्थान पाओगे उसकी कोई कल्पना मेरे मन में भी नहीं है तुम्हारे मन में भी नहीं है। मैंने दुनिया कम नहीं देखी है। इस दुनिया में तुम्हारे जैसे पुरुष रत्न दुर्लभ हैं।"

साहित्य को कृतिकार का सबसे बड़ा अनुदान 'बाण' का चरित्र है। धार्मिक प्रबन्ध-रचनाओं में ऐसे चरित्र मिल सकते हैं, किन्तु थोड़े से परन्तु उपन्यासों में ऐसे चरित्र दुर्लभ हैं। "दुनिया की दृष्टि से आवारा, लम्पट, 'बुर्जुआ,' 'बच्चा' आदि रूपों में गृहीत बाण के चरित्र को लेखक ने इस प्रकार चित्रित और मनुरंजित किया है कि वह अपने सम्पूर्ण मानवीय गुणों से दीप्त होकर 'नरोत्तम' बन गया है।

निपुणिका

इस कृति का दूसरा प्रमुख पात्र निपुणिका है। वह अनुपम स्त्री थी। विवाह के एक वर्ष पश्चात् ही वह विधवा हो गई थी। इसके बाद कुछ ऐसे कारण समुपस्थित हो गये थे जिनसे वह घर छोड़ने के लिए विवश हो गई। उस समय बाण ने नाटक-मंडली बना रखी थी। वह उसी में सम्मिलित हो गई। जिस समय वह बाण के पास आई उसकी आयु १६ वर्ष के आसपास थी। वह बहुत डरी हुई मालूम हो रही थी। यद्यपि उसे आश्रय देने में बाण को भय की आशंका थी, फिर भी उसे आश्रय दिया। वह बहुत रोती रही और उसके दुःख का अनुभव करके बाण को उस पर इतनी दया आई कि उस दिन रात भर वह सो भी नहीं सका। बाण ने उसकी परिस्थितियों के सम्बन्ध में अधिक पूछताछ भी नहीं की, किन्तु वह उसने पहली बार अनुभव किया कि मनुष्य के सामाजिक संबंधों की जड़ में कहीं बहुत बड़ा दोष रह गया है। निपुणिका के गुणों को देख कर बाण को विस्मय होता था। वह सोचता था कि जिस स्त्री में इतने गुण हों वह समाज और परिवार की पूजा का पात्र हो सकती है। वह हँसमुख है, हसक है, मोहिनी है सौन्दर्यवती है। उसमें सेवा भाव तो इतना अधिक है कि उससे बाण को आश्चर्य होने लगता है।

सेवा-भाव और त्याग भावना के अतिरिक्त उसके स्वभाव की एक बड़ी विशेषता सहनशीलता है। भट्टिनी के कष्ट को देख कर वह व्याकुल हो उठती है और उसे सुख कष्टों बिना उसे चैन नहीं मिलता। यह काम सरल नहीं था। भट्टिनी को छुड़ाने के लिए उसने भट्ट का और अपने आपको खतरे में डाल कर जो काम किया उसमें परदुःख-कातरता, सहानुभूति, उत्साह और साहस का भाव स्पष्ट है। त्याग का भाव भी निपुणिका के हृदय की अनमोल निधि है। नया में दोनों डूब रही हैं। फिर भी वह भट्ट को कहती है— 'मुझे छोड़ो भट्टिनी को सँभालो।' मृत्यु के मुँह में पहुँचने पर इस प्रकार का त्याग विरले ही सदाशयों के बीच में आता है।

निपुणिका और भट्टिनी दोनों का अवलम्ब बाण है, किन्तु निपुणिका में ईर्ष्या या स्पर्धा का भाव कभी भी तो दृष्टिगोचर नहीं होता। वह जिस भाव को लेकर भट्टिनी के प्रति झुकती है उसका निर्वाह वह निरन्तर करती है। भट्टिनी के उद्धार के लिए उसके प्रयत्नों में जो सहानुभूति की भावना थी वह आजन्म सुरक्षित रहती है। इस सहानुभूति से प्रेरित होकर वह बाण को कहती है—"महाराज ही मेरे वास्तविक सहायक हैं।

बोलता है। भावुकता के अतिरेक में वह अपने निगूढ़ भावों को खोलकर रख देती है। निपुणिका उन इने गिने पात्रों में से है जो साहित्य में स्त्री की भूमिका पर उतर कर अनेक गुणों से सम्पन्न होकर भी जीवन की ज्वाला में तिल-तिल भस्म होते हैं, किन्तु दूसरों के उजड़े जीवन को क्रीड़ा-कानन बनाने के लिए अपने त्यागमय प्रेम की धारा बहा जाते हैं।

निपुणिका भावुकता की सीमा, नारी सुषमा, त्याग की प्रतिमा प्रेम की पुतली कला की मधुर कृतज्ञता और सुकोमलता की लोक-सीमा है। जाति और वर्ग के बन्धन से ऊपर उठकर जीवन की जटिल परिस्थितियों में भी उसने नारी समाज को जो मार्ग दिखलाया है वह जीवन के मधुर और उज्ज्वल रूप को प्रशस्त करने में बड़ा सहायक सिद्ध हो सकता है। अपना में सुख, कटुता में अतिशय की भावना और प्रेम में उदारता और निरपेक्षता का पावन स्वरूप दीप्त करके निपुणिका पाठकों के कोमल हृदयों को सदैव प्रकाशित करती रहेगी। पाठक को लगता है मानो वह भट्ट से कह रही है—"मैंने कुछ भी नहीं रखा अपना सब कुछ तुम्हें दे दिया और भट्टिनी को भी दे दिया। दोनों में कोई विरोध नहीं है। प्रेम की दो विरुद्ध दिशाएँ एक सूत्र हो गई हैं।

भट्टिनी

यह राजवंश की मर्यादा में रहने वाली एक शीलवती नारी है। उसकी आयु और शालीनता का अद्भुत समन्वय पाठकों को हर्ष दिये बिना नहीं रहता। विकट समर विजयी मुक्तापीडसिंह की यह प्राणाधिक कन्या दस्युओं के हाथ पड़कर स्थाण्वीश्वर के छोटे राजकुल के कामनामय वातावरण में आ फँसती है। छोटा राजकुल अपने ऐसे प्रथम कार्यों से कलंकित हो चुका है किन्तु सामंतीय विलास उस कुल का आधार बन गया है।

भट्टिनी के सौन्दर्य की प्रभाव शक्ति उसे संघर्ष के मार्ग पर प्रेरित करती हुई उसकी भक्ति-भावना को पुष्ट बनाती है। जिस प्रकार सुन्दरता ने भट्टिनी को अपना रखा है, उसी प्रकार भट्टिनी ने महाराजाधिराज की भक्ति को अपना रखा है। महाराजाधिराज के चरणों में शीश बिछा रखने वाली इस राजकुमारी को देखते ही बाण विस्मित होकर यह सोचने लगता है— इतनी पवित्र रूपराशि किस प्रकार इस कठोर धरती में सम्भव हुई।

प्रथम दर्शन से ही भट्ट के भावों की सारी गठरी खुलकर भट्टिनी की रूप-माधुरी के इर्दगिर्द बिखर जाती है। उसने भट्टिनी के अनेक रूपों को अनेक मानसिक परिस्थितियों का बड़े निकट से देखा है। चिन्ताकुल शोकमग्न अवस्था से लेकर बाण से भट्टिनी का समाधान प्रसन्न मुद्रा तक में देखा है। प्रत्येक अवस्था में उसने उसे एक दिव्य कान्ति से मण्डित पाया है। उसके वेश भेष, वर्ण और मुद्राओं में लेखक की वर्णन-प्रतिभा ने बड़ी उदारता दिखलाई है। भट्टिनी के पास हृदय की अतीव सम्पत्ति है, किन्तु वह उसका उपयोग बड़े सुपथ और धीरज से करती है।

बाण को भट्टिनी आदर करती है और उसके प्रति निकट रहती है। बाण अपने को उसका अभिभावक समझता है दूसरे लोग जो कहीं मानते हैं किन्तु भट्टिनी को भट्ट के

निपुणिका बाणभट्ट को देवता मानती है। वह उसके नाम पर किसी प्रकार का कलंक नहीं देख सकती। वह उसके सम्मान और शरीर की रक्षा करने में तत्पर रहती है। मदलेखा के मुख से उसके गर्व के साथ निकले हुए बाणविषयक कुवाक्य को सुनकर उसका मर्म आहत हो जाता है और वह उसको गर्वपूर्वक उत्तर देती है—"बाणभट्ट आदमी नहीं है, वह देवता है, शक्ति।" चण्डदीप से निपुणिका बाण के प्राणों पर आई देख कर आँधी की तरह आती है और एक ही धक्के में चण्डमण्डला को झटक कर छीन लेती है और खड्गांग लेकर वह विकट नृत्य करके हूवन कुण्ड आदि को विध्वस्त करके भयंकर स्थिति में क्षति पैदा कर देती है जिससे बाण की रक्षा हो जाती है।

बाण के सम्बन्ध में निपुणिका का देव-भाव बहुत दृढ़ है। वह भट्ट को स्वयं कह देती है— "मैं क्या नहीं जानती कि तुम जानबूझ कर कभी अनुचित बात नहीं कह सकते? देखो भट्ट तुम नहीं जानते कि तुमने मेरे इस पाप-पंकिल शरीर में कैसा प्रफुल्ल शतदल खिला रखा है। तुम मेरे देवता हो मैं तुम्हारा नाम जपनेवाली अधम नारी हूँ। ऐसा कलुष मानस लेकर भी जो जी रही हूँ सो केवल इसलिए कि तुमने जीने योग्य समझा है।" इस प्रकार की बातों से निपुणिका का सद्भाव विश्वास और विनतिभाव स्पष्ट हो जाता है।

निपुणिका की मामूली से मामूली बातचीत में बाण का नाम सम्मिलित रहता है। इसका प्रमाण बाण की सुचरिता के इन शब्दों से मिल जाता है— "वह आपका नाम लिए बिना मामूली से मामूली बात भी नहीं चला सकती बहुत दिनों से साध थी कि आपके दर्शन करूँ।"

निपुणिका धैर्य, साहस, आत्मशीलता, प्रेम और भक्ति की साक्षात प्रतिमा है। वह कलाविद तो है ही कलावती भी है। उसमें प्रत्युत्पन्न बुद्धि का अभाव नहीं है। मारीच की भूमिका में मंच पर उतरे हुए अटविभट्ट की अद्भुत चेष्टाओं से जब अभिनय बिगड़ने लगा तो निपुणिका ने घबराये हुए बाण को आश्वासन दिया और तितली की तरह नाचती हुई उसने रंगमंच पर पहुँच कर, अपने बाँये हाथ को कटिप्रदेश पर रख कर चपल चारी के साथ सहज नर्तन से रंगमंच को झंकृत कर दिया। मूक अटविभट्ट उठकर खड़ा हो गया। निउनिया ने दाहिने हाथ से उसकी दाढ़ी पकड़ी और सप्रणय कण्ठ से कहा— 'नागर मेरे नाचोगे नहीं?' इससे क्षणभर में सारा वातावरण हास्यमय हो गया।

निउनिया, नृत्य और संगीत में कुशल थी किन्तु हृदयकी अनन्त संपत्ति को लुटाने में वह बड़ी भोली थी। निपुणिका स्त्री-जाति का शुभ्र पार, सतीत्व की मर्यादा और उन्मार्गगामिनी नारियों की मार्गदर्शिका थी। उसने अपने सारे जीवन को तिल-तिल होम कर महिमान्वित कर दिया था। निपुणिका में ईर्ष्या नहीं थी फिर भी बाण एवं भट्टिनी के सम्पर्क में आने के बाद उसका जीवन एक विचित्र मानसिक संघर्ष में बीतता

दीखता है। आत्मवत्ता के अभिनय में वह अपने निगूढ़ भावों को खोलकर रख देती है। निपुणिका उन इने गिने पात्रों में से है जो साहित्य में स्त्री की भूमिका पर उतर कर अनेक गुणों से सम्पन्न होकर भी जीवन की ज्वाला में तिल-तिल भस्म होते हैं किन्तु दूसरों के उजड़े जीवन की क्रीड़ा-कानन बनाने के लिए अपने त्यागमय प्रेम की धारा बहाजाते हैं।

निपुणिका मानवता की ओजा, नारी भूषण, त्याग की प्रतिमा प्रेम की पुतली कला का मधुर मकरन्द और सुवासमयता की लोक-सीमा है। जाति और धर्म के बन्धन से ऊपर उठकर जीवन की जटिल परिस्थितियों में भी उसने नारी समाज को जो मार्ग दिखलाया है वह जीवन के मधुर और उज्ज्वल रूप को प्रशस्त करने में बड़ा सहायक सिद्ध हो सकता है। ममता में समस्त, करुणा में अभिव्याप्त की भावना और प्रेम में उदारता और निरपेक्षता का पावन स्वरूप जीवन करके निपुणिका पाठकों के कोमल हृदयों को सदैव प्रकम्पित करती रहेगी। पाठक को लगता है मानो वह भट्ट से कह रही है— 'मैंने कुछ भी नहीं रखा अपना सब कुछ तुम्हें दे दिया और भट्टिनी को भी दे दिया। दोनों में कोई विरोध नहीं है। प्रेम की दो विरुद्ध दिशाएं एक मुख हो गई हैं।

भट्टिनी

यह राजवंश की मर्यादा में पलने वाली एक शीलवती नारी है। उसकी प्रायु और शालीनता का अद्भुत समन्वय पाठकों को मुग्ध किये बिना नहीं रहता। विकट समर विजयी तुवरमिलिन्द की यह प्राणाधिक कन्या दस्युओं के हाथ पड़कर स्थाण्वीश्वर के घोर राजकुल के वासनामय वातावरण में आ फँसती है। घोर राजकुल अपने ऐसे अपने कार्यों से कलंकित हो चुका है किन्तु सामन्तीय विलास उस कुल का आचार बन गया है।

भट्टिनी के सौन्दर्य की प्रचण्ड शक्ति उसे संघर्ष के मार्ग पर प्रेरित करती हुई उसकी भक्ति-भावना को पुष्ट बनाती है। जिस प्रकार सुन्दरता ने भट्टिनी को अपना रखा है उसी प्रकार भट्टिनी ने महावराह की भक्ति को अपना रखा है। महावराह के चरणों में अविचल निष्ठा रखने वाली इस राजकुमारी को देखते ही बाण विस्मित होकर यह सोचने लगता है— 'इतनी पवित्र कनकराशि किस प्रकार इस कलुष प्रतिमा में सम्भव हुई।

प्रथम दर्शन से ही भट्ट के भावों की सारी गठरी खुलकर भट्टिनी की रूप-माधुरी के इर्दगिर्द बिखर जाती है। उसने भट्टिनी के अनेक रूपों का अनेक, मानसिक परिस्थितियों को बड़े निकट से देखा है। किन्तु कुल शीकमग्न अवस्था से लेकर बाण से भट्टिनी का सम्पर्क प्रसंग मुग्ध तक में देखा है। प्रत्येक अवस्था में उसने उसे एक दिव्य कान्ति से मण्डित पाया है। पुस्तक के वेश भेष वर्ण और मुद्राओं में लेखक की वर्णन-प्रतिभा ने बड़ी उदारता दिखलाई है। भट्टिनी के चारु हृदय की अमोघ सम्पत्ति है, किन्तु वह उसका उपयोग बड़े संयम और धीरज से करती है।

बाण को भट्टिनी आदर करती है और उसके प्रति निकट रहती है। बाण अपने को उसका अभिभावक समझता है, दूसरे लोग भी यही मानते हैं किन्तु भट्टिनी भी भट्ट के

मट्टिनी के चरित्र में आत्मबोध पवित्र भक्ति आराध्य में प्रबल निष्ठा हृदय की सरलता उदारता, निष्कपटता के साथ विश्वासमय गंभीर प्रेम, संयम-साहस धैर्य हार-कौशल आदि गुणों का भी सहज समन्वय है। समस्त विकारों और संयत आचरणों का सुमेल—स्वर्ण-सौरभ-सम्पन्न मट्टिनी के चरित्र की महान् उपलब्धि है। वह से अन्तिम बार विदा होते समय उसकी व्यथाकातर वाणी सहृदयों को व्यथित कर देती है। मट्टिनी की अलौकिक रूप-राशि एवं आवेशे मनों के रंगीन चित्र लेखक की कल्पना और कला के सुरम्य तथा सजीव स्पर्शों के मोहक चित्र हैं।

१६. दीदी का प्रसंग

'बाणभट्ट की आत्मकथा' की ऐतिहासिकता पर संभवतः किसी को भी विश्वास न होता यदि इसमें आमुख और उपसंहार न होता। आमुख में प्रमुखता दीदी के परिचय को दी गई है। दीदी के परिचय की मनोहर वीथिका में होकर लेखक पाठक को उस पुस्तिके तक ले पहुँचता है जिसमें 'बाणभट्ट की आत्मकथा' मिलती है। इस वीथी का सौन्दर्य इतना आकर्षक है कि पाठक के मन को इधर-उधर जाने का अवकाश ही नहीं मिलता। पुस्तिके पर पहुँच कर तो हमारा विश्वास जम जाता है। अन्त में—उपसंहार में दीदी का पत्र बहुत विचित्र है। हमें उसके इतिहास में फाँस कर लेखक उसकी टिप्पणी करने लग जाता है जिससे विश्वास की जड़ें हिलने लगती हैं।

आमुख और उपसंहार इस रचना के प्राण हैं। औत्सुक्य और विस्मय की आधार शिला भी इन्हीं में निहित है और कथा के रहस्य का उद्घाटन भी इन्हीं में हो सकता है किन्तु पाठक को बड़ी सावधानी से काम लेना चाहिये अन्यथा वह भूल-भुलैयों में पड़ कर स्वयं को भी भूल सकता है और 'यह रचना आत्मकथा है या कुछ और है', इस विषय में निर्णय नहीं कर सकता है। इस रचना को बाणभट्ट की कृति-जैसी प्रमाणित करने के लिए जो मोहक एवं सरस प्रमाण दिये जाते हैं उनमें चाहे कितनी ही सजीवता निहित हो, किन्तु कल्पना की उड़ान को विस्मय-विमुग्ध होकर देखने के सिवा और कोई चारा भी नहीं रहता। कथा में जिस प्रकार भट्टिनी और निपुणिका वास्तविक लगती हैं उसी प्रकार आमुख में दीदी भी वास्तविक लगती हैं।

इस रचना के रहस्य को समझने के लिए आमुख और उपसंहार के अध्ययन में बड़ी सावधानी बरतनी चाहिये। उन्हीं में से रचना की ऐतिहासिकता साहित्यिकता कल्पनात्मकता और पूर्णता हमारे समक्ष आ सकती है। आमुख और उपसंहार के इतिहास से कुछ सूत्र पृथक करके मनीषा के सामने मीमांसा के लिए प्रस्तुत किये जा सकते हैं। छाँट कर प्रमुख सूत्रों को इस प्रकार रख सकते हैं—

आमुख के सूत्र

(१) जिस कथाराज्य आन्ध्रिया के एक सम्भ्रान्त ईसाई-परिवार की कन्या है। यद्यपि वे अभी तक जीवित हैं पर उन्होंने एक विचित्र ढंग का वैराग्य ग्रहण किया है और जिसने पाँच वर्षों में मुझे उनकी केवल एक चिट्ठी ही मिली है जो इस लेख से सम्बद्ध होने के कारण अन्त में छाप दी गई है।

(२) वे मुझे देख कर बहुत प्रसन्न हुईं'। इनके कुछ सूत्र ही वास्तविक हैं।

इसमें अधिकांशतः कल्पना-सूत्रों का ही योग है और उनसे जो 'बाणभट्ट की आत्मकथा' का पट तैयार हुआ है वह हिन्दी-साहित्य-गगन का एक जगमगाता तारा है।

कथामुख में निवेदन के पश्चात् 'बाणभट्ट की आत्मकथा' शीर्षक के अन्तर्गत ही लेखक ने मिस कैथराइन—अपनी तथाकथित दीदी—का जो परिचय दिया है, वह कथा की भूमिका और कथा का ही अङ्ग है। जो कथा दीदी के परिचय से प्रारम्भ होती है वह उसके पत्र तथा उसके सम्बन्ध में लेखक की टिप्पणी से समाप्त होती है। कथा के ये दोनों अंश पाठकों का विश्वास प्राप्त करने के लिए लेखक ने व्यवस्थित किये हैं और वह अपने उद्देश्य में सफल भी हो गया है। भूमिका और उपसंहार की कुछ बातें बड़ी महत्वपूर्ण हैं। उनको ध्यान में रखकर पाठक के सामने 'रहस्य' उद्घाटित होने लगता है, किन्तु रहस्य की ओर ध्यान को बड़े मनोयोग से सजग रखना होगा। वे बातें ये हैं—

१ 'मिस कैथराइन आस्ट्रिया के एक सम्भ्रान्त ईसाई-परिवार की कन्या हैं। यद्यपि वे अभी तक जीवित हैं, पर उन्होंने एक विचित्र ढंग का वैराग्य ग्रहण किया है, और पिछले पाँच वर्षों में मुझे उनकी केवल एक चिट्ठी ही मिली है, जो इस लेख से संबद्ध होने के कारण अन्त में छाप दी गई है।

२ "मुझे देखकर बहुत प्रसन्न हुईं और बोलीं—'तुझे ही तो खोज रही थी। लोल बाबा ने उपलब्ध सामग्री का हिन्दी-रूपान्तर मैंने कर लिया है। तू इसे एक बार पढ़ तो भला! देख मेरी हिन्दी में जो गलती है उसे सुधार दे और आवश्यक है इसका अंग्रेजी में रूपान्तर करा ले। ले भला।

३ 'फिर बोलीं—'देख मैं यहाँ ज्यादा नहीं ठहर सकती। इस अनुवाद को तू बड़ा ध्यान से पढ़ और कलकत्ते जाकर टाइप करा डाल। दो-एक चित्र भी पुस्तक में देने होंगे। जा जल्दी कर।

४ 'कागजों का पुलिंदा लेकर मैं घर आया। यद्यपि मेरी आँखें कमजोर हैं और रात को काम करना मेरे लिये कठिन है फिर भी दीदी के कागजों को मैंने पढ़ना शुरू किया। शीर्षक के स्थान पर मोटे-मोटे अक्षरों में लिखा था—'अब बाणभट्ट की आत्म-कथा लिखते'। 'बाणभट्ट की आत्म-कथा' तब तो दीदी की अमूल्य वस्तु हाथ लगी है। मैं ध्यान से सारी कथा पढ़ गया। मुझे अपार आनन्द आ रहा था। इतने दिन बाद संस्कृत-साहित्य में एक अनोखी चीज प्राप्त हुई है।"

५ 'एक दिन मैंने सोचा कि बाणभट्ट के ग्रन्थों से मिला कर देखा जाय कि कथा कितनी प्रामाणिक है। कथा में ऐसी बहुत-सी बातें थीं जो उन पुस्तकों में नहीं हैं। इसके लिए मैंने समसामयिक पुस्तकों का आश्रय लिया और एक तरह से कथा को नये सिरे से सम्पादित किया। आगे जो कथा दी हुई है वह दीदी का अनुवाद है और कुछ

नोट में पुस्तकों के हवाले दिये हुए हैं, वे मेरे हैं। कथा ही वस्तु में महत्वपूर्ण है, टिप्पणियाँ तो उसकी प्रामाणिकता की सबूत हैं।"

९ 'मोने बाणभट्ट की आत्म-कथा दे रहा हूँ। दीदी ने उसे प्रकाशित करने की आज्ञा दे दी है। सत्य करने की बात यह है कि बाणभट्ट की अन्यान्य पुस्तकों की भाँति यह आत्मकथा भी अपूर्ण ही है।'

७ 'अब मेरे दिन गिने-चुने ही रह गये हैं। इसके पहले 'कथा' के बारे में मैंने जो पत्र लिखा था उसे अब छपाना। मैं अब फिर तुम लोगों के बीच नहीं आ सकूँगी। मैं सचमुच संन्यास ले रही हूँ। मैंने अपने निजन वास का स्थान चुन लिया है। यह मेरा अन्तिम पत्र है।"

८ 'आत्म-कथा' के बारे में तुम एक बड़ा गलती की है। तुमने उसे अपने कथानुक में इस प्रकार प्रदर्शित किया है मानो वह 'ऑटोबायोग्राफी' हो। ऐ भला! तुमने संस्कृत पढ़ी है ऐसी ही मेरी धारणा थी पर यह क्या अनर्थ कर दिया तुमने। बाणभट्ट की आत्म-कथा सारे गद्य के प्रत्येक वाक्य-कण में वर्तमान है। छि कैसा निर्बोध है तू उस आत्मा का आवाज तुझे नहीं सुनाई देती?

९ तुम्हारे मेरी एक शिकायत बराबर रही है। तू बात नहीं समझता। मोने, बाण-भट्ट' केवल भारत में ही नहीं होते। इस नरलोक से किन्नरलोक तक एक ही रागात्मक हृदय व्याप्त है।

१० 'आत्मकथा' का अर्थ 'ऑटोबायोग्राफी' समझकर दीदी की दृष्टि में मैंने अनर्थ कर दिया है! × × × दीदी गद्य के समस्त वाक्य-कणों में से न जाने किस क्षण में बाणभट्ट को यह मर्मभेदी पुकार दीदी को सुना दी थी।

११ 'अतिमर्त्य की अमर-कुमारी देवसुवर्णिनी क्या आन्द्रिया देवदासिनी दीदी हैं! उनके इस वाक्य का क्या अर्थ है कि 'बाणभट्ट' केवल भारत में ही नहीं है। आन्द्रिया में जिस मनोज्ञ 'बाणभट्ट' का आविर्भाव हुआ था, वह कौन था? हाय दीदी ने क्या इन लोगों के अज्ञात अपने उस कवि प्रेमी की आँखों से अपने को देखने का प्रयास किया था? यह कैसा रहस्य है? दीदी के सिवा और कौन है जो इस रहस्य को समझ दे? मेरा मन उस बाणभट्ट का संधान पाने को व्याकुल है।

१२ 'पत्र पढ़ने के बाद मेरे चित्त की यही प्रतिक्रिया हुई है। यदि मेरा अनुमान ठीक है तो साहित्य में यह अभिनव प्रयास है। मध्ययुग के किसी-किसी कवि ने राधिका की इस प्रकट अभिलाषा का वर्णन किया है कि वे सबसे लक्ष्यों कि कृष्ण कैसे बना रस पाते हैं। श्रीकृष्ण ने भी, कहते हैं, राधिका की दृष्टि से अपने को देखना चाहा था और इसीलिए नवद्वीप में चैतन्य महाप्रभु के रूप में प्रकट हुए थे।"

११ 'काव्य की और धर्म-साधना की दुनिया में जो कल्पना थी उसे दीदी ने अपने जीवन

में सत्य करके दिखा दिया × × × परन्तु सहृदयों के मार्ग में इस व्याख्या को मैं बाधक नहीं बनाना चाहता। इसलिए मैं साहित्यिक समीक्षा के संकल्प से विरत हो रहा हूँ। कथा जैसी है वैसी सहृदयों के सामने है।"—व्यो०।

इनमें से पहला और सातवाँ पॉइंट दीदी के अस्तित्व पर प्रकाश डालता है। 'मैं अब फिर तुम लोगों के बीच नहीं आ सकूँगी। मैं सचमुच संन्यास ले रही हूँ। मैंने अपने निर्जन वास का स्थान चुन लिया है। यह मेरा अन्तिम पत्र है।' और 'यद्यपि वे अभी तक जीवित हैं पर उन्होंने एक विचित्र ढंग का वैराग्य ग्रहण किया है।" ये दोनों पॉइंट इस अनुमान की ओर पाठक को ले जाते हैं कि दीदी के साथ पत्र-व्यवहार नहीं हो सकता। उनका पता ज्ञात नहीं है। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' के सम्बन्ध में उनसे कोई जानकारी प्राप्त नहीं की जा सकती। जानकारी प्राप्त करने के सम्बन्ध में कोई भी प्रयत्न व्यर्थ होगा।

आठवें और दसवें पॉइंट से यह प्रमाणित होता है कि 'बाणभट्ट की आत्मकथा' 'ऑटोबायोग्राफी' नहीं है। यह 'आत्मकथा' नहीं आत्मा की आवाज है, आत्मा की कथा है जो कहीं भी सुनाई दे सकती है। लोकमन के अनन्त वाङ्मय-कणों में से न जाने, किस कण ने बाणभट्ट की आत्मकथा की यह मर्मभेदी पुकार दीदी को सुना दी थी।

बारहवें और तेरहवें पॉइंट से इस रचना का कल्पना-प्रसूत प्रमाणित होता है। 'काव्य की और धर्म-साधना की दुनिया में जो कल्पना थी उसे दीदी ने अपने जीवन में सत्य करके दिखा दिया' से व्यक्तिगत कल्पना से ऊपर समष्टिगत व्यापक काव्य-कल्पना की प्रस्थापना भी इस कृति का आधार सिद्ध हो गई। 'साहित्य में यह अभिनव प्रयोग है' से इस रचना की साहित्यिकता (काव्य-कल्पना-प्रसूति) ही सिद्ध होती है। इससे यह भी प्रकट होता है कि यह साहित्यिक कृति तो है ही किन्तु साहित्य में भी ऐसा प्रयोग है जो अभूतपूर्व है। स्पष्ट है कि आत्मकथा का प्रयोग साहित्य में एक परम्परा का स्थान ले चुका है। इसे अभिनव प्रयोग नहीं कहा जा सकता। अतएव 'बाणभट्ट की आत्मकथा' आत्मकथा न होकर साहित्य में एक नवीन प्रयोग है। इस भ्रम के निवारण के लिए कि यह कृति 'आत्मकथा' है, इस उक्ति से अधिक सबल प्रमाण नहीं मिल सकता।

नवाँ पॉइंट पाठक के सामने लेखक की मीमांसा करने लगता है। इस कथा में बाणभट्ट के 'रागात्मक हृदय' की अभिव्यक्ति हो, ऐसी बात नहीं है। लोक में ऐसा हृदय कोई वैयक्तिक सम्पत्ति नहीं है ऐसे तो अनेक हृदय मिल सकते हैं। अतएव यह कृति बाणभट्ट के हृदय की अभिव्यक्ति नहीं अपितु सामान्य 'रागात्मक हृदय' की अभिव्यक्ति है जो आत्मकथा (ऑटोबायोग्राफी) नहीं हो सकती। जो बाणभट्ट आत्मकथाकार के रूप में इस कृति में हमारे सामने आता है वह भारत में ही नहीं, आस्ट्रिया में[1] भी

१ देखिये २१वाँ पॉइंट।

हो सकता है। इस पॉइंट से कथा का व्यक्ति-सम्बन्ध हमारे सामने न आकर सामान्य सम्बन्ध ही आता है। फिर कादम्बरी के रचयिता बाणभट्ट के जीवन पर इससे कुछ नया प्रकाश पड़ने का प्रश्न ही नहीं उठता।

आत्मकथा के कल्पना-प्रसव पर कुछ नया प्रकाश डालने के लिए ग्यारहवें पॉइंट को कुछ अधिक ध्यान से काम में लिया जा सकता है। दीदी और देवपुत्र-नंदिनी (भट्टिनी) का अभेद करके लेखक ने न केवल भट्टिनी को कल्पना-प्रसूत सिद्ध कर दिया, वरन् कृति की साहित्यिकता और कल्पनात्मकता को भी बड़े कौशल से सिद्ध कर दिया।

दीदी बड़ी रहस्यमयी महिला है। इस देवी का जन्म कहाँ हुआ था—इस बात को तो पण्डितजी ही जानते होंगे किन्तु वह पण्डितजी के मस्तिष्क की बड़ी सुन्दर उपज है बड़ी ऐन्द्रजालिक सृष्टि है सम्भवतः इस बात को कुछ रहस्यज्ञ अवश्य जानते हैं। बाणभट्ट की आत्मकथा के रूप में दीदी ने पण्डितजी को जो कुछ दिया है वह हिन्दी साहित्य की एक अनुपम उपलब्धि है। अतएव 'दीदी' स्वयं हिन्दी साहित्य का एक अपूर्व उपलाभ है। यदि दीदी को पण्डितजी ने न पाया होता तो बाणभट्ट की आत्मकथा भी पाठकों को आकाश कुसुम बनी होती।

पं० हजारीप्रसादजी ने आत्मकथा में दीदी को दो बार प्रकट किया है—एक बार प्रत्यक्ष रूप में और दूसरी बार परोक्ष रूप में। कथामुख में दीदी लेखक से बातें करती है यह प्रत्यक्ष है। उपसंहार में दीदी अपने पत्र में प्रकट होती है। आमुख में पण्डितजी को दीदी से अपूर्व ढंग के साथ कागजों का एक पुलिन्दा मिलता है। उसके सम्बन्ध में वे लिखते हैं—"दीदी के कागजों को मैंने पढ़ना शुरू किया। शीर्षक के स्थान पर मोटे अक्षरों में लिखा था—अथ बाणभट्ट की आत्मकथा लिख्यते।" फिर वे विस्मय प्रकट करते हुए लिखते हैं— 'बाणभट्ट की आत्मकथा! तब तो दीदी को अमूल्य-वस्तु हाथ लगी है। आमुख को समाप्त करते हुए द्विवेदीजी लिखते हैं— 'मैंने बाणभट्ट की आत्मकथा दे रहा हूँ। दीदी ने उसे प्रकाशित करने की आज्ञा दे दी है। लक्ष्य करने की बात यह है कि बाणभट्ट की अन्यान्य पुस्तकों की भाँति यह आत्मकथा भी अधूरी ही है। उक्त वाक्यों के साथ दीदी के इन वाक्यों को भी रख कर देखने से कुछ विशेष बातें सामने आती हैं— 'शोण-पाठा में उपलब्ध सामग्री का हिन्दी-रूपान्तर मैंने कर लिया है। तू इसे एक बार पढ़ तो, भला! देख मेरी हिन्दी में जो गलती है उसे सुधार दे और आनंद से इसका अंग्रेजी में अच्छा रूप दे।'

उक्त वाक्यों से स्पष्टतः ये निष्कर्ष निकलते हैं—

(१) 'बाणभट्ट की आत्मकथा' नाम की एक पुस्तक दीदी को शोण-पाठा में मिली थी।

(२) उक्त पुस्तक अपने मौलिक रूप में संस्कृत में लिखी हुई थी।

(३) इसका हिन्दी-रूपान्तर दीदी ने किया।

(४) संशोधन-कार्य पंडितजी को सौंपा गया।

(५) बाणभट्ट की अन्य रचनाओं की भाँति यह कृति भी अपूर्ण है।

ये बातें पाठक की बुद्धि पर 'वशीकरण' का प्रभाव डालती हैं।

उपसंहार में दिये हुए दीदी के पत्र से भी कुछ बातें सामने आती हैं। पत्र में दीदी लिखती है— 'आत्मकथा' के बारे में तूने एक बड़ी गलती की है। तूने उसे अपने कथामुख में इस प्रकार प्रवर्णित किया है मानों वह 'आटोबायोग्राफी' हो। ले भला! तूने समझ पढ़ी है ऐसी ही मेरी धारणा थी पर यह क्या अनर्थ कर दिया तूने। बाणभट्ट की आत्मकथा शोणतट के प्रत्येक वालुका-कण में वर्तमान है। छिः कैसा निर्बोध है तू, उस आत्मा की आवाज तुझे नहीं सुनाई देती ?+++ ऐसे 'बाणभट्ट' केवल भारत में ही नहीं होते। इस नरलोक से किन्नरलोक तक एक ही रागात्मक हृदय व्याप्त है।" उपसंहार में पंडितजी के अपने कुछ वाक्य भी महत्त्व के हैं—

'शोणतट के अनन्त वालुका-कणों में से न जाने किस कण ने बाणभट्ट की आत्मा की वह मर्मभेदी पुकार दीदी को सुना दी थी ? +++ अस्थिचर्मवर्ष की यवन कुमारी देवपुत्र-नन्दिनी आस्ट्रिया देशवासिनी दीदी ही है! आस्ट्रिया में किस नवीन 'बाणभट्ट' का आविर्भाव हुआ था वह कौन था ? हाय दीदी ने क्या हमलोगों के अज्ञात अपने उसी कवि प्रेमी की आँखों से अपने को देखने का प्रयत्न किया था। वह कैसा रहस्य है दीदी के सिवा और कौन है जो इस रहस्य को समझे मेरा मन उस 'बाणभट्ट' का संधान पाने को व्याकुल है। +++ पत्र पढ़ने के बाद मेरे मन में यही प्रतिक्रिया हुई है। यदि मेरा अनुमान ठीक है तो साहित्य में यह अभिनव प्रयोग है।"

इन उक्तियों के आधार पर जो निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं वे ये हैं—

(१) बाणभट्ट की आत्मकथा 'आटोबायोग्राफी' नहीं है।

(२) यह आत्मा की आवाज है। यह उस रागात्मक हृदय का चित्र है जो नरलोक से किन्नरलोक तक व्याप्त है। यह किसी विशेष व्यक्ति की कहानी नहीं है।

(३) यवन-कुमारी देवपुत्र-नंदिनी ही दीदी है। जो हृदय यवन-कुमारी को प्राप्त है वही दीदी को प्राप्त है। दीदी ने बाणभट्ट की आवाज नहीं सुनी वरन् बाणभट्ट की आत्मा की पुकार सुनी है।

(४) आत्मकथा एक प्रेमी हृदय की कहानी है।

(५) दीदी कवि की कल्पना है।

(६) सामग्री के अभाव और कला की पूर्णता ने इस कृति को अधूरी-जैसी प्रकट करवाया है, अन्यथा यह रचना अपने आपमें पूर्ण है। अधूरी और 'पूरी' का अन्तर भी एक रहस्य है।

इस प्रकार आधुनिक के आधार पर निकाले गये पहले तीन (और अन्तिम भी) निष्कर्ष रह जाते हैं और यही सिद्ध होता है कि (१) यह कृति आत्मकथा नहीं है, (२) यह बाणभट्ट के हाथ की प्राचीन संस्कृत-रचना भी नहीं है, तथा (३) यह किसी दोदी के द्वारा किया हुआ अनुवाद भी नहीं है। पाँचवीं बात भी असिद्ध हो जाती है। यह कृति अपूर्ण रचना नहीं है। कोशल में अपूर्ण-जैसी दिखलाई गई है। यह दिखावटी अपूर्णता झूठ को सच-जैसा दिखाने में बड़ी सहायक हुई है। हाँ चौथी बात में थोड़ा-सा सत्यांश है और वह यह कि बाणभट्ट की प्राप्त जीवन-सामग्री में कल्पना का पुट देकर इसे विशेष कृति का रूप दिया है।

पंडित हजारीप्रसाद द्विवेदी की दोदी चाहे कल्पना का पुत्र न रहा हो, किन्तु बाणभट्ट की आत्मकथा के संबंध में उसका यह प्रसंग कल्पना का प्रथम-विलास-मात्र है। दोदी को कथासूत्र का चरित्र बनाया गया है। उपसंहार में भी दोदी की प्रमुखता उपेक्षित नहीं हुई है। कथा के आदि और अंत में दोदी के प्रसंग ने कथा-सृष्टि में दोदी के महत्त्व को प्रकाशित कर दिया है। दोदी के बिना यह कथा विश्वसनीय सत्ता नहीं प्राप्त कर सकती थी। इस कथा की भूमिका भी दोदी और उपसंहार भी दोदी ही है। यदि दोदी ऐतिहासिक भावुकता की सृष्टि है तो बाणभट्ट की आत्मकथा भावुक ऐतिहासिकता का प्रतिफलन है। यदि दोदी का प्रसंग न होता तो कथा को इतना ऐतिहासिक आधार न मिल पाता।

'बाणभट्ट की आत्मकथा' का प्रमाण प्रस्तुत करने के लिए लेखक ने 'दोदी' के साथ जो सम्बन्ध स्थापित किया है वह आद्योपान्त छल की रक्षा के लिए बड़ा महत्त्वपूर्ण है। लेखक ने 'दोदी' से एक ओर अपना सम्बन्ध व्यक्त किया है और दूसरी ओर आत्मकथा का। आत्मकथा के मूलभाव से प्रत्यक्षतः दोदी का कोई सम्बन्ध नहीं है किन्तु जिस भाव से दोदी का सम्बन्ध है वह आत्मकथा का बड़ा महत्त्वपूर्ण अंश है। उसके बिना यह भाव आत्मभावी बिना एक तरह से विनष्ट हो जाता है। अतएव बाणभट्ट के महान् व्यक्तित्व आत्मकथा के विशाल प्रासाद और वातावरण के इतने बड़े भण्डार की रक्षा के लिए 'दोदी' का अस्तित्व अनिवार्य है। दोदी के साथ कथासूत्र और उपसंहार भी अनिवार्य हैं। इसलिए जब तक इस उपन्यास का सम्बन्ध कथासूत्र और उपसंहार से रहेगा तब तक 'दोदी' उसमें एक पात्र के रूप में प्रस्तुत रहेगा।

'दोदी' के पात्रत्व पर आलोचकों को संदेह हो सकता है किन्तु लेखक के लिए कोई अवकाश नहीं है। यदि लेखक के मन में 'दोदी' को पात्र बनाने की बात न रही होती तो उसके चरित्र का इतना सूक्ष्मता से अंकन न किया गया होता।

'दोदी' को माता का बड़ा धोक था। पेटल-माता में उसकी बड़ी रति थी। माताओं में उसकी गवेषणा-वृत्ति आयुक्त रहती थी। वे कभी कोई तान्त्रिक की दोदी कभी विचित्र काल की चलायमानी कोई पुरानी पोथी और कभी पुराने किस्से खोज कर ले

आती थी। ये बातें उनकी ऐतिहासिक रुचि को प्रकाशित करती हैं। उनकी ऐतिहासिक जिज्ञासा में भावुकता का अभाव नहीं था। पोथी, सिक्के आदि का परिचय देते समय उनका चेहरा भद्दा से गद्गद हो जाता था और उनकी आँखों में पानी उमड़ आता था।

'दीदी' बड़ी सिंह सी एक गम्भीर स्वभाव की महिला थी। जब कभी वे प्रसन्न-मग्न होती तो उनका कसौटु चित्त मुखमण्डल बहुत ही आकर्षक होता और ऐसा जान पड़ता मानों साक्षात् सरस्वती का आविर्भाव हुआ हो। उद्यम करते हुए छोकरे पास से निकल जाते, धूल उड़ाती हुई बैलगाड़ियाँ पास से चली जाती, कुत्ते उछल-कूद से थक कर लड़ाई-झगड़े पर आमादा हो जाते; पर दीदी कपू प्रतिमा की भाँति निर्वाक निश्चल निस्पन्द ही रहती। जब उनकी समाधि टूटती तब उनकी बातें सुनने लायक होती। उनके स्वभाव की कुछ विशेषताओं में से एक थोड़ी सुखद ममता भी थी। बिल्ली के बच्चे पर उनकी बड़ी ममता थी जिसको वे पाँच बच्चों के साथ आस्ट्रिया से वहाँ और पूर्व परिवार के साथ भी पालती रही। उनके स्वभाव में करुणा भावाशित थी। कष्टादि दुखों को लेकर दीदी' सम्बन्ध-जोड़ा भाषण दे सकती थी।

बूढ़ा होने पर भी उस बुढ़िया में विस्मयकारी उत्साह और अध्यवसाय-क्षमता थी। 'दीदी' को संस्कृत व हिन्दी का अच्छा ज्ञान था। लिखने का भी अच्छा अभ्यास था। लिखने बैठती तो रातो रात लिखती रहती। संस्कृत से हिन्दी में आत्मकथा का अनुवाद उन्होंने एक ही रात में कर डाला था।

'दीदी' के कुछ प्रिय शब्द और वाक्य थे। 'लेखवा' और 'तू बड़ा आलसी है'—ये दीदी के पेट वाक्य थे। कुछ देते समय तथा किसी मधुरवर्त्तनात्मक व्यंग्य के समय उनके मुख से सहसा 'ले चला' का प्रयोग हो जाता था। 'तू बड़ा आलसी है' यह वाक्य 'दीदी' के उत्साह का व्यंजक था। इसका प्रयोग भी वे मधुर भर्त्सना के अवसर पर ही करती थीं।

उपसंहार में दीदी के पत्र का उल्लेख किया गया है। लेखक को दीदी 'ब्योम' नाम से अभिहित करती है। लेखक को इस प्रकार से कभी अभिहित किया गया हो मैं नहीं कह सकता, किन्तु मुझे तो यह पत्र भी जाली ही लगता है। यदि इस प्रकार का कोई पत्र लेखक को किसी पाश्चात्य बुढ़ा से मिला भी हो तो भी मैं 'आत्मकथा' से सम्बन्धित प्रसंग को लेखक की ही नमक-मिर्च समझता हूँ।

पाठक को पत्र से एक बड़ा लाभ यह होता है कि 'आत्मकथा' के अर्थ से सम्बन्धित उसकी भ्रान्ति का पर्दा उठने लगता है। कथामुख में जिस ढंग से अपना सिक्का जमा लिया था वह इस पत्र से प्रकाश में आजाता है। इस पत्र से दीदी के चरित्र की कुछ और बातें प्रकाश में लाई जाती हैं—एक तो यह कि दीदी को बुद्ध से बड़ी घृणा है। वे बुद्ध को क्रूरता का प्रतीक मानती हैं। वे यह मानती हैं कि बुद्ध के अनेक आदमी तैयार

करके भी मनुष्य पराजय को दिशा में ही चला जा रहा है। युद्ध के भयानक दृश्य को सामने लाती हुई दीदी कहती हैं—"यह अच्छा ही हुआ कि तुमने वह घृणित नर-संहार नहीं देखा। यह मनुष्य का नहीं मनुष्यता के बध का दृश्य था।

दीदी के मत से यह कृति बाणभट्ट की आत्मकथा न होकर उसकी आत्मा की कथा है। इसलिए वे कहती हैं—

'आत्मकथा' के बारे में तुमने एक बड़ी गलती की है। तुमने उसे अपने कथामुख में इस प्रकार प्रचलित किया है मानो वह 'अंगूठी-बाबोलाकी' हो। 'मन भला' तुमने पसंद पड़ी है ऐसी ही मेरी धारणा थी पर यह क्या अनर्थ कर दिया तुमने? बाणभट्ट की आत्मा शोणतट के प्रत्येक बालुका-कण में वर्तमान है। कि कैसा निर्बोध है तू, उस आत्मा की आवाज तुझे नहीं सुनाई देती? देख रे तू पुरुष है तू युवक है, तुझे इतना प्रमाद नहीं शोभता।"

दीदी के इन वाक्यों से उनके चरित्र पर कुछ और प्रकाश पड़ता है और वह यह कि उनको आलस्य और प्रमाद अच्छा नहीं लगता। युवक पुरुष के लिए तो प्रमाद बहुत ही अशोभनीय है।

दीदी आत्मा की एकता और व्यापकता में विश्वास है। उनकी यह मान्यता है—बाणभट्ट' केवल भारत में ही नहीं होते। इस नरलोक से किन्नरलोक तक एक ही चेतनात्मक हृदय व्याप्त है।"

दीदी के विचार से तीन दोष बड़े जबरदस्त हैं और मनुष्य को उनसे बचने का प्रयत्न करना चाहिये—वे हैं प्रमाद, आलस्य और छिद्रान्वेषिता।

पर्णदत्त से लेकर दीदी के आत्मवाद तक कथामुख और उपसंहार में उनके संबंध में जो कुछ कहा गया है वह उनकी वास्तवता सिद्ध करने के लिए पर्याप्त से अधिक है। आत्मकथा में कितने ही ऐसे पात्र हैं जिनके संबंध में दीदी ने कुछ कम या अधिक कह दिया गया है किन्तु उनका महत्व मूलकथा में जितना सोचा जा सकता है, अपने प्रसंग में दीदी का महत्व उससे कहीं अधिक है। दीदी 'आत्मकथा' की ऐतिहासिकता की सूत्रधारिणी साहित्यिक रूप का प्राणतत्व और कुतूहल की आधार-शिला हैं। यदि कथामुख और उपसंहार आत्मकथा से किसी भी प्रकार संबद्ध माने जा सकते हैं तो 'आत्मकथा' के रचनात्मक गठन में दीदी का प्रसंग अविस्मरणीय है।

●

थाती थी। ये बातें उनकी ऐतिहासिक रुचि को प्रमाणित करती हैं। उनकी ऐतिहासिक विज्ञाता में मातृकता का अभाव नहीं था। पोथी चित्रके आदि का परिचय देते समय उनका चेहरा भद्दा हो पड़ता था और उनकी आँखों में पानी उमड़ आता था।

'दीदी' बड़ी शिष्ट एवं गम्भीर स्वभाव की महिला थीं। जब कभी वे ध्यान-मग्न होती तो उनका वर्तीकृत चित मुखमण्डल बहुत ही आकर्षक होता और ऐसा जान पड़ता मानों साक्षात् सरस्वती का आविर्भाव हुआ हो। ऊबम करते हुए ओकरे पास से निकल जाते, धूल उड़ाती हुई बैलगाड़ियाँ पास से चली जाती, कुत्ते उत्तम-कूद से शुरू कर लड़ाई-झगड़े पर आमादा हो जाते पर दीदी कभी प्रतिमा की भाँति निर्वाक, निश्चल निस्तब्ध ही रहती। जब उनकी समाधि टूटती तब उनको बातें सुनने लायक होती। उनके स्वभाव की कुछ विशेषताओं में से एक नारी सुलभ ममता भी थी। बिल्ली के बच्चे पर उनकी बड़ी ममता थी जिसको वे पाँच बच्चों के साथ आस्ट्रिया से यहाँ और पूर्ण परिवार के साथ भी पालती रही। उनके स्वभाव में करुणा भावाप्लित थी। कस्तादि पुत्रों को लेकर 'दीदी' सन्ध्या-पीड़ा भावाप्त हो सकती थी।

वृद्धा होने पर भी उस बुढ़िया में विस्मयकारी उत्साह और अध्यवसाय-क्षमता थी। 'दीदी' को संस्कृत व हिन्दी का अच्छा ज्ञान था। लिखने का भी अच्छा अभ्यास था। लिखने बैठती तो रातों रात लिखती रहती। संस्कृत से हिन्दी में आत्मकथा का अनुवाद उन्होंने एक ही रात में कर डाला था।

'दीदी' के कुछ प्रिय शब्द और वाक्य थे। 'लेमखा' और 'तू बड़ा आलसी है'—ये दीदी के पेट वाक्य थे। कुछ देते समय तथा किसी मधुरमर्मस्पर्शात्मक व्यंग्य के समय उनके मुख से सहसा 'ले भला' का प्रयोग हो जाता था। 'तू बड़ा आलसी है' यह वाक्य 'दीदी' के उत्साह का व्यंजक था। इसका प्रयोग भी वे मधुर भर्त्सना के अवसर पर ही करती थीं।

उपसंहार में दीदी के पत्र का उल्लेख किया गया है। लेखक को दीदी 'व्योम' नाम से अभिहित करती है। लेखक को इस प्रकार से कभी अभिहित किया गया हो मैं नहीं कह सकता, किन्तु मुझे तो यह पत्र भी जाली ही लगता है। यदि इस प्रकार का कोई पत्र लेखक को किसी पाश्चात्य वृद्धा से मिला भी हो तो भी मैं 'आत्मकथा' से सम्बन्धित प्रसंग का लेखक की ही 'नमक-मिर्च' समझता हूँ।

पाठक को पत्र से एक बड़ा लाभ यह होता है कि 'आत्मकथा' के अर्थ से सम्बन्धित उसकी भ्रान्ति का पर्दा उठने लगता है। कथानुक्रम में जिस खल ने अपना सिक्का जमा लिया था वह इस पत्र से प्रकाश में आ जाता है। इस पत्र से दीदी के चरित्र की कुछ और बातें प्रकाश में आई जाती हैं—एक तो यह कि दीदी को युद्ध से बड़ी घृणा है। वे युद्ध को क्रूरता का प्रतीक मानती हैं। वे यह मानती हैं कि युद्ध के अनेक आयुध तैयार

करके भी मनुष्य पराजय को विधा में ही चला जा रहा है। युद्ध के भयानक दृश्य को सामने लाती हुई दीदी कहती है—"यह अच्छा ही हुआ कि तुमने यह घृणित नर-संहार नहीं देखा। यह मनुष्य का नहीं मनुष्यता के वध का दृश्य था।"

दीदी के मत से यह कृति बाणभट्ट की आत्मकथा न होकर उसकी आत्मा की कथा है। इसलिए वे कहती हैं—

'आत्मकथा' के बारे में तूने एक बेढ़ी गलती की है। तूने उसे अपने कथानुक में इस प्रकार प्रवर्तित किया है मानो वह 'चौटी-बायोग्राफी' हो। 'ले बना', तूने समझा थी है ऐसी ही मेरी धारणा थी, पर यह क्या अनर्थ कर दिया तूने? बाणभट्ट की आत्मा लोकमन के प्रत्येक वासुका-कण में वर्तमान है। छि: कैसा निर्बोध है तू, उस आत्मा की आवाज तुझे नहीं सुनाई देती? देख रे तू पुरुष है तू युवक है, तुझे अन्य अन्य नहीं सोचता।'

दीदी के इन वाक्यों से उनके चरित्र पर कुछ और प्रकाश पड़ता है और यह सच कि उनको आलस्य और प्रमाद अच्छा नहीं लगता। युवक पुरुष के लिए तो प्रमाद [illegible] ही अशोभनीय है।

दीदी आत्मा की एकता और व्यापकता में विश्वास है। उनकी यह व्यापकता है—'बाणभट्ट' केवल भारत में ही नहीं होते। इस नरलोक के चित्रलोक [illegible] एक ही [illegible] हृदय व्याप्त है।'

दीदी के विचार से तीन दोष बड़े भयंकर हैं और मनुष्य को उनसे हमेशा [illegible] प्रयास करना चाहिये—[illegible] अकर्मण्यता।

१७ भाषा-शैली

इस कृति के यशस्वी रचयिता श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी उत्कृष्ट शैलीकार हैं। उनकी भाषा बड़ी प्रांजल एवं समर्थ है। कबीर हिन्दी साहित्य की भूमिका, अशोक के फूल हिन्दी साहित्य का आदिकाल, बाणभट्ट की आत्मकथा चारुचन्द्रलेख आदि अनेक रचनाएँ श्री द्विवेदी की गद्यशैली के अनेक प्रकारों को सामने लाती हैं। इन कृतियों में लेखक के दो रूप सामने आते हैं—कवि-रूप तथा आलोचक-रूप। गद्य में भी कवि रहता है यह चौंकाने वाली बात नहीं है। प्राचीनों ने भी गद्य को काव्य-कोटि से बहिष्कृत नहीं किया था। इसीलिए 'काव्यञ्च द्विविधं गद्यञ्च पद्यञ्च' जैसी प्राचीन आप्तोक्ति का प्रमेय आज तक सम्मानित है।

द्विवेदीजी की संस्कृत-पद्य-रचना से मैं परिचित हूँ किन्तु मुझे ज्ञात नहीं है कि उन्होंने हिन्दी में कोई पद्य-रचना की है। फिर भी उनके कवित्व का परिचय उक्त सभी रचनाओं से मिल जाता है। सामान्य गद्य में तो द्विवेदीजी का कवि दुबक रहता ही है परन्तु आलोचनात्मक गद्य में भी उनका 'कवि' दबता नहीं है। उनके व्यक्तित्व की मस्ती तथा वाणी की व्यापारात्मकता उनकी गद्य रचनाओं में स्थान-स्थान पर झलकती दिखाई पड़ती है। उनकी वाणी में मारकता भी है और तीखता भी, किन्तु तीखता कुत्सा एवं नीरस नहीं है। व्यंग्यमय माधुर्य उसका प्रमुख गुण है।

बाणभट्ट की आत्मकथा की सफलता एवं सार्थकता जिन बातों पर निर्भर है, उनमें से एक बाणभट्ट की शैली का अनुकरण भी है। कादम्बरी और हर्षचरित के पाठक भलीभाँति जानते हैं कि बाणभट्ट ने तीन प्रकार की शैली का प्रयोग किया है। ये तीनों प्रकार हर्षचरित की ही विशेषता हों, ऐसी बात नहीं है; कादम्बरी की भी विशेषता है। कादम्बरी की भाषा अधिक प्रांजल रसप्रवाहिनी तथा काव्यात्मक है। इन ग्रन्थों में बाण की शैली का एक प्रकार तो वह है जिसमें आडम्बरपूर्ण सुगठित लंबे-लंबे वाक्यों का बाहुल्य है दूसरी शैली छोटे-छोटे समासों वाली है और तीसरी समासों से रहित है। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में ये तीनों शैलियाँ मिलती हैं। प्रथम शैली का अनुमान निम्नलिखित उदाहरण से कर सकते हैं—

'जिनके दोर्दण्ड के प्रताप से रोमकपत्तन के उत्तर के देश काँपते हैं जिनकी खरतर असि-धारा-स्रोतस्विनी में शाक-पार्थिव-जैसे पार्थिव फेन-बुद्बुद की भाँति बह गये जिनकी प्रतापाग्नि ने उद्दण्ड वाल्हीकों को इस प्रकार तोड़ डाला जैसे क्रीड़ा-परायण शिशु खंजक-दण्ड को तोड़ देते हैं और जिनकी स्फुरित दीप्त कीर्तिवह्नि में प्रदग्ध सामन्त स्वयं पतंगायमान हो रहे हैं।

"मट्टिनी ही थी—आकुल आच्छादित बीच आवरण में से उनका मनोहर मुख सौगुना रमणीय दिखाई दे रहा था, मानो ज्योत्स्ना-रूप धवल-मन्दाकिनी-धारा में बहते हुए शैवाल-जाल में उलझा हुआ प्रफुल्ल कमल हो क्षीरसागर में संतरण करती हुई नील वसना पद्मा हो कैलास-पर्वत पर खिली हुई सपुष्पा-दमनक-यष्टि हो नील-मेघ-मंडल में झलकनेवाली स्थिर सौदामिनी हो।'

"आकाश के मयूरो! सावधान रहना बाणभट्ट पथ भ्रान्त अकर्मा नहीं है चित्र रज्जु अनडवाह की भाँति अनर्थसंचारी नहीं है, केदारोत्पाटित दूर्वाखंड की भाँति रास्ते पर विक्षिप्त इतस्ततः नहीं है, वन में खिलकर मुरझाने वाले जंगली फूल की भाँति निष्फलजन्मा नहीं है सुरक्षुण्ण भूमिखण्ड के समान आश्रयहीन नहीं है मरुकान्तार में सूख जाने वाली नदी के समान आश्रयहीन नहीं है।'

उक्त तीनों उदाहरणों में सम्पूर्ण वाक्य अनेक उपवाक्यों से आपूरित हैं जिनमें समासों की छटा देखने योग्य है। ऐसे वाक्यों और समासों का प्रयोग आरमकथाकार ने अनेक वर्णनों में किया है। आरमकथा के वर्णनों की प्रमुख विशेषता ही यह है कि वे समासों से अलंकृत दीख पड़ते हैं। कहीं कहीं चरित्र-वर्णनों में भी इसी शैली का प्रयोग मिलता है। तीसरा उदाहरण इसका प्रमाण है।

दूसरे प्रकार की शैली का प्रयोग आरमकथाकार कहीं भी कर लेता है। उसमें समास हैं, किन्तु उनमें आडम्बर नहीं है। वाक्य भी छोटे छोटे हैं अनेक उपवाक्यों से संयोजित नहीं होते। लेखक अपनी बात को एक ही वाक्य में पूर्ण कर लेता है। इस शैली में मस्ती है। उदाहरण देखिये—

"मालक बहुल कौशम्ब परिखाल का रूप बना हुआ था। चन्दन के मनराग से अलंकृत उसके वक्ष-स्थल पर मालती-जाल सुशोभित हो रहा था, पुष्पगुच्छों में नकुला का मनोहर वसन बड़ी सुकुमार भंगी से सजा हुआ था और सँवारे हुए धूपित केशों के पिछले भाग में दुर्लभ मालती कुसुमों का गुच्छ बड़ा ही अभिराम दिखाई दे रहा था। पान खाने में उसने बड़ी निर्दयता का परिचय दिया था। न मुँह पर ही उसने दया दिखाई थी और न ताम्बूल-पत्रों पर ही। परन्तु पान के इतने पत्ते मिल कर भी उसका वाग्विलास नहीं कर सके थे। वह मुँह को ऊपर उठाकर अधरोष्ठ को आकाश के समानान्तर करते बोल रहा था फिरकी निर्बाध अनर्गल कविता धारा इस प्रकार बरस रही थी मानो कोई ऊर्ध्वमुख धारायन्त्र (फव्वारा) हो।"

इस शैली में समासों का अभाव नहीं है किन्तु पहले प्रकार की सी शैली का आडम्बर भी नहीं है। वाक्यों की दीर्घता स्वाभाविक है। वाक्यों में विशेषकर मस्ती भाव छुपा रहा है। ऐसा प्रतीत होता है कि लेखक के सामने उसका कोई बनारसी मित्र खड़ा है और वे उसी का 'फोटो' खींच रहे हों।

तीसरी शैली में समासों का एकान्ताभाव तो होता नहीं है, किन्तु पहली और

दूसरी शैली की भाँति बहुलता और लंबे लंबे वाक्य नहीं होते। ऐसे वाक्यों में शब्द बड़े चटुल होते हैं और प्रत्येक शब्द, विशेषतः विशेषण अपने स्थान पर फुरकता प्रतीत होता है। विशेषणों के पीछे मनोविज्ञान की शक्ति काम करती है और कभी कभी अभिधेतर शक्ति का बल प्राकर वे बड़े दीप्त दीख पड़ते हैं। नीचे के उद्धरण इसी शैली को व्यक्त करते हैं—

(१) 'उनमें अपने आपको दूसरों के लिए गला देने की भावना नहीं है इसी लिए वे कटाक्ष पर उड़ जाते हैं एक स्थित पर टिक जाते हैं। वे फेन बुद्बुद की भाँति अनित्य हैं। वे सैकत सेतु की भाँति अस्थिर हैं। वे जल-रेखा की भाँति नश्वर हैं। उनमें अपने आपको दूसरों के लिए मिटा देने की भावना जब तक नहीं आती, तब तक वे ऐसे ही रहेंगे। उन्हें जब तक पूजाहीन दिवस और सेवाहीन रात्रियाँ अनुतप्त नहीं करतीं और जब तक निष्काम कर्म्मवान उन्हें कुरेद नहीं देता तब तक उनमें निषेध-रूपा नारी तत्त्व का अभाव रहेगा और तब तक वे केवल दूसरों को दुःख दे सकते हैं।"

(२) 'मैं इस प्रकार जड़ हो गया था कि कहीं किसी प्रकार के संवेदन का लेशमात्र भी अनुभव नहीं कर पा रहा था। इतना बड़ा व्यापार मेरी आँखों के सामने देखते-देखते होगया और मैं इतस्ततः निश्चेष्ट बैठ रहा। महिषी को कातुपात की अवस्था में देखकर मुझे जैसे होश सा हुआ। मैं तड़फड़ा कर उठ पड़ा। 'क्या कह रही हो देवि! निपुणिका ने उन्माद की अवस्था में जो कुछ कहा है, उसीको प्रमाण मान कर मुझे अपराधी बना रही हो!'

प्राचीन परिभाषा में पहली शैली को 'उत्कलिका' या 'तरुक' कहा जा सकता है और दूसरी को, जो अल्पसमासयुक्त एवं बहुत बड़े-बड़े वाक्योंवाली नहीं है 'पूर्णक' अभिधा दी जा सकती है। तीसरी शैली की शब्दावली स्वतन्त्र फुरकते हुए पक्षियों की भाँति कलरव करती हुई जान पड़ती है। यह 'सहज' शैली है। एकमें प्रदर्शन-प्रवृत्ति, दूसरी में मोहक प्रेक्षणीयता और तीसरी में उद्भावाभिव्यक्ति है।

यद्यपि बाणभट्ट की आत्मकथा में तत्सम शब्दों का (तद्भव-तद्भवों के भी) प्रयोग मिलता है, किन्तु उनमें केवल अनुवादक ही सामने आता है, बाण नहीं। वस्तुतः तत्सम बाहुल्य और संस्कृतीकरण की प्रवृत्ति ही 'बाणभट्ट की आत्मकथा' की विशेषता है। लेखक ने शब्द का भग-भंग कहीं नहीं होने दिया। शब्दों का प्रयोग बड़ी सुकरता से किया गया है। यह ठीक है कि लेखक पर संस्कृत का प्रचुर प्रभाव है किन्तु यह भी ठीक है कि तत्सम शब्दावली के प्रयोग में सामान्यतया उसे आयास नहीं करना पड़ा। तीसरे प्रकार की शैली में आये हुए शब्द यही आभास देते हैं कि उनपर लेखक का पूर्ण अधिकार है और प्रत्येक शब्द उसके संकेत से यथास्थान बैठता चला जाता है मानों वह पूर्वप्रशिक्षित हो।

यदि यह ठीक है कि शैली में शैलीकार का साक्षात्कार किया जासकता है तो

है भी ठीक है कि 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में आचार्य द्विवेदी के दर्शन स्थान-स्थान पर होते हैं। बाण के व्यक्तित्व में आचार्यजी का व्यक्तित्व, उसके आदर्श में उनका आदर्श, उसके निश्चिन्त आचरण में उनका आचरण, उसके स्वभाव में उनका स्वभाव और उसके व्यंग्यों में उनके व्यंग्य संनिहित हैं। संस्कृत भाषा पर जैसा अधिकार बाण का था वैसा ही हिन्दी भाषा पर आचार्यजी का है। बाण की भाषा बड़ी मादक थी, किन्तु आचार्यजी की भाषा और भी अधिक मादक है और उसका कारण है भाषा की मनोवैज्ञानिक भूमिका।—

आचार्यजी की भाषा खड़ी बोली है और खड़ी बोली में तत्सम-शब्दावली को आत्मसात् करने की बड़ी क्षमता होती है किन्तु बाणभट्ट की आत्मकथा की भाषा ने तत्सम-शब्दावली को जिस प्रकार स्वायत्त किया है उससे तो उसकी 'बाणीयता' प्रमाणित-सी होती है। बाणभट्ट की आत्मकथा की भाषा की एक विशेषता यह भी है कि उसका स्वर कई स्थानों पर व्यक्तिपरक तथा ध्वनि मनोवैज्ञानिक है। बाण की भाषा अधिकांशतः अपनी वस्तुपरकता के लिए ही प्रशस्त है। सामान्यतया इतने प्रचुर एवं पृथुल वर्णनों में आत्मपरकता का निर्वाह असंभव नहीं तो अतिदुष्कर अवश्य होता है किन्तु डा० हजारीप्रसादजी ने दुष्कर को सुकर कर दिखाया है। एक उदाहरण देखिये—

'अपने आवास पर लौटा तो देखा कि भट्टिनी उत्सुकता के साथ मेरी प्रतीक्षा कर रही हैं। आते ही उन्होंने मृदु तिरस्कार के साथ कहा—'इतनी देर करना ठीक नहीं है। उनकी आँखें नीचे झुकी हुई थीं अधरोष्ठ कुछ खिले थे और विदुक आरक्त था स्पष्ट ही भट्टिनी को मेरे देर से आने के कारण खीझ हुई थी पर सहज आभिजात्य गौरव से उस क्रोध में मादकता आगया था। उनकी वाणी में शासन का क्षोभ था अधिकार का स्वर था स्नेह की मृदुता थी। मैंने ससम्भ्रम उत्तर दिया कि मैं दुर्ग में ही था। क्षणभर के लिए मैं विस्मित भी हुआ। इतना क्या सह होगा।"

व्यंग्य-स्थलों पर अधिकांशतः भाषा हास्यप्रधान है और शब्दावली बड़ी चटुल एवं ध्वनिमयी है। चण्डीमण्डप के पुजारी के वर्णन में ऐसे स्थलों पर भाषा की यह विशेषता प्रकट हो सकती है—'उन्होंने बताया कि पुजारी कोई वृद्ध द्रविड़ साधु है। उनके काले काले शरीर में शिराएँ इस प्रकार फूली दिखाई देती हैं मानों उन्हें जला हुआ सरसों समझकर चिपटाए पड़े हुए हों। सारा शरीर बाघ के दाँतों से इस प्रकार भरा है, मानों अपराजेय देवी ने शुभ लक्षणों को उस देह में काट-काट कर अलग कर लिया है। वे काफी शौकीन भी हैं। यद्यपि वृद्ध हैं तो भी कानों में सोने-पुष्प का लटकाना नहीं भूलते। वे भक्त भी हैं क्योंकि चण्डी-मन्दिर की चौखट पर सिर टुकराते-टुकराते उनके ललाट में अर्बुद हो गया है। वे तांत्रिक भी हैं प्रायः ही वृद्धा तार्थ-यात्रिणियों पर वशीकरण चूर्ण फेंका करते हैं। वे ज्योतिष-कुशल भी हैं क्योंकि एक बार गुप्तस्थानों की निधि दिखाने वाला कपड़ा लपेटकर एक थोल ले चुके हैं। वे चिकित्सक भी हैं अपने आगे बाँधे

दूसरी शैली की भाँति लम्बाई और लंबे लंबे वाक्य नहीं होते। ऐसे वाक्यों में शब्द बड़े चुस्त होते हैं और प्रत्येक शब्द, विशेषतः विशेषण अपने स्थान पर कुशलता प्रतीत होता है। विशेषणों के पीछे मनोविज्ञान की शक्ति काम करती है और कभी कभी अभिधेतर शक्ति का बल पाकर वे बड़े दीप्त दीख पड़ते हैं। नीचे के उद्धरण इसी शैली को व्यक्त करते हैं—

(१) 'उनमें अपने आपको दूसरों के लिए घुला देने की भावना नहीं है इसी लिए वे कटाक्ष पर रह जाते हैं, एक स्थित पर टिक जाते हैं। वे फेन बुद्बुद की भाँति अस्थिर हैं। वे सैकत सेतु की भाँति अस्थिर हैं। वे जल-रेखा की भाँति नश्वर हैं। उनमें अपने आपको दूसरों के लिए मिटा देने की भावना जब तक नहीं आती, तब तक वे ऐसे ही रहेंगे। उन्हें जब तक पूजाहीन विवस और सेवाहीन रात्रियाँ अनुतप्त नहीं करतीं और जब तक निष्फल अर्थ्यदान उन्हें कुरेद नहीं देता तब तक उनमें निषेध-रूपा नारी तत्त्व का अभाव रहेगा और तब तक वे केवल दूसरों को दुःख दे सकते हैं।"

(२) 'मैं इस प्रकार जड़ हो गया था कि कहीं किसी प्रकार के संवेदन का लेशमात्र भी अनुभव नहीं कर पा रहा था। इतना बड़ा व्यापार मेरी आँखों के सामने देखते-देखते होगया और मैं हतप्रभ निश्चेष्ट बैठ रहा। महिषी को आनुपात की अवस्था में देखकर मुझे जैसे होश सा हुआ। मैं तड़फड़ा कर उठ पड़ा। 'क्या कह रही हो देवि! निपुणिका ने उन्माद की अवस्था में जो कुछ कहा है उसीको प्रमाण मान कर मुझे अपराधी बना रही हो!

प्राचीन परिभाषा में पहली शैली को 'उत्कलिका' या 'तथ्यक' कहा जा सकता है और दूसरी को, जो अल्पसमासयुक्त एवं बहुत बड़े-बड़े वाक्योंवाली नहीं है, 'चूर्णक' अभिधा दी जा सकती है। तीसरी शैली की शब्दावली स्वतन्त्र फुदकते हुए पक्षियों की भाँति कलरव करती हुई चल पड़ती है। यह 'सहज' शैली है। एकमें प्रवर्धन-प्रवृत्ति दूसरी में मोहक प्रेषणीयता और तीसरी में सहजाभिव्यक्ति है।

यद्यपि बाणभट्ट की आत्मकथा में तत्सम शब्दों का (उर्दू-फारसी के भी) प्रयोग मिलता है, किन्तु उनमें वे सब अनुवादक ही सामने आता है, बाण नहीं। वस्तुतः तत्सम बाहुल्य और संस्कृतीकरण की प्रवृत्ति ही बाणभट्ट की आत्मकथा की विशेषता है। लेखक ने शब्द का अपव्यय कहीं नहीं होने दिया। शब्दों का प्रयोग बड़ी सुकुशलता से किया गया है। यह ठीक है कि लेखक पर संस्कृत का प्रचुर प्रभाव है किन्तु यह भी ठीक है कि तत्सम शब्दावली के प्रयोग में सामान्यतया उसे आयास नहीं करना पड़ा। तीसरे प्रकार की शैली में आये हुए शब्द यही आभास देते हैं कि उनपर लेखक का पूर्ण अधिकार है और प्रत्येक शब्द उसके संकेत से यथास्थान बैठता चला जाता है मानों वह पूर्वप्रविचिन्तित ही।

यदि यह ठीक है कि शैली में शैलीकार का साक्षात्कार किया जा सकता है तो

यह भी ठीक है कि 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में आचार्य द्विवेदी के दर्शन स्थान-स्थान पर होते हैं। बाण के व्यक्तित्व में आचार्यजी का व्यक्तित्व, उसके आदर्श में उनका आदर्श, उसके निश्चिन्त आचरण में उनका आचरण, उसके स्वभाव में उनका स्वभाव और उसके कार्यों में उनके कार्य संनिहित हैं। संस्कृत भाषा पर जैसा अधिकार बाण का था वैसा ही हिन्दी भाषा पर आचार्यजी का है। बाण की भाषा बड़ी मादक थी, किन्तु आचार्यजी की भाषा और भी अधिक मादक है और उसका कारण है भाषा की मनोवैज्ञानिक भूमिका।

आचार्यजी की भाषा खड़ी बोली है और खड़ी बोली में तत्सम-शब्दावली को आत्मसात् करने की बड़ी क्षमता होती है, किन्तु बाणभट्ट की आत्मकथा की भाषा ने तत्सम-शब्दावली को जिस प्रकार स्वायत्त किया है उससे तो उसकी 'बाणीयता' प्रमाणित-सी होती है। बाणभट्ट की आत्मकथा की भाषा की एक विशेषता यह भी है कि उसका स्वर कई स्थलों पर व्यक्तिपरक तथा ध्वनि मनोवैज्ञानिक है। बाण की भाषा अधिकांशतः अपनी वस्तुपरकता के लिए ही प्रशस्त है। सामान्यतया इतने प्रचुर एवं पृथुल वर्णनों में आत्मपरकता का निर्वाह असंभव नहीं तो अतिदुष्कर अवश्य होता है, किन्तु डा० हजारीप्रसादजी ने दुष्कर को सुकर कर दिखाया है। एक उदाहरण देखिये—

"अपने आवास पर लौटा, तो देखा कि भट्टिनी उत्सुकता के साथ मेरी प्रतीक्षा कर रही हैं। आते ही उन्होंने मृदु तिरस्कार के साथ कहा—'इतनी देर करना ठीक नहीं है। उनकी आँखें नीचे झुकी हुई थीं, अपरोष्ठ कुछ चित थे और चिबुक भारवश्त था स्पष्ट ही भट्टिनी को मेरे देर से आने के कारण क्षोभ हुआ था पर सहज आभिजात्य गौरव से उस क्षोभ में भारीपन आगया था। उसकी वाणी में शासन का क्षोभ था अधिकार का स्वर था, स्नेह की मृदुता थी। मैंने सस्मित उत्तर दिया कि मैं दुर्ग में ही था। अल्पकाल के लिए मैं चिन्तित भी हुआ। इतना क्या सह होगा।"

स्थल-स्थलों पर अधिकांशतः भाषा तत्सम-प्रधान है और शब्दावली बड़ी चटुल एवं ध्वनिमयी है। अघोरपंथ के पुजारी के वर्णन से ऐसे स्थलों पर भाषा की यह विशेषता प्रकट हो जाती है—'उन्होंने बताया कि पुजारी कोई वृद्ध श्रोत्रिय साधु है। उनके काले कार्य शरीर में शिराएँ इस प्रकार फूली दिखाई देती हैं मानों उन्हें जला हुआ कम्बा समझकर चिपटाए पड़े हुए हों। सारा शरीर घाव के दागों से इस प्रकार भरा है, मानों अमरमी देवी ने पुत्र सन्तानों को उस देह से काट-काट कर अलग कर लिया है। वे अपनी गोपीन भी हैं। यद्यपि वृद्ध हैं तो भी कानों में कौड़ी-मुण्ड का लटकाना नहीं भूलते। वे भक्त भी हैं क्योंकि चण्डी-मन्दिर की चौखट पर सिर टकराते-टकराते उनके ललाट में अर्धचन्द्र हो गया है। वे तांत्रिक भी हैं; प्रायः ही वृद्धा तीर्थ-यात्रिणियों पर वशीकरण चूर्ण फेंका करते हैं। वे प्रश्नोत्तर-कुशल भी हैं क्योंकि एक बार दुष्टस्थानों की विधि दिखाने वाला कम्बल लगाकर एक मोल ले चुके हैं। वे चिकित्सक भी हैं, अपने आगे बाँधे

लम्बे और ऊँचे दाँतों को समान बनाने के उद्योग में अन्य दाँतों को खो चुके हैं; पर ये ऊँचे दाँत वहाँ के वहाँ हैं। ये विनोदी भी हैं क्योंकि बालकों के पीछे एक बार ईंट लेकर दौड़ पड़े थे और लुढ़क कर गिर गये थे, जिससे होंठ कुछ कट गये हैं। उनकी विद्या का भाण्डार अक्षय है। समस्त वसिष्ठापव की सम्पत्ति प्राप्त करने की आशा से कपाल में तिलक धारण करते हैं + + + ।"

आचार्य श्री ने लोकोक्तियों और मुहावरों का प्रयोग 'कुटकर' किया है, किन्तु यह प्रयोग उन्होंने वहाँ किया है जहाँ उनकी भाषा सहज और समासहीन है। ऐसे स्थलों पर ही शब्दों में चुहल और वाक्यावली में चुस्ती है। मुहावरे, बड़े जानदार और दैनिक उपयोग के होने के कारण, टकसाली भाषा के अङ्ग बन गये हैं। इसी प्रकार का एक उदाहरण नीचे दिया जाता है —

"निपुणिका की अन्तिम बात मेरे मर्म में चुभ गई।१ वह अगर पश्चात्ताप करती है, तो जिस नरक में पड़ी है २ वहाँ भी स्थान नहीं मिलेगा ।३ वह कुलभ्रष्टा स्त्री है उसके सद्गुणों का समाज में क्या मूल्य है ।४ दुर्गुणों की तो फिर भी कुछ-न-कुछ पूछ है ही। मैंने उसकी कोटरवासिनी आँखों को एक बार फिर देखा। उनमें आँसू भरे हुए थे। मैं बोला—'निपुणिका तू झूठ बोलती है। तू पछता रही है तू कष्ट में है तू आश्रय चाहती है तू मुझे यहाँ से हटने नहीं देना चाहती। मैं जो पहले था वह आज भी हूँ सारी दुनियाँ भी तुझे मेरे आश्रय से अलग नहीं कर सकती। यह दुकान अभी बन्द करदे।५ यहाँ लोग तेरी कोई बात नहीं जानते, ऐसे किसी स्थान पर शान्तिपूर्वक रह। मैं तुझे कीचड़ में छोड़ कर नहीं जा सकता।६ मेरे प्रति तेरा मोह कट गया है, यह अच्छी बात है। तू इस कालिमा-भरी नगरी के राजमार्ग को छोड़ दे। तेरी आँखें कैसी धँस-गई हैं।८ हा अभागी तू मुझ से भी छिपा रही है!' निपुणिका इस बार चुप हो गई।९ वह फूट-फूट कर रो पड़ी।"

भाषा में मुहावरों की शक्ति तो है ही साथ ही उसमें एक अनूठी कसावट भी है। प्रत्येक शब्द अर्थ-गरिमा से आपूरण है। वह जहाँ है वहीं सजा हुआ दीखता है। एक भी शब्द के हटने-हटाने से वाक्य शिथिलता-युक्त नहीं रह सकता। नाटकीयता और व्यापकता से भाषा सजग हो गई है। नीचे के उद्धरण में शक्ति-चमत्कार देखा जा सकता है—

'निर्दय तुमने बहुत बार बताया था कि तुम नारी-देह को देव-मन्दिर के समान पवित्र मानते हो पर एक बार भी तुमने समझा होता कि यह मन्दिर हाड़-माँस का है ईंट-चूने का नहीं।१ जिस क्षण मैं अपना सर्वस्वार लेकर इस आशा से तुम्हारी ओर२ बढ़ी थी कि तुम उसे स्वीकार कर लोगे उसी समय तुमने मेरी आशा को धूलिसात् कर दिया।४ उस दिन मेरा निश्चित विश्वास हो गया कि तुम जड़ पाषाण-पिण्ड हो

१, २ + + + ९ = इस उद्धरण में इतने मुहावरे हैं।

हारे भीतर न देखता है, न पशु है एक अहिंग जड़ता ।६ जीवन में मैंने उसके बाद बहुत दुःख झेले हैं पर उस रात्रभर के प्रत्याख्यानत्व के समान कष्ट मुझे कभी नहीं हुआ ।"

अद्भुत शब्दों में शक्ति का चमत्कार देखता हुआ पाठक भाषा की कसावट भी रस सकता है। भाषा में प्रसाद के साथ माधुर्य गुण का ऐसा सम्मिलन प्रायः दुर्लभ होता है। शृंगार का ऐसा पुटपाक आचार्य द्विवेदी के ही बस की बात है। 'कंकण किंकिणि नूपुर धुनि सुनि+ + + + आदि वाक्यों में शृंगार अपनी तरंग की वास्तविकता प्रकट किये बिना नहीं रहा सका था किन्तु निपुणिका के दत्त वाक्यों में शृंगार वास्तविक भूमिका पर न आकर आन्दोलित सरोवर की तरंगों के समान हृदय-तट से ही टकरा रहा है। यह भाषा की गरिमा नहीं तो और क्या है? सच तो यह है कि बाणभट्ट की आत्मकथा की भाषा-शैली एक ही साथ मोहक, मारक, मधुर, कटु और प्रदर्शनमयी है। कहीं उसका एक गुण प्रधान है तो कहीं दूसरा और कहीं-कहीं गुण-मिश्रण-सौष्ठव भी है। व्यंग्य कहीं तीर का प्रभाव करते हैं तो कहीं अमृत-माधुर्य का। कहीं-कहीं सरल पदों में भी बड़ी वक्रता दिखाई देती है और कभी-कभी वक्रता जटिल हो जाती है। निर्दिष्ट वक्रता का एक उदाहरण यह है—

मेरे जीवन में जो कुछ घटा है उसे जानने की क्या जरूरत है। आजकल मैं पान बेचती हूँ और छोटे राजकुल के अन्तःपुर में पान पहुँचाया करती हूँ। सब मिलाकर मैं दुःखी नहीं हूँ। तुम मेरी चिन्ता छोड़ो। जहाँ जा रहे हो, वहाँ जाओ। यदि इस नगर में रहो, तो कभी-कभी दान पाने की आशा में अवश्य रखूँगी।"

इन वाक्यों में सरलता है, किन्तु इनके पीछे विदग्धता भी देखी जा सकती है। इनमें चुटीली वक्रता और तीव्रता का अनुभव न करना भाषा के मनोवैज्ञानिक पक्ष को विस्मृत करना है।

कथा-शैली अत्यन्त जीवन्त से आरम्भ होकर तल्लीनता की ओर बढ़ती जाती है। भाषा मुक्त या अमित ही नहीं है, वरन् प्रसंगानुरोध से रूप-रंग बदलती चलती है। द्विवेदीजी की भाषा का एक पक्ष चटुलता है और दूसरा व्यावहारिकता। बीच-बीच में संस्कृत-तत्सम शब्दों के उद्घोष से वह अधिक चमत्कृत हो गई है। भाषा की यह छटा रूप-रंग, उत्सव-शोभा प्राकृतिक दृश्य आदि के वर्णनों में विशेषतया देखी जा सकती है। अद्भुत कल्पना की शीतल छाया में प्रसंगों का केवल अधिक आकर्षक दृष्टिगोचर होता है। यथास्थल प्रसंगों के विषयान्तर का समावेश लेखक की उस विलक्षण-शक्ति का परिचय देता है जिसमें स्वच्छन्दता का रंग उसे बिना नहीं रह सकता। विशेषता की सूक्ष्मता और वर्णन की सजीवता भाव-परिवर्तन के अनेक बिन्दुओं से प्रकट होती है। यही बिन्दु लेखक के वर्णन-कौशल के प्रमाण हैं। नूतन विषय, नूतन काव्य, नूतन कथा-शैली, उपन्यास में नूतन नाटकीयता, नूतन प्रसंग और नूतन भाषा-शैली—बाणभट्ट की आत्मकथा में सभी कुछ तो नूतन है। एक बाणभट्ट पुराना है तो क्या उसकी पुरातनता को आधार दिलाकर भी सृष्टि की गई है, उसमें नवनवोन्मेष, नवविन्यास और नवनवता है।

१८ कृति की विशेषताएँ

बाणभट्ट की आत्मकथा एक वर्णनप्रधान रचना है और वर्णनों का इतना प्राचुर्य है कि इसे वर्णन-कोष कहना अनुचित न होगा। प्रकृति, नगर, उत्सव, धर्म, संस्कार, कला, राजनीति आदि से सम्बन्धित वर्णन इतने अधिक हैं कि कई बार उनकी पृथुलता में कथा का जटिल सूत्र खो जाता है फिर भी वर्णन पाठक के मन में ऊब पैदा करने वाले नहीं हैं। कला के कोमल मधुर और मोहक स्पर्श ने उन्हें इतना भव्य बना दिया है कि मन उनमें रमे बिना नहीं रहता। इसके अतिरिक्त वर्णनों की एक विशेषता यह भी है कि वे उपयुक्त स्थान पाकर-कृतकृत्य हो गये हैं। यह ठीक है कि वे संस्कृत ग्रन्थों की सम्पत्ति हैं, वे दीर्घकाय हैं वे कथा के सहज प्रवाह को रोक कर स्थित हैं फिर भी वे कथा में इस प्रकार व्यवस्थित हो गये हैं कि वे अपने-अपने स्थान की शोभा बढ़ा रहे हैं। उनकी स्थिति में कोई परिवर्तन कथा-सौन्दर्य को बिगाड़े बिना नहीं किया जा सकता। वे जिन स्थानों पर व्यवस्थित हैं वे उनकी प्रकृति के अनुरूप हैं। उस स्थान का वातावरण उनके स्वभाव के अनुरूप है। वे वर्णन स्थिति और परिस्थिति को कहीं प्रस्तुत करते हैं कहीं सजाते हैं और कहीं उनकी व्याख्या करके उनके रहस्यों की व्याख्या और मीमांसा करते हैं।

इस रचना की दूसरी विशेषता नारी-पात्रों का प्राधान्य है। जिस प्रकार प्रमुख कथा अनेक वर्णनों और प्रसंगों के योग से पुष्ट एवं पीन दिखाई पड़ती है उसी प्रकार प्रमुख पात्र (बाण) का चरित्र अनेक नारी-पात्रों के संदर्भ में दीप्ति पूर्ण कान्ति प्राप्त करता है। राज्यश्री की नगण्य पात्रता को छोड़कर प्रायः सभी प्रमुख नारी-पात्र कल्पित हैं। ऐसी बात नहीं है कि अनेक नारी-पात्रों का सम्पर्क केवल बाण से है, किन्तु प्रायः सभी नारियाँ प्रत्यक्षतः अथवा अप्रत्यक्षतः बाण के चरित्र की उदारता और भास्वरता को प्रकट करने में अपना-अपना योग देती हैं। वे एक ओर तो बाण को दूसरे पुरुष पात्रों की तुलना में गौरव प्रदान करती हैं और दूसरी ओर नारी-जीवन के विविध दुर्बल एवं हीन पक्ष को पाठकों के सामने ला देती हैं। निपुणिका भट्टिनी और सुचरिता के अतिरिक्त चारुस्मिता का 'पार्ट' भी अपने पक्ष विपक्ष में बहुत कुछ अर्पित कर देता है।

शृंगार के प्रचुर उपकरण होते हुए भी रतिभाव कभी भी अनुभावों के मार्ग से अभिव्यक्त होता नहीं देखा जाता। भाव का उस समय तक पता नहीं चल सकता जब तक कि वह अनुभाव का मार्ग स्वीकार न करले। वाचिक और कायिक अनुभाव ही स्पष्ट-भाव-सूचना के माध्यम हैं। 'सात्विक' भाव को प्रामाणिक अभिव्यक्ति के लिए निर्बल

सिद्ध होता है। कभी-कभी तो 'सात्विक' भाव के सम्बन्ध में भयंकर भ्रम जाग्रत कर देता है। बाणभट्ट की आत्मकथा में निपुणिका और भट्टिनी के सात्विकों से कभी-कभी ऐसे ही भ्रम की स्थिति पैदा हो जाती है। भट्टिनी के सात्विक भाव में ऐसे भ्रम के लिए अवकाश देखिये —

उनका गला रुँधा हुआ था, दृष्टिकातर थी, और करुण स्वरधारा से आर्द्र था। मुझ में तब भी उठने की शक्ति नहीं थी। मैंने आँखें मूँदलीं और भट्टिनी की स्नेह मेदुर मुखश्री का ध्यान करने लगा।" ऐसा ही एक उदाहरण निपुणिका के सम्बन्ध में देखिये—

निपुणिका पर-कटे पक्षी की भाँति मेरे चरणों पर लोट गई। + + + । निपुणिका अपनी लज्जाहीन अवस्था में जो कसकर मेरा पैर पकड़े रही। बड़ा कठोर बन्धन था वह। मैंने भट्टिनी को देखकर लज्जावश उठने लगा पर उस बन्धन ने मेरी चेष्टा में बाधा दी।"

इसी प्रकार के उदाहरण बाण के सम्बन्ध में भी दिये जा सकते हैं। कहने का आशय यह है कि प्रेम को दिशा बदलने के लिए पर्याप्त अवसर मिलते हैं, किन्तु उसमें कतुए कमी नहीं आती। विश्लेषण और व्याख्या की किसी सीमा में 'आत्मकथा' का प्रेम आबद्ध नहीं होता। जिस दिशा में हिन्दी-उपन्यास चल रहा है अथवा जो मार्ग अधिकांश हिन्दी उपन्यासकारों ने स्वीकार कर रखा है वह आत्मकथा के लेखक को स्वीकार नहीं है। आत्मकथा में प्रेम है किन्तु वासना से अनाविल है। प्रेम-सम्बन्ध है किन्तु औदात्यमय है। सच तो यह है कि 'आत्मकथा' अपने मूल प्रवाह में 'उदात्त-प्रेम-कथा' है।

इसकी दूसरी विशेषता इसके स्वरूप की है। 'आत्मकथा' के प्रकाश में आते ही बहुत दिनों तक तो यही विवाद चलता रहा कि "यह 'आत्मकथा' नहीं है।" कुछ विद्वान् इसके कथानुभव की वास्तविकता को या इसके आशय को न समझ कर इस कृति को 'बाणभट्ट' की कृति ही मानते रहे किन्तु पुनः पुनः चिन्तन और मनन करने पर विद्वानों की धारणा में परिवर्तन होने के लक्षण दिखाई देने लगे। इतने पर भी स्वरूप निर्णय के सम्बन्ध में सन्देह की स्थिति बनी ही रही। जैसे-जैसे कथानुभव और उपसंहार के भावों की गहराई में बुद्धि से उतरने का उपक्रम किया वैसे-वैसे इस कृति का स्वरूप प्रकाशित होने लगा। आज इसकी मौलिकता सिद्ध हो चुकी है, किन्तु यह सामान्य उपन्यासों से भिन्न है। इसका आत्मकथात्मक रूप इसकी विशेषता नहीं है, इसकी विशेषता है इतिहास की गोद पर लदी हुई 'आत्मकथा', उस व्यक्ति की आत्मकथा जिसकी कोई कृति

अपनी पूर्णता का दावा नहीं कर सकती। इतिहास, आत्मकथा उपन्यास, प्रेम-कथा कल्पनालोक, कहानी आदि अनेक रूपों की सम्मिलित झाँकियाँ पाने के लिए इस कृति में पर्याप्त अवकाश है फिर भी यह सिद्ध है कि यह आत्मकथात्मक ऐतिहासिक उपन्यास है जिस पर रोमांस का गहरा रंग चढ़ा हुआ है।

आत्मकथा' में बाण-विषयक रूप चित्र संस्कृत से भिन्न है। संस्कृत-साहित्य का बाण अपने चरित्र को उज्ज्वल रूप में व्यक्त नहीं कर सका है। जैसे ही वह हर्ष का राजकवि बनता है उसकी जीवनचर्या परिवर्तित हो जाती है, किन्तु आत्मकथा के बाण का स्पष्टत्व अक्षिप्त ही रहता है प्रत्युत वह एक महान् कलाकार और महापुरुष के रूप में ही अपने चरित्र और स्वभाव को सिद्ध करता है। ऐसे अनेक स्थल आते हैं जहाँ इस सन्देह का अवसर मिलता है किन्तु इधर-उधर के आचरण की भूमिका पर आगा तेर संदेह की आसुक्त-मिति सहसा ढह जाती है। यह बड़े विस्मय की बात है कि जो व्यक्ति इतना बड़ा कलाकार है जो अविवाहित है और जिसका जीवन—आकर्षक व्यक्तित्व, प्रतिपल परीक्षा-काल अर्पित करता है, वह आत्मकथा में इतना संयत संतुलित, उदार, सहृदय, प्रेमी और न जाने क्या-क्या एक ही साथ बना रहता है। उसके चरित्र में कोई धब्बा भी तो सिद्ध नहीं हो पाता है उसके प्रभावार में कहीं भी तो दुर्गन्ध नहीं आ पाती। बाण को यही चरित्र अर्पित करने के लिए लेखक का प्रयास हुआ है और उसमें वह पूर्णतः सफल हुआ है।

यों तो साहित्य की विशेषता कुतूहल की सृष्टि करना है, किन्तु प्रबन्ध रचनाओं में तो इस कुतूहल की अन्तःसलिला बहनी ही चाहिये। जब तक रचना कुतूहल की सृष्टि और संवाद को साथ रहती है तब तक उसकी सफलता असुरक्षा रहती है। बाणभट्ट की 'आत्मकथा' कुतूहल की अनेक परिस्थितियों से आपूर्ण है। बाण, निपुणिका और भट्टिनी का सम्बन्ध कुतूहल की धारा को बहाता हुआ भी अनेक परिस्थितियों में अतिरिक्त कुतूहल प्रस्तुत करता है। धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियाँ के विविध पक्ष कुतूहल को नये-नये आकार देते दिखाई देते हैं। इसीलिए वर्णनों की प्रचुरता और पृथुलता में भी—कथांश से विप्रकृष्ट होकर भी पाठक की रुचि कुतूहल के सबब से जीवित एवं पुष्ट बनी रहती है।

जिस प्रकार आत्मकथा के प्राणों में कुतूहल प्रविष्ट है उसी प्रकार आत्मकथा के सामाजिक सांस्कृतिक राजनीतिक, और धार्मिक वातावरण में नारी-जीवन उपस्थित या गर्भित ही रहा है। बहुत कम कलाकारों ने नारी के महत्त्व को समझा-समझाया है। आधुनिक युग में भारत के विविध आन्दोलनों में नारी ने जो योग दिया उसका साथ

जिक महत्व अविस्मरणीय है। उसके योग देते ही पुरुष को अपने अहंकार का खोखलापन प्रतीत हुआ और उसने यह महसूस किया कि समाज की आधी नारी के सहयोग के बिना चल नहीं सकती है। इधर टाल्स्टाय के 'मानवतावाद' ने भारतीय विचार-धारा में एक क्रान्ति पैदा की और गांधी आदि नेताओं ने पश्चिम से प्रेरणा प्राप्त की। परिवर्तन की इस लहर का न तो सामना किया जा सकता था और न सामना करना कोई बुद्धिमत्ता की बात थी; अतएव मानवतावाद के अन्तराल में नारी के स्वरूप, महत्व और उनकी अनेक समस्याओं को भी निरखा-परखा गया। कुछ तो पुरुष ने नारी को समझने का प्रयत्न किया और कुछ उसने पुरुष को समझाया। बस फिर क्या था! नारी उठी उसने क्रान्ति का झंडा उठाया और पुरुष के साथ समानाधिकार का दावा करके वह अपनी समस्या को सुलझाती हुई देश की समस्या के हल खोजने में अपना योग देने लगी।

आचार्य द्विवेदी ने कुछ तो अपने स्वभाव के कारण कुछ पारिवारिक शालीनता के कारण और कुछ देश-काल की आवश्यकता के अनुरूप नारी को प्रकाश में लाने और उनके अन्तर की शक्ति को चमकाने की विलक्षण, किन्तु सफल चेष्टा की। लेखक ने पुरुष के वैराग्य की दुर्बलता बतलाते हुए जीवन-साधना में नारी के सहयोग को बड़े कौशल से सिद्ध किया। अन्धकार में नारी के प्रति जो घृणा पैदा करदी गई थी उसे उन्मूलित करने में लेखक ने बहुत बड़ा साहित्यिक योग दिया।' इस योग की विशेषता यह रही कि दूसरे साहित्यकारों ने अधिकांशतः नारी की दुर्बलता दयनीयता आदि को व्यक्त करना ही अपना लक्ष्य किन्तु लेखक ने नारी के पावन स्वरूप और उसके महत्व पर भी प्रकाश डाला। इससे न केवल पाठक की करुणा उद्बुद्ध हुई वरन् नारी के प्रति उनकी श्रद्धा और आस्था भी जाग्रत हुई। नारी को काम-केलि का खिलौना न कहकर आचार्य द्विवेदी ने उसे वन्दनीय बना दिया और नारी के शरीर में देव-मन्दिर की आस्था पैदा करने लगी। लेखक ने नारी में प्रेम के महान् देवता को प्रतिष्ठित करके आधुनिक लेखकों और साहित्यकारों को ही नहीं वरन् अपने पाठकों को जीवन की एक निगूढ़ निधि एक नई दिशा में अवगत कराया।

प्रायः यह कहा जाता है कि आधुनिक साहित्य में देश प्रेम की लहर कहीं-न-कहीं मिल ही जाती है। मैं इस उक्ति या सिद्धान्त से सहमत नहीं हूँ। न तो प्रत्येक रचना में देश-प्रेम मिलता है और न प्रत्येक रचयिता देश-प्रेमी होता है। इसके अतिरिक्त देश-प्रेमी होना एक बात है और देश प्रेम से उसे सिद्ध रचना लिखना दूसरी बात है। लेखों के लक्ष्य की अनिवार्यता सिद्ध नहीं होती है। फिर भी जो देश-प्रेमी साहित्यकार है उनकी कृतियों में देश-प्रेम का मिलना स्वाभाविक बात है।

साहित्य में देश-प्रेम किसी न किसी भाषा में पाया तो प्रत्येक युगमें गया है किन्तु उसके स्वरूप में भेद मिलता है उसकी अभिव्यक्ति के प्रकार में भेद मिलता है। देश-प्रेम की नई झलक, देश-भक्ति की एक नई चेतना भारतेन्दु-काल में ही प्रकट हो गई थी, किन्तु समय की गति के साथ उस चेतना में विकास होता गया। जैसे-जैसे विदेशी सत्ता अपनी जड़े मजबूत करने के लिए भारतीय जनता को दुर्बल और असहाय बनाने का प्रयत्न करने लगी वैसे-वैसे चेतना को उद्बोधन और विकास मिलता चला गया। एक समय ऐसा आया कि देश के कर्णधारों ने विदेशी सत्ता से लोहा लेने का व्रत ले लिया। कांग्रेस ने आन्दोलन छेड़ दिया और असहयोग के साथ देश के कोने-कोने में प्रचारात्मक उद्घोष फैला दिया। देश के सु-भाग प्राकृतिक दृश्य तथा गुण साहित्यिक अंग बनने लगे और प्राचीन भारत का वीरत्वमय इतिहास साहित्य के माध्यम से देश की जनता में जागृति और स्फूर्ति उद्वेलित करने लग गया। कहानियों, उपन्यासों निबन्धों और नाटकों के अतिरिक्त कविता ने जन-जागरण की दिशा में बड़ी दृढ़ता से कदम उठाया।

इस समय के साहित्य के भी दो रूप थे—क्रान्तिकारी साहित्य तथा उद्बोधनकारी साहित्य। जिन साहित्यकारों ने अपने को देशार्पित कर दिया वे क्रान्तिकारी सर्जना में जुटे रहे और जो सन्तुलन के साथ देशप्रेम को जगाने और देश की परिस्थितियों का रूप-चित्रण सामने प्रस्तुत करने में लगे रहे वे वस्तुतः युगजयी साहित्यकार थे। वे देश-प्रेम में निमग्न अवश्य थे किन्तु साहित्य से दूर जाकर नहीं। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ऐसे ही साहित्यकार हैं जो स्वतंत्रता से पूर्व देश-प्रेम की लहर को उद्वेलित करने के लिए लालायित थे और 'आत्मकथा' जैसी रचना के माध्यम से उन्होंने इतिहास की गाँठ खोलकर वर्तमान आवश्यकताओं के अनुरूप सामग्री संकलित करने की प्रेरणा दी। देश पर संकट आने के समय देश के प्रत्येक नर-नारी का कर्तव्य उसके उद्धार के लिए जुट जाना है। देशद्रोही सेना के भरोसे देश को संकट के हाथों सौंप देना देश-प्रेम का कोई प्रमाण नहीं है। ऐसे समय बच्चे-बच्चे को देश की रक्षा के लिए प्रयत्नशील होना चाहिये। प्रत्येक व्यवसाय का आदमी देश की रक्षा के लिए उपयोगी बन सकता है। इस प्रकार 'आत्मकथा' के लेखक ने समाज की दृष्टि को बदलने का अपूर्व प्रयत्न किया।

स्वतंत्रता से पूर्व इस कृति के सृजन-काल में देश में सामन्तयुग की सभी दुर्बलताएँ उपस्थित थीं। सामन्तों के 'रावलों' में नारियों की दशा दयनीय थी। उनकी सेवक-सेविकाओं की दशा पर कठोरता भी आँसू बहाती थी। किसानों और श्रमिकों को सुख नहीं था। परिश्रम की भट्टी में तप-तप कर भी उनको श्रम का शीतलता नहीं मिल सकती थी।

सामन्तयुगीन नारियों को अपहृत कर ले जाते थे और उनके सतीत्व को भ्रष्ट

रने के लिए उन्हें यम-यातनाएँ दी जाती थीं। सामन्तों के राजसों में उनको बन्दी की ीति रखकर उन पर कठोर प्रतिबन्ध रखा जाता था। अनेक उज्ज्वल चरित्र वाली कुल ुएँ अपने सतीत्व को अर्पित करने के लिए विवश हो जाती थीं। न जाने कितनी टनियाँ सामन्तों के प्रासादों में कारा-भोग कर रही थीं, किन्तु विपुलिका और बाण के मान उदार और स्वामी नर-नारी बहुत कम दृष्टिगोचर होते थे। इन परिस्थियों को ाकते लाने तथा उनकी मुक्ति का उपाय सुझाने के प्रयत्नों ने 'बाणभट्ट की आत्मकथा' ो एक अपूर्व कृति बना दिया है।

इन विशेषताओं के अतिरिक्त 'आत्मकथा' की एक विशेषता यह है कि उसे भारतीय ललितकलाओं की व्याख्या और उपयोगिता को प्रकट करने में अभीष्ट सफलता मिली है। कादम्बरी और हर्षचरित में कलाओं का जो रूप अनावृत किया था उसको बड़ी कुशलता से 'आत्मकथा' ने उद्घाटित या रूपायित किया है। अतएव कलाओं के संश्लिष्टरूप को सामने लाने और उनको आदर दिलाने की दृष्टि से लेखक ने उनके रूप का पृथक्-पृथक् विश्लेषण किया है।

❀

१६ कृतिकार की औपन्यासिक सिद्धियाँ

साहित्यिक सर्जना अधिकांशतः गद्य और पद्य दो ही शैलियों में होती है, किन्तु इन दोनों का एक मिश्ररूप भी प्रचलित रहा है जो चंपू नाम से अभिहित रहा है। गद्य और पद्य स्पष्टतः दो भिन्न शैलियाँ हैं, किन्तु चंपू को दोनों का सामान्य मिश्रण समझ लेना भ्रम होगा। कहीं और कभी भी गद्य के बाद पद्य की स्थिति किसी भी रचना को चम्पू नहीं बना देती। यदि ऐसा होता तो प्राचीन संस्कृत नाटक अथवा आज का नाटक भी जिसमें गद्य का समावेश होता है, चंपू की संज्ञा पा लेता किन्तु नाटक 'चम्पू' नहीं होता है। चंपू मध्य काव्य होता है, दृश्य काव्य नहीं। चम्पू में स्थलों व्यक्तियों स्वभावों पूर्व-दोनों परिस्थितियों आदि की व्याख्या करने में लेखक का निजी अधिकार होता है। इसके अतिरिक्त वह कुछ पात्रों का उपयोग करके कहानी और उपन्यास की गति कथोपकथनों का आश्रय भी ले सकता है। दूसरी विशेषता यह है कि चम्पूकृत पद्य मनोरंजन के लिए ही प्रयुक्त होता है। पद्य में किसी कथन की पुष्टि को सांकेतिक अवकाश मिलता है और एक पद्य का संकेत दूसरे पद्य के लिए प्रेरणा-स्रोत बनकर अपनी स्थिति के औचित्य को सिद्ध करता है। इन सब पद्यों का निचोड़ अन्तिम पद्य में निहित रहता है जो आरम्भ के साथ अपना निकटतम सम्बन्ध छोड़े बिना नहीं रह सकता। यहाँ यह बात भी स्मरणीय है कि आरम्भ और अन्त कथा-सूत्र से सम्बद्ध रहते हैं। मध्य सम्बन्ध यद्यपि गद्य के द्वारा ही प्रमुखतः स्थापित होता है किन्तु पद्य-भाग उसको शक्ति देकर बढ़ाने में बड़ा योग देता है। इस प्रकार गद्य और पद्य से चम्पू का भेद स्पष्ट है।

यों तो गद्य और पद्य दोनों ही अभिव्यक्ति की शैलियाँ रही हैं किन्तु गद्य की व्यावहारिकता भुलाई नहीं जा सकती। गद्य और पद्य दोनों ही जीवन को धारण करके साकार होते हैं, किन्तु पद्य में जीवन की व्याख्या को किसी न किसी स्तर पर परिभाषित स्वीकार करनी ही पड़ती है। इसके अतिरिक्त उत्तम काव्य की अभिधा पाने के लिए पद्य को लक्षणा और व्यंजना शक्तियों का प्रयोग भी लेना पड़ता है। गद्य भी काव्य स्तर पर आने के लिए इन शक्तियों से विरहित नहीं रह सकता किन्तु उपन्यास कहानी सामान्य लेख आदि के गद्य में उनकी उतना अवकाश नहीं होता जितना पद्य में होता है। इसके अतिरिक्त गद्य के ऊपर अभिव्यक्ति-सम्बन्धी कोई प्रतिबन्ध नहीं होता। छन्द लय ताल आदि के सम्बन्ध गद्य के स्वातन्त्र्य की सीमाएँ निर्धारित नहीं करते। पद्य और गद्य अपने अपने बन्धनों को छोड़कर एक दूसरे के इतने निकट आ सकते हैं कि उनके भेद की अवगति दुष्कर हो जाती है। सामान्यतया यह माना जाता है कि गद्य वाच्यार्थ को अपना कर केवल वस्तु के निरूपण का साधन बनता है। मेरी समझ में यह बात सर्वा

अतः सिद्ध नहीं हो सकती। गद्य-साहित्य में सर्वत्र नहीं तो यत्र-तत्र, कुछ स्थल ऐसे भी देखे जा सकते हैं जिनमें लक्ष्यार्थ या व्यंग्यार्थ अपनी पूरी शक्ति के साथ प्रतिष्ठित होते हैं। ऐसे स्थलों पर गद्य को वाच्यार्थ की सीमाओं में आबद्ध नहीं किया जा सकता और फिर उस पर वस्तु-परकता आरोपित नहीं की जा सकती। भावात्मक या व्यक्तिपरक गद्य में भी वस्तुपरकता का अवसान हो जाता है।

लय, छन्द, तुक आदि के प्रयोग से पद्य साहित्य को गद्य से अलग जो मान्यता मिली हुई है वह एक भेदक दृष्टि की सूचना देती हुई काव्य-बन्धन को स्वीकार करती है। आज यह स्वीकृति पर्यवसित होती जा रही है। नई कविता और गद्य-काव्य दोनों में पर्यवसान की दिशा का स्पष्ट संकेत मिल रहा है। गद्य में लेखक की अभिव्यक्ति को स्वतन्त्रता रहने से और स्वतन्त्रता की पिपासा के अति उदय होने से गद्य की विधाएँ नये-नये रूप लेकर विकसित हो रही हैं।

हिन्दी-गद्य प्रमुखतः आज दो धाराओं में प्रवाहित हो रहा है—प्रबन्धात्मक गद्य और मुक्तक गद्य। प्रबन्धात्मक गद्य के दो भेद दृष्टि-गोचर होते हैं—एक कथात्मक और दूसरा कथाहीन। कथात्मक गद्य के अन्तर्गत कहानी, उपन्यास, एकांकी नाटक जीवनचरित आत्मकथा संस्मरण, रेखाचित्र रिपोर्ताज आदि। कथाहीन प्रबन्धों में विवेचन का प्रमुख क्रम मिलने पर भी उनमें किसी कथा का आग्रह नहीं होता। स्थान-स्थान पर लेखक अपने कथन की पुष्टि के लिए वैयक्तिक अथवा इतर सन्दर्भों का उपयोग कर सकता है किन्तु कथात्मक प्रबन्धक की भाँति कथाहीन प्रबन्ध किसी बिन्दु विशेष पर जाकर समाप्त करने के लिए विवश नहीं होता। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि कथात्मक प्रबन्ध एक ऐसा पुरुष है जिसके प्रसारों और उन्मेषों की एकतानता अनिवार्य है। इसके विपरीत कथाहीन प्रबन्ध में केवल कथात्मक सम्बन्ध की एकता उद्दिष्ट होती है।

निबन्ध लेख फीचर आदि इसी प्रकार की रचनाएँ हैं। फीचर यात्रा या दृश्य वर्णन में स्थानों का वह महत्त्व मिलता है जो कथात्मक प्रबन्ध में नायक को मिलता है। विज्ञापन पत्र आदि में कभी-कभी जिस गद्य का साक्षात्कार होता है, वह मुक्तक गद्य का अच्छा उदाहरण प्रस्तुत करता है।

आजकल कहानी और उपन्यास का भारी बोलबाला है। भारत के कोने से हिन्दी-जानकार भी उपन्यास और कहानी का ही सबसे अधिक सम्मान करते हैं। ये विधाएँ प्रचुर मात्रा में लिखी जा रही हैं और अधिकता से पढ़ी जाती हैं। अतएव प्रचार और प्रसार की दृष्टि से इनका स्थान सर्वोपरि है। इन दोनों में भी सामान्य लोगों ने कहानी को लिखने की दृष्टि से सरलतम विधा समझ रखा है क्योंकि यह आकार में छोटी होती है। इसके लिखने में अधिक श्रम नहीं आता किन्तु मैं कहानी-कला को उपन्यास-कला से कुछ कठिन या कठिन मानता हूँ। कहानी के छोटे पात्र में बातों को निचोड़ कर भरना

अधिक दुरूह कार्य है। इसमें उद्देश्य पर पहुँचने के लिए लेखक को बहुत थोड़ा अवकाश मिलता है और इस अवकाश में कुतूहल की व्यवस्था बड़ी दुरूह होती है। वातावरण और चरित्र को विकसित विषय का अवसर कुशला के हाथों में ही मिल सकता है। उपन्यास में इनको विकास के लिए अधिक अवकाश मिल जाता है। जो हो, यदि 'समय' की बात को भुला दिया जाये तो पाठक उपन्यास को ही अधिक पसंद करता है।

जहाँ लेखक आधुनिक जीवन की जटिलता और व्यस्तता का पूर्ण चित्र प्रस्तुत करने के लिए प्रेरित होता है अथवा जहाँ वह हृदय की व्यस्त जटिलता को उपमित करना चाहता है वहाँ उसका काम कहानी से नहीं चलता है। महाकाव्य और नाटक के अतिरिक्त उपन्यास ही इस काम के लिए उपयुक्त होता है।

नाटक और महाकाव्य के लिए अब तक तकनीकी कौशल की अपेक्षा रही है। इस आवश्यकता का ह्रास आज भी नहीं हुआ है। यद्यपि साहित्यिक नाटकों के विकास ने इस आवश्यकता को कुछ कम अवश्य कर दिया है फिर भी रंगमंचीय आवश्यकताओं की उपेक्षा नहीं की जा सकती है। महाकाव्य के बंधन भी कुछ शिथिल हुए हैं किन्तु हरएक व्यक्ति महाकवि होने की क्षमता नहीं रखता है। यद्यपि उपन्यासकार होना भी हर किसी के बस की बात नहीं है फिर भी यह विधा उक्त साहित्यिक विधाओं से अधिक सुकर है। सुकरता और आवश्यकता की दृष्टि से उपन्यास प्रचार और प्रसार में अग्रगण्य है।

यद्यपि उपन्यास के विकास में पश्चिमी साहित्य की प्रेरणा को भुलाया नहीं जा सकता है किन्तु भारतीय साहित्य में 'कादम्बरी' और 'दशकुमारचरित' की परम्परा भी अविस्मरणीय है। 'कादम्बरी' और 'दशकुमारचरित' में वर्णनों के प्राधान्य के साथ शैली का अपना निजी वैशिष्ट्य भी था। समासों के विधान में अलंकार-योजना संस्कृत 'कथा-साहित्य' के गौरव की धु धुनी बजाती है। वर्णन-प्राचुर्य कथा के कलेवर को विस्तार देने के अतिरिक्त वातावरण को आकार बनाने में भी योग देता था। वैसा वातावरण और वैसे वर्णन आज के कथा-साहित्य में नहीं मिलते हैं और उनके मिलने के लिए अधिक धु आवश्यक भी नहीं है। युग-परिवर्तन की भूमिका में वातावरण भी परिवर्तित हो जाता है, किन्तु ऐतिहासिक उपन्यास भूत में वर्तमान की झाँकियाँ देकर ही तो अपनी महिमा बढ़ाता है।

एक और बात है जो प्राचीन 'कथा-साहित्य' को आधुनिक कथा साहित्य से भिन्न करती है और वह है 'वाद'-विवेचन। आज के उपन्यासकार के इर्दगिर्द जो राजनीतिक 'वाद' समाज के वातावरण को 'धुँआधार' और बोझिल बनाये हुए हैं वे उसकी कृति में भी कुछ आते हैं। उपन्यास में उनके प्रवेश के लिए बहुत बड़ी गुंजाइश है। उपन्यास के 'नायक' को लेखक जिन पात्रों से संयुक्त करता है उनके सम्बन्ध से राजनीतिक वादों के अनेक परिवेश प्रस्तुत हो जाते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं है कि साहित्यकार

अपनी कृति में अपने युग की उपेक्षा नहीं कर सकता और उपन्यास-जैसी विधा में तो युग अपनी समग्रता में प्रस्फुटित होता है। इसलिए युग के अनेक परिपार्श्वों की इन्हीं-भाँति कड़ियाँ अपने-अपने रूप-रंग में आविर्भूत होती हैं। इन्हीं कड़ियों में वादों का प्रकाश अथवा प्रच्छन्न रूप अवगत हो सकता है। प्राचीन कथा-साहित्य में इन राजनीतिक वादों का नाम तक नहीं था। राजनीतिक दाव-पेच अवश्य थे किन्तु राजनीति अनेक सिद्धान्तों के आधार पर समाज को अनेक वर्गों में विभक्त नहीं करती थी। हाँ, धर्म की विविधता राजनीति को प्रभावित अवश्य करती थी। यही कारण है कि प्राचीन भारतीय साहित्य में धर्म का पक्ष बहुत प्रबल रहा है फिर भी धर्म साहित्य के अपने मूल्य को अवमानित नहीं कर पाया है। धर्म के सिद्धान्तों के प्रचार को मन में रखता हुआ भी लेखक साहित्यिक उद्देश्य को निभाने में प्रमाद अथवा स्वेच्छाचारिता से काम नहीं लेता था।

आज धर्म की बड़ी बागडोर राजनीति के हाथों में गिर गई है और राजनीति भी धर्म से प्रेरणा नहीं ले रही है। धर्मनिरपेक्ष राज्य की सैद्धान्तिक मान्यता का प्रभाव साहित्य पर भी पड़ रहा है। धर्म तिरस्कृत होकर भी विस्मृत नहीं है, किन्तु प्राचीन और अर्वाचीन साहित्य के भेद को स्पष्ट करने के लिए उसके ह्रास का भी मूल्य है। 'वाद' इसी ह्रास के रूप को प्रस्तुत करते हैं।

आज के साहित्य में मुख्यतः दो ही प्रकार के वाद अवगत होते हैं—राजनीतिक वाद तथा साहित्यिक वाद। 'प्रगतिवाद' स्पष्टतः राजनीतिक वाद है। यह मार्क्स के भौतिक द्वन्द्ववाद की धरा पर पला है। छायावाद और प्रयोगवाद को साहित्यिकवादों में ही गिना जाता है क्योंकि इनका सर्वस्व मुख्यतः भाषा-शैली से है। 'यथार्थवाद' की धरा पर भी 'अर्थवाद' की समस्याएँ निहित हैं। व्यक्तिवाद और यौनवाद की भूमिका में मनोवैज्ञानिक आधार को नहीं भुलाया जा सकता है। इनके अतिरिक्त आधुनिक साहित्य और भी अनेक वादों से आक्रान्त है जिनसे साहित्य अपने मौलिक लक्ष्य का निर्वाह नहीं कर पाता है।

नये हिन्दी उपन्यास ने वादों को अपनाते हुए अपना 'टेक्नीक' में भी कुछ विकास कर लिया है। उसमें वाद प्रवाह की विशेषताएँ बहुत स्पष्ट हैं। इन वादों को राजनीति ने जन्म देकर पोषण भी किया है। इसलिए वादों का मूल कारण-राजनीति है। अनेक सिद्धान्तों और मतवादान्तरों के सम्बन्ध से राजनीति अपने जितने पहलुओं में स्पष्ट हो रही है साहित्य भी उनको अपनाता चलता है। इसके अतिरिक्त जैसा कि कहा जा चुका है कुछ वाद विज्ञान या मनोविज्ञान से भी सम्बन्ध रखते हैं। फ्रायड और युंग ने ऐसे वादों को जन्म देकर साहित्य के विस्तार के लिए एक नई भूमिका तैयार कर दी है। कुछ वाद शुद्ध काल्पनिक धरा पर मनोविज्ञान से निकल पड़े हैं। साहित्य ने उनको भी अपना लिया है। अतिवाद और व्यक्तिवाद का साहित्यिक योगदान या वर्ग को

मनोवैज्ञानिक धरा पर ही विकसित हुआ है। यदि यथार्थवाद और प्रगतिवाद में आर्थिक समस्याओं की उलझन है तो छायावाद और प्रयोगवाद में शैलीगत उलझन भी कुछ कम नहीं है। छायावाद के प्रतीक कुछ जाने पहचाने से दीखने लगे थे कि प्रयोगवाद ने अपने कदम, प्रतीकों के क्षेत्र में, बहुत आगे बढ़ा दिये। रहस्यवाद में शैलीगत विशेषता होते हुए भी एक विशेष चिन्तन-पद्धति है जो छायावाद में नहीं है। छायावाद में प्रकृति का मानवीकरण ही होता है किन्तु रहस्यवाद में ईश्वरीकरण। ये दोनों वाद शैलीगत होते हुए भी अपनी चेतनिक विशेषताओं में अपनी भिन्नता सुरक्षित रखते हैं। फ्रायड का यौन-वाद साहित्य में ऐसी सैद्धान्तिक समस्या लेकर अवतीर्ण हुआ है कि उससे साहित्य की तात्विक धरा बहुत कुछ बदल गई है।

इन वादों को लेकर उपन्यास-कला ने अनेक अँगड़ाइयाँ ली हैं। उपन्यास ने अब तक इतिहास को अपनाया था वर्तमान समाज को अपनाया था, आधुनिक मानव के हृदय और मस्तिष्क को अपनाया था और उसने अपनाया था आधुनिक विज्ञान और कला की उपलब्धियों को किन्तु वह फ्रायड को इतने आग्रह से नहीं अपना रहा था कि वह वाद-क्षेत्र में अपना स्थान बना लेता। जैसे-जैसे वैयक्तिक रुचि समाज-रुचि पर हावी होने लगी कि फ्रायड भी अपने महत्व को लेकर साहित्य के दरबार में प्रस्तुत हुआ। उसने अन्य वादों को चुनौती दी और साहित्य ने उसे अपने क्षेत्र में स्वीकृति दी। जिस प्रकार भाषावार प्रान्तों का झुकाव अथवा प्रादेशिक मोह तीव्र हुआ है उसी प्रकार साहित्य में 'आंचलिकता' का आग्रह तीव्र हुआ है। प्रारम्भ में इसका व्यापार साहित्यिक नवीनता की भावना रही होगी किन्तु पश्चिम के विद्वानों का कहना है कि 'अ ब में पूर्व' को देखने दिखाने की भावना ने आंचलिक कथा साहित्य को जन्म दिया। ध्यान रखने की बात है कि आंचलिकता अनेक भूमिकाओं पर विकसित होती है। भाषा प्राकृतिक दृश्य और रीति-रिवाज तथा रहन-सहन में आंचलिकता की प्रमुख भूमिकाएं प्रस्तुत होती हैं। वैसे तो लेखक अपनी कृति में अपनी गहन अनुभूति की अभिव्यंजना करता है और उसकी गहनतम अनुभूति उसके अपने अंचल के सम्बन्ध में ही हो सकती है। जहाँ मनुष्य जन्म लेता है अथवा पालित-पोषित होता है वहाँ की अनुभूतियाँ उसके मानस में इतर स्थानों की अपेक्षा गहनतर होती हैं। इससे उसकी कृति में जितनी सबल अभिव्यक्ति इन अनुभूतियों की होती है उतनी दूसरी अनुभूतियों की नहीं होती। वहाँ की भूमि प्राकृतिक दृश्य वहाँ के रीति-रिवाज और रहन-सहन के दृश्य लेखक के मानस पर अपना सिक्का जमाये रहते हैं। वहाँ की भाषा का प्रभाव भी स्थायी होता है। चाहे लेखक अनेक भाषाओं का पण्डित हो, किन्तु उसकी मातृभाषा उसका साथ देने के लिए प्रतिक्षण तत्पर रहती है। जहाँ अभिव्यक्ति दुर्बल होती है उसकी भाषा अपने शब्द-कोष से लेखक की सहायता करती है। इस प्रकार आंचलिकता की भूमिकाओं का निर्माण इन तीनों बातों से हो सकता है। आज कई कथाकार तो इन तीनों का एक ही साथ उपयोग करते

है किन्तु एक या दो का उपयोग भी आंचलिकता की प्रवृत्ति को प्रकाशित किये बिना नहीं रहता है।

यह ठीक है कि इस बात के प्रकाश में लेखक अपनी कृति में आंचलिक विशेषताओं का अनावरण करता है। आंचलिक या प्रादेशिक भाषा या बोली तथा रीति रिवाज को स्थान तो प्राचीन संस्कृत नाटक में भी दिया जाता था, किन्तु उपन्यास या कहानी में आया हुआ 'आंचलिकतावाद' हिन्दी में तेजी से कदम बढ़ाता आ रहा है। कथा-साहित्य इसे एक प्रवृत्ति के रूप में स्वीकार कर रहा है। हिन्दी के प्रारम्भिक उपन्यासों में इस ओर कोई ध्यान नहीं दिया और बहुत बाद तक हिन्दी उपन्यासकार का ध्यान इस ओर नहीं गया। मैं नहीं कह सकता कि पश्चिम के प्रभाव ने अथवा संस्कृत नाटक के अनुकरण की भावना ने इस प्रवृत्ति को प्रेरित किया है, किन्तु प्रेरणा में दोनों दिशाओं के प्रभाव को स्वीकार कर लेना भी अनुचित न होगा। इसके अतिरिक्त 'आंचलिकतावाद' की रुचि के योग को भी मान्यता देनी ही पड़ेगी। जिस प्रकार देश-प्रेम की अखण्डता की रक्षा के प्रयास में स्वतन्त्रता का बीजारोपण हुआ उसी प्रकार चुनावों के ज्वर में प्रादेशिकता की भावना का उदय हुआ। साहित्य और राजनीति के सम्मिलित 'प्लेटफॉर्म' पर प्रादेशिकता उभरती चली गई जो एक ओर राजनीतिक अखाड़ा बन गई और दूसरी ओर साहित्यिक। यदि राजनीति के दाव-पेच में आकर साहित्य ने इस प्रवृत्ति को स्वीकार कर लिया है तो समस्त युग-महिमा के सामने आश्चर्य की क्या बात है।

यह नहीं कहा जा सकता कि 'आंचलिकतावाद' की प्रवृत्ति से हिन्दी-कथा-साहित्य किस दिशा को अपनायेगा। यह आशंका है कि दिशा बदलता हुआ हिन्दी-उपन्यास इस प्रवृत्ति की भूल भुलैयों में कहीं प्रादेशिकता की संकीर्णता में न फँस जावे। यदि ऐसा हो गया तो उससे न केवल आधारभूत एकता के प्रयास ही असफलता में विलीन हो जायेंगे अपितु प्रादेशिकता का अवांछनीय अभ्युत्थान भी होगा। इससे राष्ट्रभाषा की व्यापकता एवं महत्ता को आघात पहुँच सकता है। किसी स्तर पर राजनीतिक एकता को भी खतरा हो सकता है। 'विराट्' को लघु में देखने का अधिक सूक्ष्म अनुभूति की अभिव्यक्ति का तथा अ चल-विशेष के गौरव के बढ़ने का अवसर देकर भी 'आंचलिकतावाद' पाठक की कठिनाइयों की उपेक्षा नहीं कर सकता। जहाँ पाठक के ज्ञान-वर्धन को अवसर मिलता है वहाँ आंचलिक भाषा को समझने में सुदूर अ चल के पाठक को कठिनाई भी हो सकती है आंचलिक मुहावरों के बीच में घिर कर किसी पाठक की ऊब या अरुचि भी पैदा हो सकती है। अ चल विशेष की विशेष सामाजिक एवं धार्मिक रूढ़ियाँ साहित्य में अवतीर्ण होकर पाठक को समझ के लिए कुछ असमंजस पैदा कर सकती हैं।

भय है कि कथा साहित्य में 'आंचलिकता' के प्रति बढ़ती हुई ललक कहीं साहित्यिक विघटन को प्रोत्साहित न कर बैठे। यह अनुमान असंगत नहीं है कि हिन्दी-कथाकार, चाहे नवीनीकरण के मोह में ही सही एक ऐतिहासिक भूल को जन्म दे रहा है जिसका

परिणाम उसको न सही तो, उसके बाद में आनेवाली पीढ़ियों को भोगना पड़ेगा। जिस नवीनता को उपन्यासकार या कहानीकार एक वरदान के रूप में साहित्य को अर्पित कर रहा है, वह अभिशाप बन सकती है—ऐसा अभिशाप जिसके भोग से उसकी मुक्ति भी शायद ही हो पाये। उपन्यास-जैसी बड़ी विधा में प्रादेशिकता या आंचलिकता का पुट बुरा नहीं है बुरा होगा उसका 'अत्याग्रह', जिसके अन्धकार में आंचलिक बोलियों द्वारा राहुमाया के आक्रान्त होने की आशंका निर्मूल नहीं है।

आज का हिन्दी-उपन्यास प्रारम्भिक हिन्दी-उपन्यास से अपना सम्बन्ध विच्छिन्न कर चुका है। विज्ञान के प्रकाश में अय्यारी और तिलस्म का आकर्षण क्षीण हो गया है। जासूसी रुचि सामाजिक समस्याओं में डूब गई है। उपन्यासकार के सामने नाना प्रकार की समस्याओं का आवर्तन-प्रत्यावर्तन हो रहा है। उपन्यासकार को केवल कुटुम्ब-दर्शन की समस्या ही नहीं सुलझानी है वरन् जीने की समस्या विकट रूप में प्रस्तुत हो गयी है। वह एक ऐसे युग में जी रहा है जीने की चेष्टा कर रहा है जो पहले से कहीं अधिक जटिल हो गया है। वह केवल अपनी समस्याओं में ही उलझा हुआ नहीं है वरन् उसके आसपास की और देश की समस्याएँ भी उसकी दृष्टि को उलझाये बिना नहीं रह रही हैं। उसका युग नयी समस्याएँ लेकर आया है और उनमें से अधिकांश व्यापक हैं। वह पिछली बातों का स्मरण केवल वर्तमान के संदर्भ में—अपने युगवातावरण के संदर्भ में ही कर सकता है, इसलिए आज के उपन्यास में बालीस-पचास वर्ष पहले के उपन्यास से भिन्न वातावरण की सृष्टि दिखाई देती है।

वातावरण का सम्बन्ध उपन्यास के उद्देश्य या विषय से भी है। देश-काल की समस्याओं का सामना करने के लिए उपन्यासकार नये-नये प्रस्ताव प्रस्तुत कर रहा है, दृश्य की दिशा में नये संकेत दे रहा है। यह हो सकता है कि इनमें उसका एकांगी दृष्टिकोण निहित हो, किन्तु उनका मूल्य विचारणीय अवश्य है। साहित्यकार के सामने सबसे बड़ी समस्या यह है कि वह विज्ञान के प्रकाश में अपने जीवन की पुतली कैसे सुरक्षित रखे। एक ओर समाज के बंधन पूरी तरह टूटे नहीं हैं अतएव वह उनमें भी उलझ रहा है और दूसरी ओर उसके सामने विज्ञान प्रलोभन दे रहा है। विज्ञान के नूतन चरण मानव-जीवन के कल्याण की प्रतिज्ञा में बहुत बड़ा योग दे सकते हैं, इस पहलू पर वह सतर्क भरी दृष्टि से विचार कर रहा है। कभी-कभी वर्तमान कहानीकार विज्ञान और मनोविज्ञान के सहारे साहित्य के नये पहलुओं को भी प्रकाश में ला रहा है। कुरसाओं और कुर्सियों के ओपरिज़न की भावना से उसका लक्ष्य जिस मार्ग को अपना रहा है वहाँ से वह धुँधला दीखता है। उसकी सही तस्वीर पाठक के सामने नहीं आ पाती अथवा ओपरिज़न की विभीषिका उसकी दृष्टि को अस्थिर करके लक्ष्य को धुँधला बना देती है। अतएव आजके बहुत से साहित्यकार 'लोक-मंगल' के स्वरूप का परिचय न कराके विज्ञान के यथार्थ रूप को ही प्रस्तुत करके रह जाते हैं। इसे साहित्यिक उद्देश्य के एक पहलू

के रूप में स्वीकार करते हुए भी बोध के अभाव में सामान्य पाठक के पक्ष में उसे सत्ता बना की उपेक्षा नहीं की जा सकती है।

वातावरण की दृष्टि में आर्थिक समस्या भी बड़ी महत्त्वपूर्ण है। पंचवर्षीय योजनाओं का लक्ष्य ही वस्तुतः देश की आर्थिक समस्या के हल को दिया है। देश के रीति-रिवाजों तक में आर्थिक समस्या निहित है। इसलिए उपन्यास इस समस्या की उपेक्षा कदापि नहीं कर सकता है। स्त्री-पुरुष के बीच में भी आर्थिक समस्या के झोंके दिखाई दे सकते हैं। चारित्रिकता को धक्का देने वाली समस्याओं में भी इस समस्या का हाथ किसी-न-किसी रूप में अवश्य मिलता है। सामाजिक आचरण के स्खलन एवं नैतिकता के ह्रास के मूल में भी इस समस्या की दुष्ट प्रवृत्ति देखी जा सकती है। इसी कारण आज का उपन्यास समस्या-उपन्यास का रूप लिए बिना नहीं रह सकता है।

बाद, वातावरण और उद्देश्य की नवीनता के साथ समस्याओं के सम्बन्ध की परिपाटी उपन्यास की टेकनीक का एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन बन गया है। उपन्यास के पात्र बदल गये हैं उनका चरित्र बदल गया है उनके रीति-रिवाज और रहन-सहन में परिवर्तन हो गया है और उपन्यास की शैली बदल गई है। सन् १९६४ का उपन्यासकार सन् १९४२-४६ में नहीं लौट सकता। गांधीयुग और शास्त्री युग में बहुत अन्तर होगया है। इसलिए उपन्यास का टेकनीक भी बदली है। टेकनीक का परिवर्तन आकस्मिक नहीं है क्रमिक है। उसमें विकास का बड़ा सूक्ष्म क्रम है। जिस प्रकार आर्थिक या वर्गिक दृष्टि से ऊँचे व्यक्तियों ने प्रेमचन्दजी के हाथों में अपना महत्त्व खो दिया था उसी प्रकार आज किसान और मजदूर ने भी साहित्यिक स्तर पर अपना 'सामाजिक भेद' खो दिया है। जब तक वे उपेक्षित थे तब तक साहित्यकार ने उन्हें ऊँचा उठाने का प्रयास किया और जैसे ही वे ऊँचे उठ गये उनकी राजनीतिक और सामाजिक सम्मान मिल गया कि उनकी रुचि ने अपनी दिशा बदल दी। पात्रों के प्रति उपन्यासकार ने जो रुख अपनाया उसका प्रभाव चरित्र-चित्रण पर भी पड़ा। इसके अतिरिक्त चरित्र को रूढ़ मान्यताओं के चश्मे से देखने के स्थान पर सामाजिक परिस्थितियों के मोड़ से नई दृष्टि का आविर्भाव हुआ और चरित्र-चित्रण ने नया रूप धारण किया। मनोविज्ञान ने इस क्षेत्र में विशेष योग दिया।

डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी पात्रों के चक्कर में नहीं पड़े हैं। हाँ उनकी शैली का मोह अवश्य रहा है। इसी मोह के वश में होकर उन्होंने वर्णनों की ऐसी लम्बाई की है। उन्होंने वर्णनों में वातावरण का रङ्ग प्रस्तुत करके चरित्रांकन के लिए अवसर दे दिये हैं। जबकि आज का उपन्यासकार मार्क्स फ्रायड युग के पीछे दौड़ने का प्रयास करता है अथवा प्रगतिवाद आधुनिकतावाद मनोविज्ञानवाद, व्यक्तिवाद आदि में घूमता है तब डॉ० द्विवेदी निर्द्वन्द्व होकर अपनी गति और अपने ढंग से चले हैं। उनका लक्ष्य किसी वाद का प्रचार करना नहीं है अपितु समाज को एक ऐसी दृष्टि अर्पित करना है

परिणाम, उसको न सही तो, उसके बाद में आनेवाली पीढ़ियों को भोगना पड़ेगा। जिस नवीनता को उपन्यासकार या कहानीकार एक वरदान के रूप में साहित्य को अर्पित कर रहा है, वह अभिशाप बन सकती है—ऐसा अभिशाप जिसके भोग से उसकी मुक्ति भी बाधित ही हो पाये। उपन्यास-जैसी बड़ी विधा में प्रादेशिकता या आंचलिकता का पुट बुरा नहीं है बुरा होगा उसका 'आत्याग्रह', जिसके अन्धकार में आंचलिक बोलियों द्वारा राष्ट्रभाषा के आक्रान्त होने की आशंका निर्मूल नहीं है।

आज का हिन्दी-उपन्यास प्राचीनिक हिन्दी-उपन्यास से अपना सम्बन्ध विच्छिन्न कर चुका है। विज्ञान के प्रकाश में अय्यारी और तिलस्म का आकर्षण क्षीण हो गया है। जासूसी रुचि सामाजिक समस्याओं में डूब गई है। उपन्यासकार के सामने नाना प्रकार की समस्याओं का आवर्तन-प्रत्यावर्तन हो रहा है। उपन्यासकार को केवल हूबहू-दर्शन की समस्या ही नहीं सुलझानी है वरन् जीने की समस्या विकट रूप में प्रस्तुत हो गयी है। वह एक ऐसे युग में जी रहा है जीने की चेष्टा कर रहा है जो पहले से कहीं अधिक जटिल हो गया है। वह केवल अपनी समस्याओं में ही उलझा हुआ नहीं है वरन् उसके आसपास की और देश की समस्याएँ भी उसकी दृष्टि को उलझाये बिना नहीं रह रही हैं। उसका युग नयी समस्याएँ लेकर आया है और उनमें से अधिकांश व्यापक हैं। वह पिछली बातों का स्मरण केवल वर्तमान के संदर्भ में—अपने युगवातावरण के संदर्भ में ही कर सकता है, इसलिए आज के उपन्यास में बाईस-पचास वर्ष पहले के उपन्यास से भिन्न वातावरण की सृष्टि दिखाई देती है।

वातावरण का सम्बन्ध उपन्यास के उद्देश्य या विषय से भी है। देश-काल की समस्याओं का सामना करने के लिए उपन्यासकार नये-नये प्रस्ताव प्रस्तुत कर रहा है इस की दिशा में नये संकेत दे रहा है। यह हो सकता है कि इनमें उसका एकांगी दृष्टिकोण निहित हो किन्तु उनका मूल्य विचारणीय अवश्य है। साहित्यकार के सामने सबसे बड़ी समस्या यह है कि वह विज्ञान के प्रकाश में अपने जीवन की गुत्थी कैसे सुलझाये। एक ओर समाज के बंधन पूरी तरह टूटे नहीं हैं, अतएव वह उनमें भी उलझ रहा है और दूसरी ओर उसके सामने विज्ञान प्रलोभन दे रहा है। विज्ञान के नूतन चरण मानव-जीवन के कल्याण की प्रतिष्ठा में बहुत बड़ा योग दे सकते हैं, इस पहलू पर वह सजग भरी दृष्टि से विचार कर रहा है। कभी-कभी वर्तमान कहानीकार विज्ञान और मनोविज्ञान के सहारे साहित्य के नये पहलुओं को भी प्रकाश में ला रहा है। कुरूपताओं और कुण्ठाओं के ओपरेशन की भावना से उसका लक्ष्य जिस मार्ग को अपना रहा है वहाँ से वह पुँधला दीखता है। उसकी सही तस्वीर पाठक के सामने नहीं आ पाती अथवा ऑपरेशन की विभीषिका उसकी दृष्टि को अस्थिर करके लक्ष्य को धुँधला बना देती है। अतएव आजके बहुत से साहित्यकार 'लोक-मंगल' के स्वरूप का परिचय न कराके विज्ञान के भयावह रूप को ही प्रस्तुत करके रह जाते हैं। इसे साहित्यिक उद्देश्य के एक पहलू

के रूप में स्वीकार करते हुए भी बोध के अभाव में सामान्य पाठक के पथ भ्रष्ट की सत्ता बना की उपेक्षा नहीं की जा सकती है।

वातावरण की सृष्टि में आर्थिक समस्या भी बड़ी महत्वपूर्ण है। पंचवर्षीय योजनाओं का लक्ष्य ही वस्तुतः देश की आर्थिक समस्या के हल को दिया है। देश के रीति-रिवाजों तक में आर्थिक समस्या निहित है। इसलिए उपन्यास इस समस्या की उपेक्षा कदापि नहीं कर सकता है। स्त्री-पुरुष के बीच में भी आर्थिक समस्या के ऐसे दिखाई दे सकते हैं। पारस्परिकता को धक्का देने वाली समस्याओं में भी इस समस्या का हाथ किसी-न-किसी रूप में अवश्य मिलता है। सामाजिक आचरण के स्खलन एवं नैतिकता के भ्रष्ट के मूल में भी इस समस्या की दुष्ट प्रवृत्ति देखी जा सकती है। इसी कारण आज का उपन्यास समस्या-उपन्यास का रूप लिए बिना नहीं रह सकता है।

बाद वातावरण और उद्देश्य की नवीनता के साथ समस्याओं के सन्दर्भ की परीक्षा उपन्यास की टैकनीक का एक महत्वपूर्ण परिपार्श्व बन गया है। उपन्यास के पात्र बदल गये हैं उनका चरित्र बदल गया है उनके रीति-रिवाज और रहन-सहन में परिवर्तन हो गया है और उपन्यास की शैली बदल गई है। सन् १९६४ का उपन्यासकार सन् १९४२, ४६ में नहीं लौट सकता। आर्थायुग और पास्त्री युग में बहुत अन्तर होगया है। इसलिए उपन्यास की टैकनीक भी बदली है। टैकनीक का परिवर्तन आकस्मिक नहीं है क्रमिक है। उसमें विकास का बड़ा सूक्ष्म क्रम है। जिस प्रकार आर्थिक या धार्मिक दृष्टि से ऊँचे व्यक्तियों प्रेमचन्दजी के हाथों में अपना महत्व खो दिया था उसी प्रकार आज किसान और मजदूर ने भी साहित्यिक स्तर पर अपना 'सामाजिक भेद' खो दिया है। जब तक वे उपेक्षित थे तब तक साहित्यकार ने उन्हें ऊँचा उठाने का प्रयास किया और जैसे ही वे ऊँचे उठ गये उनको राजनीतिक और सामाजिक सम्मान मिल गया कि उसकी कवि ने अपनी दिशा बदल दी। पात्रों के प्रति उपन्यासकार ने जो रुख अपनाया उसका प्रभाव चरित्र-चित्रण पर भी पड़ा। इसके अतिरिक्त चरित्र को एक मान्यताओं के चश्मे से देखने के स्थान पर सामाजिक परिस्थितियों के मोह से नई दृष्टि का आविर्भाव हुआ और चरित्र-चित्रण में नया रूप आगया। मनोविज्ञान ने इस क्षेत्र में विशेष योग दिया।

डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी बातों के बहुत में नहीं पड़े हैं। हाँ उनको शैली का मोह अवश्य रहा है। इसी मोह के वश में होकर उन्होंने वर्णनों की ऐसी संयोजना की है। उन्होंने वर्णनों में वातावरण का रंग प्रस्तुत करके चरित्रांकन के लिए अवसर देख लिये हैं। जबकि आज का उपन्यासकार मार्क्स फ्रायड युग के पीछे दौड़ने का प्रयास करता है अथवा प्रकृतवाद आणविकतावाद मनोविज्ञानवाद, व्यक्तिवाद आदि में भूकम्प है तब डॉ० द्विवेदी निश्चिन्त होकर अपनी गति और अपने ढंग से चले हैं। [illegible] किसी वाद का प्रचार करना नहीं है अपितु लगाव को एक ऐसी दृष्टि [illegible]

को उसके ज्ञान का वर्धन भी करे और उसको मार्ग भी दिखलाये। कृति में जिस निर्द्वन्द्वता का परिचय मिलता है वह लेखक के व्यक्तित्व और आचरण की झलक है। उसमें जो दिशा पकड़ी गई है वह आदर्श की दिशा है और सत्साहित्य उसको पुसाकर अपने अस्तित्व की रक्षा नहीं कर सकता।

उपन्यास के रूप में डा० साहब ने बाणभट्ट की आत्मकथा में वह सब भर दिया है जो आज के उपन्यास की आवश्यकता है। यह बात सर्वसम्मत है कि आज का उपन्यास 'प्रेम' की नींव पर खड़ा होता है और उसके मूल का विकास अनेक दिशाओं में दिखलाया जाता है, किन्तु उन दिशाओं में समस्याएँ निहित रहती हैं। आधुनिक हिन्दी उपन्यास की प्रवृत्ति अपने कौमार्य से ही समस्याओं को 'प्रेम' के रूप में ग्रहण करने की रही है। इससे कृतिकार अपनी कृति को शुद्ध आदर्श की दिशा दिखलाने में बहुधा असफल रहा है। डा० द्विवेदी ने किसी समस्या को 'प्रेम' के रूप में नहीं अपनाया और न 'प्रेम' के ज्वर का तापमान देखने-दिखाने का प्रयत्न ही उनका अभिप्रेत रहा है। उन्हें 'प्रेम' के संयम की दिशा प्रिय है। संयत प्रेम जीवन का सार है, असंयत प्रेम 'जीवन का ज्वर' है मानों इसी सिद्धान्त को रूपायित करने के लिए डा० द्विवेदी ने निपुणिका और भट्टिनी की कल्पना की है।

प्रेम में वासना आ सकती है किन्तु उसको संयत भी किया जा सकता है। वासना की लहरों का आभास देकर भी लेखक उनके उद्दाम रूप को कभी सामने नहीं लाता। संयम और कर्तव्य के नजर में तरंगें जिस प्रकार विलीन हो जाती हैं, यही तो लेखक के आदर्श की दिशा है। लेखक चरित्र के संकलन के लिए परिस्थितियाँ पैदा करके भी संयम और आदर्श की दिशा प्रस्तुत करता है। वह फोड़े का ऑपरेशन करके मवाद निकाल कर उसको सुखाने की चेष्टा में विश्वास नहीं करता है, प्रत्युत् उसका विश्वास है कि फोड़े के आसार दीखते ही उसे बैठा दिया जाये। यही संयम का मार्ग है।

आत्मकथा को इतिहास ने वातावरण दिया है, लेखक के व्यक्तित्व ने चरित्र दिया है और आदर्श ने दिशा दी है। वातावरण चरित्र-चित्रण, शैली और उद्देश्य की दृष्टि से यह कृति अपूर्व है। आज के उपन्यास का शायद ही कोई विषय हो जो इस कृति में न हो। प्रेम, यौन, धर्म, राजनीति, कला, शिक्षा, कर्तव्य, नारी, युद्ध, सामन्ती विलास, साहित्य आदि अनेक विषयों का आकलन करके आत्मकथाकार ने उपन्यास की समग्र निधि का उपयोग किया है। इन सबको प्रस्तुत करने में लेखक का निजी दृष्टिकोण रहा है। लेखक ने हिन्दी-उपन्यास की प्रवृत्तियों का अनुसरण न करके प्रचलित प्रवृत्तियों को दिशा दी है।

यह कहने में मुझे संकोच नहीं है कि स्वर्गीय प्रेमचन्द ने हिन्दी-कथासाहित्य को जो मार्ग और लक्ष्य दिया था उसको डा० द्विवेदी ने अधिक मार्जित और स्पष्ट बनाया।

प्रेमचन्द जी के 'यथार्थ' में जो परिस्थितियाँ अभावुत हुई हैं वे आत्मकथा में भी हुई हैं, किन्तु आत्मकथा में उन परिस्थितियों के रूप का विगलन नहीं हो पाया। पारिस्थितिक विकृति का संकेत मिथ्या सिद्ध होता है। जहाँ आज का 'उपन्यास' पात्रिक प्रश्न को परिस्थितियों के साथ मढ़ता है वहाँ 'आत्मकथा' परिस्थितियों को चरित्र का निकष सिद्ध करती है। दृष्टि का यह अन्तर चरित्र के क्षेत्र में आत्मकथा की बड़ी भारी उपलब्धि है।

यह ठीक है कि हिन्दी कथासाहित्य ने 'नारी' की स्थिति पर सहानुभूतिपूर्ण विचार किया है। प्राचीन साहित्य की तुलना में उनकी यह उपलब्धि बड़ी महत्त्वपूर्ण है। इसमें समाज और राजनीति का योग ही सही किन्तु मानव को मानव के रूप में देखकर दृष्टि-विषमता के परिष्कार की चेष्टा अवश्य है। हिन्दी कथाकार ने नारी के उत्पीड़न का उसके प्रति हुये अत्याचारों का बड़ा मर्मभेदी चित्र प्रस्तुत किया है और उनके प्रति बड़ा सहानुभूति भी व्यक्त की है, किन्तु उनके स्थान को निर्धारित करने में वह पीछे रह गया है। इस अभाव की पूर्ति आचार्य डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी की लेखनी ने हुई है। बाणभट्ट के मुख से नारी के शरीर को देव मन्दिर की प्रतिष्ठा दिलवा कर डा० द्विवेदी ने नारी के प्रति केवल सहानुभूति ही व्यक्त नहीं करवायी, वरन् उनका गौरव बढ़ा दिया है। इसमें उन्होंने स्पष्ट कर दिया है कि नारी 'वासनाजन्य प्रेम' की अधिकारिणी नहीं है, अपितु अकलुष प्रेम की अधिकारिणी है। उनके सौन्दर्य, उनके हृदय की कोमलता और उदारता को देव-सम्मान मिलना चाहिये।

इसमें सन्देह नहीं कि इतिहास के आधार से वर्तमान को चित्रित करना एक कठिन कार्य है किन्तु कौशल से यह सम्पन्न हो सकता है। इतिहास के पट पर चित्रित वर्तमान अधिक प्रभावशाली भी होता है। युगसत्ता और प्रभाव, देश का अभिष्ट रूप व्यक्त करने के लिए बाणभट्ट की आत्मकथा एक आदर्श उदाहरण है। देश और समाज के लिए साहित्यकार क्या कर सकता है संकट के समय नारियों की क्या उपयोगिता है क्या वैराग्य और सन्यास सामाजिक जीवन के लिए अहर्णीय है क्या आधुनिक शिक्षा-पद्धति उपयुक्त है क्या युद्ध-काल में वैज्ञानिक नीतियों से ही विजय की आशा की जा सकती है क्या नर-नारी के प्रेम में कामना के अतिरिक्त और कोई प्रेरणा नहीं हो सकती नाटकों में अभिनय करने वाली सभी नारियों को बुरी दृष्टि से क्यों देखा जाता है? आदि आदि प्रश्नों पर विचार करके लेखक ने वर्तमान समस्याओं पर विहङ्गम दृष्टि डालने की चेष्टा की है। लेखक ने प्रमुखतः इन बातों पर विशेष रूप से विचार किया है—नारी सामग्री शिक्षा पिता धर्म, कन्यादान धर्म, कौमार्य पर बौद्धधर्म, शिक्षा-पद्धति उच्च शिक्षा कमाएँ—वाम्पु कला संगीत कला, नाट्य कला गीत काव्य कला आशा वैराग्य और सन्यास युद्ध और वैज्ञानिक नीति राजनयिक उपाय—राजकीय प्रलोभन, धर्मसंघ तथा राजसत्ता में नारियों का स्थान।

जो उसके ज्ञान का वर्धन भी करे और उसको मार्ग भी दिखलाये। कृति में जिस निष्ठुरता का परिचय मिलता है वह लेखक के व्यक्तित्व और आचरण की झलक है। उसमें जो दिशा पकड़ी गई है वह आदर्श की दिशा है और सत्साहित्य उसको सुलाकर अपने अस्तित्व की रक्षा नहीं कर सकता।

उपन्यास के रूप में डा० साहब ने बाणभट्ट की आत्मकथा में वह सब भर दिया है जो आज के उपन्यास की आवश्यकता है। यह बात सर्वसम्मत है कि आज का उपन्यास 'प्रेम' की नींव पर खड़ा होता है और उसके मूल का विकास अनेक दिशाओं में दिखलाया जाता है, किन्तु उन दिशाओं में समस्याएँ निहित रहती हैं। आधुनिक हिन्दी उपन्यास की प्रवृत्ति अपने कौमार्य से ही समस्याओं को 'फैशन' के रूप में ग्रहण करने की रही है। इससे कृतिकार अपनी कृति को शुद्ध आदर्श की दिशा दिखलाने में बहुधा असफल रहा है। डा० द्विवेदी ने किसी समस्या को 'फैशन' के रूप में नहीं अपनाया और न 'प्रेम' के स्तर का तापमान देखने-दिखाने का प्रयत्न ही उनका अभिप्रेत रहा है। उन्हें 'प्रेम' के संयम की दिशा प्रिय है। संयत प्रेम जीवन का सार है, असंयत प्रेम 'जीवन का ज्वर' है, मानों इसी सिद्धान्त को उपपादित करने के लिए डा० द्विवेदी ने निपुणिका और भट्टिनी की कल्पना की है।

प्रेम में वासना आ सकती है किन्तु उसको संयत भी किया जा सकता है। वासना की लहरों का आभास देकर भी लेखक उनके उद्दाम रूप को कभी सामने नहीं लाता। संयम और कर्तव्य के पञ्जर में लहरें जिस प्रकार विलीन हो जाती हैं, यही तो लेखक के आदर्श की दिशा है। लेखक चरित्र के संकलन के लिए परिस्थितियाँ पैदा करके भी संयम और आदर्श की दिशा प्रस्तुत करता है। वह फोड़े का ऑपरेशन करके मवाद निकाल कर उसको सुलाने की चेष्टा में विश्वास नहीं करता है, प्रत्युत् उसका विश्वास है कि फोड़े के आसार दीखते ही उसे नष्ट किया जाये। यही संयम का मार्ग है।

आत्मकथा को इतिहास ने वातावरण दिया है लेखक के व्यक्तित्व ने चरित्र दिया है और आदर्श ने दिशा दी है। वातावरण चरित्र-चित्रण, शैली और उद्देश्य की दृष्टि से यह कृति अपूर्व है। आज के उपन्यास का शायद ही कोई विषय हो जो इस कृति में छूटा हो। प्रेम, यौन धर्म राजनीति कला शिक्षा कर्तव्य नारी मुक्त सामन्ती विलास साहित्य आदि अनेक विषयों का आकलन करके आत्मकथाकार ने उपन्यास की समग्र निधि का उपयोग किया है। इन सबको प्रस्तुत करने में लेखक का निजी दृष्टिकोण रहा है। लेखक ने हिन्दी-उपन्यास की प्रवृत्तियों का अनुसरण न करके प्रचलित प्रवृत्तियों को दिशा दी है।

यह कहने में मुझे संकोच नहीं है कि स्वर्गीय प्रेमचन्द ने हिन्दी-कथासाहित्य को जो मार्ग और लक्ष्य दिया था उसको डा० द्विवेदी ने अधिक मार्जित और स्पष्ट बनाया।

प्रेमचन्द जी के 'गबन' में जो परिस्थितियाँ अनावृत हुई हैं वे आत्मकथा में भी हुई हैं, किन्तु आत्मकथा में उन परिस्थितियों के रूप का विवेचन नहीं हो पाया। पारिस्थितिक विकृति का संकेत मिल्या मिल होता है। यहाँ आज का 'उपन्यास' पारिवारिक प्रश्न को परिस्थितियों के साथ पढ़ता है वहाँ 'आत्मकथा' परिस्थितियों को चरित्र का निकष सिद्ध करती है। दृष्टि का यह अन्तर चरित्र के क्षेत्र में आत्मकथा की बड़ी भारी उपलब्धि है।

यह ठीक है कि हिन्दी कथासाहित्य ने 'नारी' की स्थिति पर सहानुभूतिपूर्ण विचार किया है। प्राचीन साहित्य की तुलना में उसकी यह उपलब्धि बड़ी महत्त्वपूर्ण है। इसमें समाज और राजनीति का बोध ही नहीं किन्तु मानव को मानव के रूप में देखकर दृष्टि-विषमता के परिष्कार की चेष्टा अवश्य है। हिन्दी कथाकार ने नारी के उत्पीड़न का उसके प्रति हुये अत्याचारों का बड़ा मर्मभेदी चित्र प्रस्तुत किया है और उनके प्रति बड़ी सहानुभूति भी व्यक्त की है किन्तु उसके स्थान को निर्धारित करने में वह चौके रह गया है। इस अभाव की पूर्ति मानों डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी की लेखनी से हुई है। बाणभट्ट के मुख से नारी के शरीर को देव मन्दिर की प्रतिमा दिखला कर डा० द्विवेदी ने नारी के प्रति केवल सहानुभूति ही व्यक्त नहीं करवायी, बल्कि उसका गौरव बढ़ा दिया है। इससे उन्होंने स्पष्ट कर दिया है कि नारी 'वासनाजन्य प्रेम' की अधिकारिणी नहीं है, अपितु, अकलुष प्रेम की अधिकारिणी है। उसके सौन्दर्य, उसके हृदय की कोमलता और उदारता को देव-सम्मान मिलना चाहिये।

इसमें सन्देह नहीं कि इतिहास के मार्ग से वर्तमान को विवेचित करना एक कठिन कार्य है किन्तु कौशल से यह सम्भव हो सकता है। इतिहास के पट पर चित्रित वर्तमान अधिक प्रभावशाली भी होता है। सुन्दरता और प्रभाव दोनों का सन्निविष्ट रूप व्यक्त करने के लिए बाणभट्ट की आत्मकथा एक श्रेष्ठ उदाहरण है। देश और समाज के लिए साहित्यकार क्या कर सकता है, संकट के समय नारियों की क्या उपयोगिता है, क्या वैराग्य और सन्यास सामाजिक जीवन के लिए अर्हणीय है, क्या आधुनिक शिक्षा-पद्धति उपयुक्त है क्या युद्ध-काल में वैज्ञानिक सैनिकों से ही विजय की आशा की जा सकती है क्या नर-नारी के प्रेम में वासना के अतिरिक्त और कोई प्रेरणा नहीं हो सकती नाटकों में अभिनय करने वाली सभी नारियों को बुरी दृष्टि से क्यों देखा जाता है? आदि आदि प्रश्नों पर विचार करके लेखक ने वर्तमान समस्याओं पर विहंगम दृष्टि डालने की चेष्टा की है। लेखक ने प्रमुखतः इन बातों पर विशेष रूप से विचार किया है—नारी, सामन्ती शिक्षा, शिक्षा, धर्म, वैराग्य धर्म, कौमार्य, बौद्धधर्म, शिक्षा-पद्धति, उच्च शिक्षा, कमाई—धन्धा, कला, संगीत, कला, काव्य, कला, भाषा, वैराग्य और संन्यास, युद्ध और वैज्ञानिक सैनिक, राजसत्ता, उत्तर—राजशेखर, प्रजोत्तर, धर्मसमाज तथा राजसत्ता में नारियों का स्थान।

डा० हजारीप्रसाद के आदर्शवाद की पीठिका में ऐतिहासिक आधार है और आधार ऐसा जिसमें कवि-कल्पना को आदर्श की सीमाओं में ही घूमना पड़ा है। फिर भी उन्होंने अपने ढंग की स्वतन्त्रता से आदर्श को बोध किया है, इतिहास की भावना को रक्षित किया है। इतिहास का सबसे बड़ा उपयोग यही है कि वह वर्तमान को बोध कराता हुआ भविष्य के रूप का सामने की दिशा पकड़े। आत्मकथाकार ने हर्षकालीन इतिहास से बिल्कुल नहीं काम लिया है। यद्यपि अनेक पात्र लेखक की कल्पना के शिशु हैं, किन्तु उन्होंने ऐतिहासिक वातावरण को सुरक्षित रखा है। कुछ नया अनेक घटनाएं काल्पनिक हैं किन्तु उनमें वातावरणिक ऐतिहासिकता कुण्ठाग्रस्त नहीं बनी है। बाणभट्ट की आत्मकथा पढ़कर ऐसी प्रतीति नहीं होती कि पाठक हर्षयुग में नहीं है। जिस प्रकार पारस योग पाकर लोहा सोना बन जाता है उसी प्रकार इतिहास के कुछ इनेगिने तथ्यों का योग पाकर आत्मकथा के कथानक को विश्वसनीय रूप प्राप्त होगया है। इतिहास और साहित्य का यह सम्बन्ध उपन्यास के क्षेत्र में विशेष अनुकरणीय है।

इतिहास की पीठिका पर प्रतिष्ठित होकर और कल्पना के विविध वर्ण ग्रहण करके भी बाणभट्ट की आत्मकथा ने अपने अन्तर में आधुनिक समस्याओं को अनुस्यूत रखा है। लेखक के समय की समस्याएँ इतिहास के मुँह से बोल रही हैं। जो काम प्रसाद ने अपने नाटकों के सम्बन्ध से साहित्य-क्षेत्र में किया था, वही आचार्य द्विवेदी ने अपने दोनों उपन्यासों में किया है। प्रसाद ने ऐतिहासिक आधार लेकर अपने युग को आर्य दिखलाया है। द्विवेदीजी ने भी ऐसा ही किया है। बाणभट्ट लेखक का प्रिय नायक है। यह बात केवल ऐतिहासिक और साहित्यिक महत्त्व की ही है वरन् चारित्रिक एवं सामाजिक महत्त्व की भी है। इसका विशेष महत्त्व 'उद्धार-प्रवृत्ति' में देखा जा सकता है। बाणभट्ट नहीं, ऐसा लगता है मानों द्विवेदीजी ही देशोद्धार, प्रेमोद्धार, नारी-उद्धार और धर्मोद्धार के लिए व्यग्र हैं। अपनी कृति के माध्यम से इस प्रवृत्ति को सफलता देने में आत्मकथाकार का विराट् प्रयत्न स्तुत्य है। इसी भूमिका पर लेखक का आदर्शवाद जयमयाता है जो साहित्य के लिए स्पृहणीय है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि 'साहित्य' अपने अर्थ को तभी निभा सकता है जब वह जीवन के लिए प्रेरणास्पद हो। प्राणवान् साहित्य इसी लक्ष्य की ओर अग्रसर होता है, इसकी सिद्धि में जो साहित्य अपनी शक्ति का उपयोग करता है उसमें आदर्श की पूर्णता होती है। यह ठीक है कि साहित्य जीवन को आधार बना कर निर्मित होता है किन्तु जब वह जीवन को लक्ष्य बनाकर निर्मित होता है तो उसका मूल्य कई गुना बढ़ जाता है। डा० द्विवेदी ने 'आत्मकथा' में आधार और लक्ष्य दोनों के प्रति सतर्कता बरती है। इसलिए 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में 'जीवन' भी है और 'प्रेरणा' भी है। जीवन-तत्त्वों का व्यापक महत्त्व 'मनुष्यत्व बोध' को व्यक्त करता है।

इस प्रकार औपन्यासिक तत्त्वों की कसौटी पर 'बाणभट्ट की आत्मकथा' एक सफल कृति सिद्ध होती है। वस्तु, पात्र, चरित्र-चित्रण, कथोपकथन, वातावरण, भाषा-शैली और उद्देश्य की दृष्टि से यह कृति बड़ी सम्पन्न है। कुछ लोगों का यह आक्षेप है कि यह कृति वस्तु-भूत की क्षीणता से आपीड़ित है, किन्तु वे लोग वस्तु-सम्बद्ध वर्णनों को भूल जाते हैं। उन्हें वे केवल वर्णन मानकर कथा से घटा देते हैं। अतएव कल्पना और कला के सयोग से जो कथा-रूप आविर्भूत होता है उसकी स्थूलता किसी भी उपन्यास के लिए गौरवास्पद हो सकती है।

२० कृतिकार की विशेषताएँ

'बाणभट्ट की आत्मकथा' के लेखक ने यथार्थवाद और प्रगतिवाद के युग में अपनी कृति प्रस्तुत करके यह सिद्ध कर दिया कि आदर्शवाद अच्छी से अच्छी कथाकृति दे सकता है। लेखक ने यह भी सिद्ध कर दिया कि किसी युग के सामाजिक तत्त्व 'साहित्यिक आदर्शवाद' को विलुप्त नहीं कर सकते। वैचारिक प्रौढ़ता और साहित्यिक कौशल की भूमिका पर सामाजिक तत्त्वों के किसी परिप्रेक्ष्य में आदर्शवाद अपना रूप सँवार सकता है। 'आत्मकथा' के लेखक ने यह प्रमाणित कर दिया है।

लेखक के कौशल का परिचय 'नामकरण' से ही मिल जाता है। पढ़ते ही नाम पाठकों को कथा की दिशा में आकृष्ट करता है। नाम में साहित्यिक छल का संनिवेश है किन्तु वह कौशल से विरहित नहीं है। जिस कथा का संकेत नाम में मिलता है उसका निर्वाह अन्त तक बड़े कौशल से हुआ है। सुख कथा में छल का कोई संकेत नहीं है, किन्तु कथामुख में छल की प्रतिष्ठा बड़े कौशल से की गई है और जिस कौशल से छल की प्रतिष्ठा की गई है उसी कौशल से उसका अनावरण भी किया गया है। कुतूहल और आर्थिक मीमांसा की परिधि में छल को सफलता और गौरव की प्राप्ति कृतिकार के कौशल का प्रमाण है।

उपन्यासों में कथामुख और उपसंहार दोनों की स्थिति बहुत कम देखने में आती है क्योंकि उनके लिए उपन्यासों में कोई आवश्यकता नहीं होती। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में इनकी स्थिति छल-कौशल से प्रेरित हुई है। कथामुख के ये वाक्य बड़े महत्त्वपूर्ण हैं— 'कागजों का पुलिंदा लेकर मैं घर आया। यद्यपि मेरी आँखें कमजोर हैं और रात को काम करना मेरे लिए कठिन है; फिर भी दीदी के कागजों को मैंने पढ़ना शुरू किया। शीर्षक के स्थान पर मोटे-मोटे अक्षरों में लिखा था— अब बाणभट्ट की आत्मकथा लिखता।

अन्तिम वाक्य इस कृति के पहचानने में बड़ा उपयोगी सिद्ध हो सकता है। अपनी 'आत्मकथा' के लिए बाणभट्ट के ये शब्द कितने उपयुक्त होंगे। इससे ये शब्द अवश्य ही बाणेतर व्यक्ति के हैं—किन्तु सूक्ष्मता से देखने पर ही रहस्य का उद्घाटन होता है अन्यथा कथामुख में रहस्य रहस्य ही बना रहता है। मूलकथा में उसके अनावृत होने की कोई आवश्यकता नहीं है। कथामुख के दो वाक्य और भी छलपूर्ण हैं— बाणभट्ट की आत्मकथा। तब तो दीदी को अमूल्य वस्तु हाथ लगी है। इनसे उत्पन्न कुतूहल के समर्थन के लिए इस वाक्य का उपयोग छल और कौशल का गठबंधन प्रमाणित करता है—"इतने दिन बाद संस्कृत-साहित्य में एक अनोखी चीज प्राप्त हुई है। बाणभट्ट की आत्मकथा' और

'संस्कृत साहित्य में एक अनोखी चीज' इन दोनों में कोई तालमेल न होते हुए भी उसके दिखाने में गद्य की इतनी महिमा नहीं है जितनी कौशल की।

उपसंहार का प्रथम वाक्य ही सूत्र-सम्पन्न है। 'बाणभट्ट की आत्मकथा का इतना ही अंश मिला था —यह वाक्य 'आत्मकथा' की प्रामाणिकता सिद्ध करता हुआ उपसंहार का प्रारम्भ कर रहा है। एक अन्य वाक्य भी इतना ही महत्वपूर्ण है और वह है— 'कादम्बरी की शैली के साथ कथा की शैली में ऊपर ऊपर से बहुत साम्य दिखता है।' आगे यह वाक्य विशेष ध्यान से पढ़ने योग्य है— संस्कृत साहित्य में यह शैली एकदम अपरिचित है। मुझे यह बात सन्देहजनक भी मालूम हुई। 'कादम्बरी' और बाणभट्ट की आत्मकथा' की अन्तर रेखाएँ उभरने लगी तो लेखक ने कहा— कादम्बरी में प्रेम की अभिव्यक्ति में एक प्रकार की दृप्त भावना है परन्तु इस कथा में सम्पन्न प्रेम की व्यंजना गूढ़ और अदृप्त भाव से प्रकट हुई है। इन अन्तर-रेखाओं से दो लेखक सामने आ जाते हैं अर्थात् 'कादम्बरी' और बाणभट्ट की आत्मकथा की भाषा-शैली में कुछ ऊपरी साम्य होते हुए भी विशेष अन्तर यह है कि यहाँ जिस 'डायरी —शैली की बात की गई है 'कादम्बरी' में उसका अभाव है। दोनों रचना-शैलियों का यह अन्तर प्राचीनता और नवीनता का अन्तर भी है।

रहस्य का उद्घाटन तो तब होता है जब शैली के ये शब्द सुनायी पड़ते हैं— आत्मकथा के बारे में तूने एक बड़ी गलती की है। तूने उसे अपने कथानुक में इस प्रकार प्रवर्तित किया है मानों वह आटोबायोग्राफी हो। इस वाक्य से भ्रम का निवारण होजाना चाहिये किन्तु दुष्ट-जन की बात' में अनेक बातें संनिहित रहती हैं इसलिये पाठक या श्रोता उनके बिना नहीं रहता। 'आत्मकथा' का सही अभिप्राय शैली के इन शब्दों में व्यक्त हो जाता है— बाणभट्ट की आत्मा शोणनद के प्रत्येक बालुका-कण में वर्तमान है। XX उस आत्मा की आवाज तुझे नहीं सुनाई देती ?" यह व्यक्त सूत्र, यह कौशल लेखक को पाठक के अन्तर में प्रविष्ट करा देता है। वह उसको सराहना किये बिना नहीं रहता।

इस प्रकार कथानुक और उपसंहार से लेखक ने वह काम लिया है जो हर किसी के वश की बात नहीं है। जो चीज उपन्यासों में मिलती ही नहीं उसका समावेश करके इतिकार ने अपनी कृति को अद्भुतता प्रदान की है। बहुत थोड़े से लेखक ऐसे सूत्र का सनिवेश कौशल से कर पाते हैं किन्तु इस कृति में सूत्र में कौशल से बड़ी भारी सहायता ली है। यदि आत्मकथा' को उसके पूर्ण रूप में देखें तो कथानुक' और 'उपसंहार' उनके अभिन्न अंग हैं।

इतिकार की कुशलता का दूसरा प्रमाण कल्पना को इतिहास की भूमिका पर प्रतिष्ठित कर देने में मिलता है। बाणभट्ट के सम्बन्ध में हर्षचरित' में कुछ ही पंक्तियाँ

ता मिलती हैं जिनमें उसके जीवन की बड़ी अपूर्ण रेखाएँ दृष्टिगोचर होती हैं। बाण के जीवन के ऐसे भग्न एवं अपूर्ण चित्र को कल्पना से पूर्ण करना और कल्पना का आभास न होने देना कौशल की बड़ी भारी सफलता है। लेखक ने एक तो थोड़ी सामग्री को ऐसा विस्तार दिया है जैसा एक कुशल धुना थोड़ी सी रुई को धुन कर देता है। कथा के अपूर्ण तन्तुओं को पूर्ण करने के साथ-साथ लेखक ने कथा को फुलाया भी है और इस प्रक्रिया में बाण के नायकत्व को प्रतिष्ठा दी है। इसमें वर्णनों का जो योग है वह तो है ही, किन्तु कल्पना-शक्ति का प्रचित योग है। नये पात्रों की कल्पना ने बाण के जीवन के परिपार्श्वों को विस्तार देकर कथा को परिपुष्ट किया है। यह कला की बड़ी भारी सिद्धि है।

बाण का चरित्र जैसा था वैसा था किन्तु उसका मार्जन करके उसे जो रूप दिया गया है वह एक अनुकरणीय सृष्टि है। बाण एक ऊँचे दर्जे का साहित्यकार है किन्तु उसके चरित्र पर कुछ काले छींटे लगे हुए थे। इतिहास में उनके मार्जन के लिए कहीं अवकाश नहीं था किन्तु उपन्यास की धारा पर भावित चरित्र की आवश्यकता ने आचार्य द्विवेदी के साहित्यकार को जो प्रेरणा दी उसने उनकी दृष्टि को उनके 'प्रिय कवि' बाण पर केन्द्रित कर दिया और उसको निष्कलुष चित्रित करने की क्रिया में उनका आदर्शवाद उनकी सहायता के लिए आ जुटा। इस कार्य ने बाण को प्रकाश दिया उसके समय के वातावरण को चमकाया और वर्तमान समस्याओं को इतिहास की ओट में प्रस्तुत करके उनके हल के संकेत दिये।

इतिहास का अपना मार्ग है और कल्पना का अपना। जब इतिहास कल्पना का सहारा पाने के लिए आतुर हो उठता है तब साहित्य अपने आविर्भाव की चेष्टा करने लगता है। वैसे कल्पना-शक्ति बहुत बड़ी शक्ति है, किन्तु उसके उपयोग के लिए कौशल की आवश्यकता है। कल्पना का सदुपयोग कौशल की बड़ी भारी उपलब्धि है। भट्टिनी और निपुणिका के संसर्ग में कल्पना के उपयोग की बड़ी से बड़ी प्रशस्ति कम होगी। एक ओर लेखक ने हर्ष के साथ बाण के ऐतिहासिक सम्बन्ध की रक्षा की है दूसरी ओर बाण के जीवन में तत्कालीन वातावरण को ऐतिहासिक आधार प्रदान किया है और तीसरी ओर निपुणिका और भट्टिनी के साथ बाण के निर्विकार सम्बन्धों की सृष्टि की है। कल्पना की यह उपलब्धि विस्मयकारिणी है। बाण का ऐतिहासिक स्वभाव खण्डित भी नहीं हुआ और जो बातें उसके चरित्र को कलंकित करती थीं किन्तु इतिहास में उनका पुष्टीकरण नहीं हुआ था वे कल्पना के हाथों से ऐसी उभरी हैं कि उनका रूप ही बदल गया है।

लेखक के हाथ में कथा के कुछ सूत्र इतिहास ने दिये हैं। उनको विस्तार देना प्रत्यक्षतः अति दुष्कर कर्म है किन्तु कवि या साहित्यकार की क्षमता को कल्पना जानती है। 'जहाँ न पहुँचे रवि वहाँ पहुँचे कवि' की उक्ति कल्पना के प्रांगण में ही प्रमाणित होती है। बाणभट्ट की आत्मकथा के लेखक ने ऐतिहासिक सूत्रों को सम्भाई भी दी है और

जोड़ाई भी, उनको आकार भी दिया है और प्रकार भी। इसके लिए लेखक ने कुछ तो कल्पित घटनाओं से सहायता ली है और कुछ वर्णनों से। ऐतिहासिक और कल्पित घटनाओं को वर्णनों में होकर जिस प्रकार व्यापित किया गया है वह कथा के विस्तारों में द्रष्टव्य है।

वर्णनों के सम्बन्ध में ऐसी धारणा बनाली गई है कि वे अन्धानुवाद हैं। उनको अनुवाद कहने में मुझे कुछ आपत्ति नहीं है किन्तु उनको निजान्ध अन्धानुवाद कहकर उनके अपने मूल्य की अवहेलना करना समीचीन न होगा। आत्मकथा के वर्णनों में अधिकांशतः भाव-छाया है और भावों को भी लेखक ने अपने शब्दों में ढाल कर अनूठा सौन्दर्य प्रदान किया है। सम्भवतः केवल भाव-छाया में इतने सौन्दर्य की अर्पणा न होती जितने सौन्दर्य की अर्पणा वर्णनों की उपयुक्त व्यवस्था में आविर्भूत हुई है। वर्णन बड़े-बड़े अवश्य हैं किन्तु भाषा-शैली चमत्कारपूर्ण होने से वे मोहक बन गये हैं। उनके रूप-चित्र कल्पना की आँखों में उतरते चले जाते हैं और पाठक उस दृश्य से सम्मुख होने की स्थिति की प्रतीति करता है। पाठक को इस स्थिति में प्रस्तुत कर देना कला की अद्भुत देन है।

वर्णनों की व्यवस्था में सूक्ष्म गवेषणा का योग अविस्मरणीय है। अनेक ग्रन्थों से वर्णनों का चयन करके उनको उपयुक्त स्थान पर 'फिट' कर देने में अध्ययन चयन और व्यवस्था-कौशल की परिधि प्रशंसनीय है। सोम कहते हैं कि आत्मकथा का लेखक 'छलिया' है। मैं ऐसे छलिया का आदर करता हूँ और मानता हूँ कि कृति के नाम, कथा मूल और उपसंहार में छल से काम लेकर भी उसके छल ने कल्पना को ऐतिहासिक आसन दिया है। यदि इतिहास और कल्पना का प्रणय सिद्ध न होता तो असंभव भी होता किन्तु कौशल ने इस सम्बन्ध का अविरल निर्वाह किया है।

बाणभट्ट के सम्बन्ध में जो कुछ मिला है उसको इस ऐतिहासिक उपन्यास में अधिक महत्त्व नहीं दे सकते किन्तु इन उपन्यासों में लेखक ने अपने मूल्य के जो दीप जलाये हैं उनसे वे प्राणवान् हो गये हैं। ऐतिहासिक उपन्यासों और कथा-प्रकाश का ऐसा अटूट सम्बन्ध दिखाने का चेष्टा बहुत से साहित्यकारों ने की है किन्तु सफलता बहुत कम को मिली है। इनमें विशेष उल्लेखनीय 'प्रसाद' और द्विवेदी जी ही हैं। 'प्रसाद' का क्षेत्र नाटक होने से उनमें शैली और वर्णनों को इतना स्वाधीनता नहीं मिल सकी जितनी द्विवेदी जी को 'आत्म कथा' में। 'आत्मकथा' के कथोपकथन भी मार्मिक हैं और वर्णन भी। वैसे द्विवेदी जी ने अपने अधिकार का विसर्जन भी किया है किन्तु छल की आड़ में। यहाँ इतिहास के अधिकार का वह त्याग नहीं है जो प्रसाद के नाटकों में नाटककार के अधिकार का। फिर भी द्विवेदी जी ने बाणभट्ट के मुख में रख कर अपने नयी भावों और उद्गारों को व्यक्त कर दिया है। इन उद्गारों की विशेषता भविष्य के मार्ग को चमकाने की भावना में निहित है।

इस कृति की छाया में वैष्णव धर्म की शीतल नि:श्वासों की अवधारणा बड़ी सरलता से हो सकती है। इसमें लेखक की निष्ठा का दर्शन किया जा सकता है। आचार्य द्विवेदी सब धर्मों का आदर करते हैं, इसका परिचय इस कृति में स्थान-स्थान पर मिल रहा है। हर्ष की धार्मिक आस्था भी इसी प्रकार की थी। वैष्णव धर्म के प्रचार को सामने लाकर द्विवेदी जी ने उसके इतिहास पर भी प्रकाश डाला है और अपनी धार्मिक प्रवृत्ति का प्रकाशन भी किया है। इतर धर्मों का वर्णन करके लेखक ने ऐतिहासिक वातावरण प्रस्तुत किया है और महामाया तथा अघोर भैरव आदि के प्रति आदर व्यक्त करके धार्मिक सहिष्णुता और आदर भावना भी व्यक्त की है किन्तु निपुणिका भट्टिनी सुचरिता आदि के सम्बन्ध से जिस उपासना-पद्धति का प्रवर्तन किया है उसमें लेखक की आस्था की अभिव्यंजना स्पष्ट है किन्तु इस कार्य में कहीं भी धार्मिक आग्रह की गन्ध नहीं है। अतएव यह कार्य भी कौशल-सम्पन्न है।

लेखक शैली को विशेष महत्त्व देता है। चाहे कबीर सूरदास अशोक के फूल आदि को देखिये, चाहे 'बाणभट्ट की आत्मकथा' को अथवा 'चारुचन्द्रलेख' को सभी में शैली की दुन्दुभी बज रही है। भाषा का प्रवाह शब्दों का चयन अलंकारों का प्रयोग और व्यंग्यों की छटा—सभी में द्विवेदीजी का शैलीकार बोल रहा है। वर्णनों की व्यवस्था भी शैली का ही एक रूप है। सामान्यतया द्विवेदीजी अपनी शैली में कहीं भी व्यक्त हो जाते हैं किन्तु बाणभट्ट की आत्मकथा की शैली गजब की है। उनकी कोई कृति आत्मकथा' की शैली का गौरव नहीं पा सकी है। कथासूत्र और उपसंहार की व्यवस्था को भी उनकी शैली से विलग नहीं किया जा सकता। इसके आग्रह की अभिव्यक्ति 'चारुचन्द्रलेख' में भी हुई है।

द्विवेदी जी पुराने ढर्रे के पण्डित नहीं हैं किन्तु संस्कृति के प्रति उनका मोह पुराने पण्डित से किसी कम नहीं है। उन्होंने भारतीय संस्कृति का आलोड़न तो किया ही है शिष्टाचार भी सीखा है। उनकी धार्मिक आस्थाओं में भी संस्कृति की प्रेरणा स्पष्ट है। वे संस्कृति के शुद्ध रूप का आदर करते हैं किन्तु उसके विगलन को स्वीकार करने के लिये कभी तैयार नहीं हैं। वे संस्कृति के उदार क्रोड़ से आचरण की शिष्टता और सुरुचि की परम्परा को आदरपूर्वक ग्रहण करते हैं। इसीलिए उनके लक्ष्य में उच्छृङ्खलों के इतिहास को वर्णन का प्रमुख स्थान है किन्तु अवांछनीय कड़ियों के इतिहास को ध्वस्त करने में भी उनकी सतर्कता दृष्टिगोचर होती है। उनके साहित्यिक लक्ष्य में सांस्कृतिक चेतना का उद्बोधन भी स्पष्ट है। हर्षकालीन वातावरण की सृष्टि में ऐतिहासिक मोह और ज्ञान-प्रकाशन का जो योग है वह तो है ही सांस्कृतिक उद्बोधन की भावना जो अविस्मरणीय है। लेखक ने अनेक प्रसंगों और वर्णनों के माध्यम से पाठक को अनेक विद्याओं और कलाओं का ज्ञान कराने की चेष्टा की है और तत्कालीन जीवन के अनेक पहलुओं का परिचय दिया है। ये सब मोती कुशलता की माला में पिरोये हुए हैं।

राजनीति की सामाजिक कल्याण और देशहित के घाट उतारने में भी तो लेखक ने चमत्कार दिखलाया है। लेखक या कवि अपने समय की परिस्थितियों के प्रति जाग रूक रहता है, वह उनमें हँस-रोकर भी उनके सम्बन्ध में गहन चिन्तन और मनन करता है जिससे कुछ प्रश्नों के उत्तर स्फुरित होते हैं। ऐसे ही उत्तर आचार्य द्विवेदी के मानस में अपने युग की परिस्थितियों के सम्बन्ध में प्रस्फुरित हुए हैं। आचार्य श्री राजनीतिज्ञ न होते हुए भी राजनीति के ज्यादा पहलुओं से परिचित हैं, वे दलदल में न फँसकर भी दलदल से निकलने का मार्ग नहीं जानते हैं। इसलिए उनकी प्रवृत्ति राजनीति से आगत की ही रही है। फिर भी उन्होंने देश की परिस्थितियों को खुली आँखों से देखा है और अपने तुम्हारों को आत्मकथा में समाहित किया है। आज का राजनीतिज्ञ स्वार्थ की भूमि पर विचरण करता है वह समाज-कल्याण की चर्चा स्वार्थ-साधना के रूप में ही करता है। आचार्य द्विवेदी स्वार्थ और कल्याण में निकट का सम्बन्ध मानने के लिए तैयार नहीं हैं। राजा को अपने स्वार्थ त्यागने पड़ते हैं और प्रजा को अपने स्वार्थ। जब दोनों के स्वार्थ का समझौता होजाता है तभी देश-हित की भावना का उज्ज्वल प्रकाश होता है। विदेशी आक्रमण होते रहते हैं और लोग देखते रहते हैं। वे वैतनिक सैनिकों से अपनी रक्षा की कामना करते हैं। देश रक्षा सम्मिलित प्रयत्नों से सिद्ध होती है। कोई वर्ग विशेष देश रक्षा नहीं कर सकता। देश रक्षा में नर-नारी दोनों का समान योग होना चाहिये। नारियाँ आपद-काल में जनता को उद्बुद्ध कर सकती हैं अथवा प्रचार-कार्य कर सकती हैं। महामाया ने तटस्थ भावना की अवस्था में भी उद्बोधन का भार वहन किया है।

यह सब कार्य बाणभट्ट की आत्मकथा के लेखक ने बड़ी चतुराई से सम्पन्न किया करवाया है। लेखक की यह कुशलता, यह चतुरता साहित्य-क्षेत्र में अनुकरणीय है। कभी ऐसा लगता है कि लेखक डूब रहा है और कभी लगता है कि वह आगरूक है। लेखक की ये दोनों स्थितियाँ जादू का असर करने वाली हैं। पाठक लेखक के चमत्कार पर विचार करता रह जाता है और उनकी साहित्यिक विलक्षणता से कभी-कभी खो भी जाता है।

उपसंहार

समग्र रचना पढ़ लेने पर पाठक बड़े उत्साह और चाव से यह कह सकता है कि 'बाणभट्ट की आत्मकथा' एक विलक्षण उपन्यास है किन्तु उसके सामने एक प्रश्न और भी तो आता है और वह यह कि यह कृति क्या नहीं है ? रोमांस, कहानी उपन्यास आत्मकथा इतिहास, काव्य, वर्णन, चरित्र-वर्णन आदि सभी का आस्वाद तो इसमें मिलता है। यह एक ऐसी प्रेम-कहानी है जिसमें 'प्रेम' ने अपनी आदर्श ऊँचाई का अविरल निर्वाह किया है यह एक ऐसा 'उपन्यास' है जिसमें आत्मकथा की कला विस्मयकारिणी है और यह एक ऐसा वर्णन-कोष है जिसमें धर्म संस्कृति नीति और सामाजिक वातावरण ने ऐतिहासिक पृष्ठभूमि प्राप्त की है।

इसे 'रोमांटिक उपन्यास' या 'औपन्यासिक रोमांस' कहने में कोई आपत्ति की बात दिखाई नहीं देती है, किन्तु यह आंचलिक उपन्यास कदापि नहीं है। लेखक की अनेक अनुभूतियों का प्रसव 'अ चल' के गर्भ से होने के कारण उनमें आंचलिक मोह की मधुर मनगढ़ाई का आभास मिल सकता है आंचलिकता की प्रवृत्ति नहीं है। प्रवृत्ति के रूप में आंचलिकता भय से मुक्त नहीं है। आत्मकथा का लेखक इस प्रवृत्ति से सर्वथा मुक्त है। अनुभूतियों के तल में जितना आंचलिक वातावरण सुखद प्रसारित कर सकता था वहाँ उतना ही समाविष्ट हुआ है।

यह कृति 'व्यक्तिवाद' से अभिभूत है। कथानायक बाणभट्ट स्वतन्त्र प्रकृति का व्यक्ति होते हुए भी स्वेच्छाचारी नहीं है। स्वतन्त्रता से आदर्श सुरक्षित रह सकता है किन्तु स्वेच्छाचारिता से उसका विघटन हुए बिना नहीं रह सकता। 'व्यक्तिवाद' स्वेच्छाचारिता की भूमि पर पल्लवित होता है। बाणभट्ट आदि किसी प्रमुख पात्र के चरित्र में स्वेच्छाचारिता की तनिक भी गंध नहीं है। मनोविज्ञान का जो यथातथ्य इस कृति को मिला है वह 'व्यक्तिवाद' से कोसों दूर है।

कला के दो स्वरूप होते हैं—अभिव्यक्ति और प्रदर्शन। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' कला का प्रदर्शन नहीं है अभिव्यक्ति मात्र है। वर्णनों में प्रदर्शन की गंध आ सकती है किन्तु वे कृति के नाम को सार्थक करने के लिए आवश्यक थे पाठकों का विश्वास प्राप्त करने के लिए वे अपेक्षित थे। 'आत्मकथा' की भूमिका में जिन तत्त्वों की आवश्यकता थी उनमें से 'वर्णन' भी थे। अतएव वर्णन वर्णन के लिए नहीं है अपनी उपयोगिता रखते हैं। शब्द-संचयन और वाक्य-विन्यास में भी आवश्यकता की ही प्रेरणा है।

'बाणभट्ट की आत्मकथा' एक सुन्दर साहित्यिक प्रयोग है किन्तु प्रयोगवादी रचना नहीं है। लेखक की प्रयोगात्मक प्रवृत्ति के पीछे जीवन के आदर्श और संस्कार हैं, ऐतिहासिक व्याख्याएँ और दार्शनिक मान्यताएँ हैं, साहित्यिक आधार है तथा मर्यादा के कलेवर में प्राचीनता के आग्रह की पुष्टता है जिससे तथाकथित प्रयोगवाद समर्थित नहीं होता।

'बाणभट्ट की आत्मकथा' एक गद्य रचना है, फिर भी वह काव्य के अनेक गुणों से सम्पन्न है। जो रचना पाठक के अन्तर में सरस भावों की सृष्टि कर दे, पाठक के मन को तरंगित अपने वश में करने, वह गद्य होते हुए भी काव्य की अभिधा पाने का अधिकार रखती है। यथार्थ में उसे 'काव्य' भले ही न कहा जाये, किन्तु उसकी सम्पत्ति की उपेक्षा नहीं की जा सकती। जिस प्रकार गद्य में काव्य के गुण हो सकते हैं, उसी प्रकार पद्य में भी गद्य के भी 'संस्कार' हो सकते हैं। 'आत्मकथा' की भाषा गद्य है, फिर भी काव्य-गुणों से सरस बनी हुई है। इस रचना के कितने ही वर्णनों को 'गद्य-काव्य' की कोटि में प्रशस्त किया जा सकता है। एक उदाहरण देखिये—

'इस एकता और सुकुमारता के जगत् को सुन्दर क्यों नहीं बना देती + + + + + + + करुणा के अश्रु से सिक्त मनोहर दृष्टि जो अन्तःकरण को मोहित कर डालती है—वही तो भुवनमोहिनी का रूप है।

ऐसे ही बहुत से उदाहरणों से 'आत्मकथा' को काव्य-गुणों से सम्पन्न सिद्ध किया जा सकता है।

सामान्यतया यह माना जाता है कि वर्णनों की प्रचुरता किसी भी प्रबन्ध-रचना के कथा-प्रवाह को अवरुद्ध कर देती है। बाणभट्ट की आत्मकथा में भी वर्णनों का प्राचुर्य है। पाठक को जल्दी-जल्दी एक वर्णन से दूसरे वर्णन में प्रवेश करना पड़ता है, किन्तु वर्णन-सरसता उसे उलझने नहीं देती। बाणभट्ट की कृति सिद्ध करने के लिए कथा में वाह्य या वर्णन प्राचुर्य और शब्द-संचयन एवं संग्रहण आवश्यक था। इसलिए कृति की सफलता और लक्ष्य की सार्थकता में वर्णनों के योग का भुलाया नहीं जा सकता है।

इसमें सन्देह नहीं है कि 'प्रेम' मानव जीवन का प्रमुख तत्त्व है। उसके अनेक रूप हैं—उदात्त और कलुषित। प्रेम का जो रूप समाज के कल्याण का साधन हो वह उदात्त एवं निर्मल होता है और जो समाज को पतनोन्मुख करता है वह विगलित या कलुषित होता है। काव्य प्रेम की धरा पर अनेक रचनाएँ अपना रूप सँवार रही हैं, किन्तु उन सबमें कल्याणकारी प्रेम नहीं है। अनेक रचनाएँ वासना की दुर्गन्ध से ओतप्रोत हैं। उनमें व्यक्ति-विशेष के प्रेम का प्रकृत रूप विलोड़ित हो सकता है, किन्तु वह समाज का साध्य नहीं है। कलुषित प्रेम में समाज केवल पंक पाता है। प्रकृत प्रेम व्यक्ति को मानव तरंग हो सकता है, किन्तु वह समाज के उद्धार का पथ नहीं है। मदन की सीमाओं में ही आदर्श का रूप निर्मित होता है। उसी में कल्याण की जीवनी मिलती है। बाणभट्ट की आत्मकथा में मदन और वासना प्रेम की प्रतिष्ठा की गई है। वासना और विगलित प्रेम कथा के परदे में प्रविष्ट नहीं होपाया है। यदि वह किसी अवसर में प्रविष्ट रहा हो तो पाठक को उसकी चिन्ता नहीं रही है। प्रेम के इस स्वरूप ने प्रेम-मर्यादा के इस आदर्श ने इस कृति को 'कल्याण विशेषांक' तथा 'प्रेमांक-काव्य' बना दिया है। दूध के इस कलावरण में प्रकृति और निवृत्ति का यह मणि-काञ्चन-योग साहित्य में दुर्लभ है।

उपसंहार

समग्र रचना पढ़ लेने पर पाठक बड़े उत्साह और चाव से यह कह सकता है कि 'बाणभट्ट की आत्मकथा' एक विलक्षण उपन्यास है किन्तु उसके सामने एक प्रश्न और भी तो आता है और वह यह कि यह कृति क्या नहीं है ? रोमांस, कहानी, उपन्यास आत्मकथा, इतिहास, काव्य, वर्णन, चरित्र-वर्णन आदि सभी का आस्वाद तो इसमें मिलता है। यह एक ऐसी प्रेम-कहानी है जिसमें 'प्रेम' ने अपनी आदर्श ऊँचाई का अनि रस निर्वाह किया है यह एक ऐसा उपन्यास है जिसमें आत्मकथा की कला विस्मय कारिणी है और यह एक ऐसा वर्णन-कोष है जिसमें धर्म संस्कृति नीति और सामाजिक वातावरण ने ऐतिहासिक पृष्ठभूमि प्राप्त की है।

इसे रोमांटिक उपन्यास' या 'औपन्यासिक रोमांस' कहने में कोई आपत्ति की बात दिखाई नहीं देती है किन्तु यह आंचलिक उपन्यास कदापि नहीं है। लेखक की अनेक अनुभूतियों का प्रसव 'अ चल' के गर्भ से होने के कारण उनमें आंचलिक मोह की मधुर अ गड़ाई का आभास मिल सकता है आंचलिकता की प्रवृत्ति नहीं है। प्रवृत्ति के रूप में आंचलिकता भय से मुक्त नहीं है। आत्मकथा का लेखक इस प्रवृत्ति से सर्वथा मुक्त है। अनुभूतियों के तल में जितना आंचलिक वातावरण सुगम प्रसारित कर सकता था वहाँ उतना ही समाविष्ट हुआ है।

यह कृति 'व्यक्तिवाद' से असम्पृक्त है। कथानायक बाणभट्ट स्वतन्त्र प्रकृति का व्यक्ति होते हुए भी स्वेच्छाचारी नहीं है। स्वतन्त्रता से आदर्श सुरक्षित रह सकता है किन्तु स्वेच्छाचारिता से उसका विनाश हुए बिना नहीं रह सकता। 'व्यक्तिवाद' वस्तुतः स्वेच्छाचारिता की भूमि पर पल्लवित होता है। बाणभट्ट आदि किसी प्रमुख पात्र के चरित्र में स्वेच्छाचारिता की तनिक भी गंध नहीं है। मनोविज्ञान का जो धरातल इस कृति को मिला है वह 'व्यक्तिवाद' से कोसों दूर है।

कला के दो स्वरूप होते हैं—अभिव्यक्ति और प्रदर्शन। बाणभट्ट की आत्मकथा' कला का प्रदर्शन नहीं है अभिव्यक्ति मात्र है। वर्णनों में प्रदर्शन की गंध आ सकती है किन्तु वे कृति के नाम को सार्थक करने के लिए आवश्यक थे, पाठकों का विश्वास प्राप्त करने के लिए वे अपेक्षित थे। 'आत्मकथा' की भूमिका में जिन तत्वों की आवश्यकता थी उनमें से वर्णन' भी थे। अतएव वर्णन, वर्णन के लिए नहीं है, अपनी उपयोगिता रखते हैं। शब्द-संचयन और वाक्य-विन्यास में भी आवश्यकता की ही प्रेरणा है।

'बाणभट्ट की आत्मकथा' एक सुन्दर साहित्यिक प्रयोग है किन्तु प्रयोगवादी रचना नहीं है। लेखक की प्रयोगात्मक प्रवृत्ति के पीछे जीवन के आदर्श और संस्कार हैं, ऐतिहासिक स्थितियाँ और दार्शनिक मान्यताएँ हैं, साहित्यिक आधार है तथा नवीनता के कलेवर में प्राचीनता के आग्रह की पृष्ठभूमि है जिससे तथाकथित प्रयोगवाद समर्थित नहीं होता।

'बाणभट्ट की आत्मकथा' एक गद्य-रचना है, फिर भी वह काव्य के अनेक गुणों से सम्पन्न है। जो रचना पाठक के अन्तर में तरल भावों को सृष्टि कर दे, पाठक के मन को तत्काल अपने वश में करले, वह गद्य होते हुए भी काव्य की अभिधा पाने का अधिकार रखती है। स्वभाव में उसे 'काव्य' भले ही न कहा जाये, किन्तु उसकी सम्पत्ति की उपेक्षा नहीं की जा सकती। जिस प्रकार गद्य में काव्य के गुण हो सकते हैं, उसी प्रकार पद्य में भी गद्य के सभी 'संस्कार' हो सकते हैं। आत्मकथा की भाषा गद्य है, फिर भी काव्य-गुणों से सरस बनी हुई है। इस रचना के कितने ही वर्णनों को 'गद्य-काव्य' की कोटि में प्रशस्त किया जा सकता है। एक उदाहरण देखिये—

'इस घृणा और जुगुप्सा के जगत् का सुन्दर क्यों नहीं बना दती + + + + +++ करुणा के अश्रु से सिक्त मनोहर दृष्टि जो अन्त करण को मोहित कर डालती है—यही तो भुवनमोहिनी का रूप है।

ऐसे ही बहुत से उदाहरणों से आत्मकथा को काव्य-गुणों से सम्पन्न सिद्ध किया जा सकता है।

सामान्यतया यह माना जाता है कि वर्णनों का प्रचुरता किसी भी प्रबन्ध-रचना के कथा-प्रवाह को अवरुद्ध कर देती है। बाणभट्ट की आत्मकथा में भी वर्णनों का प्राचुर्य है। पाठक को जल्दी-जल्दी एक वर्णन से दूसरे वर्णन में प्रवेश करना पड़ता है, किन्तु वर्णन-सरसता उसे ऊबने नहीं देती। बाणभट्ट की कृति सिद्ध करने के लिए कथा में आये हुए वर्णन प्राचुर्य और गद्य-लेखन एवं संयोजन आवश्यक था। इसलिए कृति की सफलता और नाम की सार्थकता में वर्णनों के योग को भुलाया नहीं जा सकता है।

इसमें सन्देह नहीं है कि 'प्रेम' मानव जीवन का प्रमुख तत्त्व है। उसके अनेक रूप हैं—उज्ज्वल और कलुषित। प्रेम का जो रूप समाज के कल्याण का साधन हो वह उज्ज्वल एवं निर्मल होता है और जो समाज को पतनोन्मुख करता है वह विमलित या कलुषित होता है। आज प्रेम की पटा पर अनेक रचनाएँ अपना रूप सँवार रही हैं, किन्तु उन सबमें कल्याणकारी प्रेम नहीं है। अनेक रचनाएँ वासना की दुर्गन्ध से ओतप्रोत हैं। उनमें व्यक्ति-विशेष के प्रेम का प्रकृत रूप विनिविष्ट हो सकता है, किन्तु वह समाज का साध्य नहीं है। कलुषित प्रेम में समाज केवल फँस सकता है। प्रकृत प्रेम व्यक्ति की धन्य तरंग हो सकता है, किन्तु वह समाज के उद्धार का पथ नहीं है। मदन की सीमाओं में ही आदर्श का रूप निर्मित होता है। उसी में कल्याण की भावना निहित है। बाणभट्ट की आत्मकथा में संयत और शान्त प्रेम की प्रतिष्ठा की गई है। अनंगत और विमलित प्रेम कथा के पन्नों में प्रविष्ट नहीं हो पाया है। यदि वह किसी कथा में अंकित हुआ हो तो पाठक को उसकी चिन्ता भी नहीं है। प्रेम के इस स्वरूप ने प्रेम-सर्वस्व के इस आदर्श ने इस कृति को 'कल्याण-शिरोमणि' तथा 'रोमांस-काव्य' बना दिया है। कुल मिलाकर वातावरण में स्फूर्ति और निवृत्ति का यह मधुर-कान्त-पेशल साहित्य में दुर्लभ है।